स्त्री-गद्य-लेखन का नारीवादी अध्ययन

(1920 ई. से 1950 ई. तक)

Stree-gadya-lekhan ka narivadi adhyayan

(1920 AD se 1950 AD tak)

"A feminist study of women's prose writing"

(Form 1920 to 1950 AD)

(पीएच. डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध - प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी
आरती यादव

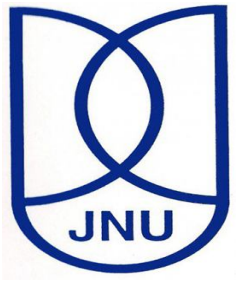

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली -110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली – 110067, भारत New Delhi - 110067, India.

Date: 29/07/2018

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled **"Stree-Gadya-Lekhan Ka Narivadi Adhyayan (1920 AD SE 1950 AD)" (A Feminist Study of Women's Prose Writing (From 1920 to 1950 AD)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Arati Yadav
ARATI YADAV
(Research Scholar)

Dr. Raman Prasad Sinha
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Govind Prasad
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

विषय सूची

क्रमांक संख्या		**पृष्ठ संख्या**
भूमिका		i-xii
प्रथम अध्याय	तत्कालीन सामाजिक-राजनितिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री-प्रश्न	1-55
द्वितीय अध्याय	स्त्री-प्रश्न का वैचारिक परिप्रेक्ष्य	56-103
तृतीय अध्याय	स्त्री-गद्य-लेखन का स्वरुप	104-221
चतुर्थ अध्याय	स्त्री पत्रकारिता का नारीवादी स्वरुप	222-282
पंचम अध्याय	स्त्री-गद्य-लेखन का शिल्प	283-315
उपसंहार		316-328
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची		329-336

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण और बीसवीं शताब्दी के स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान स्त्री-प्रश्न विशेष विचार-विमर्श का मुद्दा बना रहा| इस दौर में भारतीय स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं में सुधार का प्रयास सर्वप्रथम भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया| स्त्रियों से सम्बन्धित जिन समस्याओं में सुधार का प्रयास किया गया उनमें- सती प्रथा, स्त्री-शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, बाल-विवाह, वेश्योद्धार, पर्दा-प्रथा, मृत्स्त्रीक विवाह इत्यादि समस्याएं विशेष रूप से उल्लेखनीय था| स्त्रियों के समस्याओं में प्रारम्भिक सुधार का प्रयास पुरुष समाज सुधारकों द्वारा किया गया| उन्नीसवीं शताब्दी में राजाराममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर तथा दयानंद सरस्वती इत्यादि समाज सुधारकों के नेतृत्व में समाज सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ| उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में समाज सुधार आन्दोलन के केंद्र में महिला नेत्रियों का आगमन होता है| संयुक्त प्रान्त में समाज सुधार आन्दोलन विशेष रूप से दयानंद के विचारों से प्रभावित था|

हिंदी-क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में महिला उद्धार की कोशिश पुरुषों द्वारा ही किया गया| हिंदी में महिला आन्दोलन का सम्बन्ध पुरुषों द्वारा चलाए गए स्त्री उद्धार से न होकर महिलाओं द्वारा चलाए गए महिला आन्दोलन से सम्बन्धित था| मेरा शोध-प्रबंध “स्त्री-गद्य-लेखन का नारीवादी अध्ययन” हिंदी के सहित्यिक क्षेत्र में महिलाओं द्वारा लिखे गए साहित्यिक कृतियों, पत्र-पत्रिकाओं के मूल्यांकन से सम्बन्धित है | इस शोध-प्रबंध में विशेष रूप से तीन दशकों -‘१९२० से लेकर १९५० ई. तक की कुछ चुने हुए, स्त्रियों की साहित्यिक कृतियों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ लेखों के आधार पर बीसवीं शताब्दी के दौरान हिंदी-क्षेत्र में स्त्री-प्रश्न की क्या स्थिति थी, इसका मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है|

भारतीय इतिहास में यह दौर राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता-संग्राम का समय था| हिंदी-क्षेत्र में यही वो समय था जब साहित्यिक और राजनैतिक गतिविधियाँ अपने पूरे उफान पर थी| यह दौर

ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन के साथ ही सामाजिक सुधार आन्दोलन का भी दौर था| हिंदी-क्षेत्र में यह वो समय था जब महिलाएं हिंदी के साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी करती है| यह दौर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिहाज से महत्वपूर्ण तो था ही महिला आन्दोलन के सन्दर्भ में भी यह दौर उल्लेखनीय महत्व रखता है|

हिंदी के साहित्यिक और राजनैतिक परिदृश्य में इस दौर का महत्त्व इसलिए भी उल्लेखनीय हो जाता है कि इस समय स्त्रियाँ विभिन्न मोर्चों पर एक साथ सक्रिय थी| महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए स्वतन्त्रता आन्दोलन की बात हो, समाज सुधार आन्दोलन की बात हो या महिला आन्दोलन की बात, महिलाएं एक साथ विभिन्न गतिविधियों में शामिल थी| राजनैतिक रूप से यह दौर विशेष रूप से गाँधी जी द्वारा चलाए गए ब्रिटिश विरोधी अभियान के लिये जाना जाता है | बीसवीं सदी के आरम्भ में महिला संगठन भी अस्तित्व में आ चुका था| इस तरह से देखा जाए तो यह दौर महिलाओं की राजनैतिक सक्रियता को बढ़ावा देकर उनका राजनीतिककारण भी करता है| यह दौर मुख्यत: राष्ट्रवादी गतिविधियों के लिए जाना जाता है, लेकिन स्त्री-प्रश्न की दृष्टि से भी यह दौर विशेष उल्लेखनीय है| हिंदी-क्षेत्र में तो इसी समय महिला आन्दोलन का आगाज होता है| साहित्यिक दृष्टि से भी यह दौर काफी महत्त्वपूर्ण है | हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य में इसी समय काफी संख्या में महिलाएं लेखन कार्य से जुड़ती है तथा अपने लेखन के माध्यम से स्त्रियों की समस्याओं और उनकी भावनाओं को अभिव्यक्त करती है |

१९२०-२२ के दशक में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जब असहयोग आन्दोलन अभियान चलाया जाता है, तब भारी संख्या में महिलाएं इस आन्दोलन में भाग लेती है| ३० और ४० के दशक में सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की सक्रियता विशेष रूप से बढ़ती है, तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी कम होने लगती है| १९४७ ई. में भारत की आजादी मिलने के साथ ही भारत का विभाजन होने के कारण स्त्रियाँ विशेष रूप से प्रभावित होती है| विभाजन में हजारों की संख्या में लोग बेघर होते है और लाखों लोग मारे जाते हैं|

स्वतन्त्रता आन्दोलन का दौर न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय नवजागरण के साथ विशेष रूप से जुड़ा हुआ था, यह दौर भारतीय स्त्रियों की समस्याओं से भी विशेष रूप से सम्बन्धित था| इस दौर के भारतीय इतिहास का मूल्यांकन स्त्री-सम्बन्धी मूल्यांकन के बगैर पूरा नहीं हो सकता है| हिंदी का स्त्रीवाद भी इस दौर की लेखिकाओं और महिला-आन्दोलन की नेत्रियों के मूल्यांकन के बगैर पूरा नहीं हो सकता| इस विषय को आधार बनाकर शोध करने की गुंजाइस अभी भी बनी हुई है, विशेष रूप से हिंदी की उन लखिकाओं पर, जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान विभिन्न मोर्चों पर एक साथ सक्रिय थी| हिंदी के साहित्यिक-क्षेत्र में उस दौर की एकाध हिंदी लेखिकाओं को केंद्र में रखकर विचार-विमर्श तो किया जाता है, एक युग विशेष के सन्दर्भ में स्त्री-लेखन का क्या महत्व था, इसकी तरफ शायद ही ध्यान दिया गया है| उस दौर की लेखिकाओं का व्यक्तिगत मूल्यांकन से हटकर, एक साथ उनकी मूल्यांकन करने की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है| हिंदी की आरम्भिक दौर की लेखिकाओं का व्यक्तिगत मूल्यांकन करने की अपेक्षा एक सम्पूर्ण मूल्यांकन, हिंदी में नारीवादी वैचारिकी को स्थापित करने की दिशा में एक उल्लेखनीय योगदान हो सकता है|

यह जाहिर है कि पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों के नेतृत्व में चल रहा महिला-साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी विमर्शों के आपसी टकराहट के फलस्वरुप अपना आकार ग्रहण कर रहा था| चाहे राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी का सवाल हो या महिलाओं की समस्या के समाधान के सुधार की बात| इसका निर्णय उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी हित के बरक्स ही किया जा रहा था| महिलाओं के संघर्ष की एक बहुआयामी आयाम यह था कि उनका संघर्ष विभिन्न मोर्चों पर जारी था| औपनिवेशिक शासन के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष न केवल साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ था, बल्कि इनका संघर्ष भारतीय सामाजिक प्रथाओं के भी विरोध में लड़ा जा रहा था| बाल विवाह, स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा जैसे विभिन्न मुद्दों पर भारतीय महिलाएं संघर्षरत थी| लेकिन तीस, चालीस और पचास के दशक में महिला साहित्यकार भारतीय कुलीनता प्रेम-विवाह, मैत्री और खासकर स्त्रियों के व्यक्तित्व की लड़ाई अपने साथ लेकर आती हैं|

स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को सिर्फ उपनिवेशवाद के विरोध के संदर्भ में देखने से महिलाओं के स्वतंत्र संघर्ष की अनदेखी होगी| अतः उपनिवेश विरोधी आंदोलन के दौरान उठे महिला-प्रश्न को सैद्धांतिक/विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य में भी देखने की आवश्यकता है| यह विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य उनके लेखक की रचनाशीलता से आता है, जिनमें काफी मात्रा में उनकी साहित्यिक रचनाओं का योगदान है| महिलाओं में आई विचारधारात्मक चेतना को उनकी साहित्यिक रचनाओं में देखा जा सकता है| महिलाओं का संघर्ष इस मायने में पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों से अलग था क्योंकि महिलाएं महिला को सिर्फ सार्वजनिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं देख रही थी बल्कि इसे परिवार के उस दायरे तक लाती है जहां से उनकी अधीनता की शुरुआत होती है| पुरुष समाज सुधारक और साहित्यकार महिलाओं की पारिवारिक समस्याओं को घरेलू क्षेत्र की समस्या बताकर बाहरी तत्वों के हस्तक्षेप से इनकार कर रहे थे| महिलाओं के लिए महिला-प्रश्न में सुधार का मतलब सिर्फ बाहरी या भीतरी सुधार से नहीं रह गया था बल्कि वह अब अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में सुधार की गुंजाइश भी खोजने लगी थी|

हालांकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि महिला लेखन पारंपरिक विचारों से, मूल्यों से अभी तक प्रभावित था| इसका मतलब यह नहीं है कि महिलाएं विचारधारात्मक रूप से कमजोर थी| यह जरूर है कि व्यावहारिक स्वतंत्रता के मामले में या निर्णय लेने के मामले में अभी भी महिलाएं कशमकश की स्थिति में थी| लेकिन वह निर्णय लेने की स्थिति में अब आ चुकी थी| इसीलिए महिलाओं के संघर्ष को एक विचारधारात्मक संदर्भ में परिभाषित करने की जरूरत है ताकि उनके संघर्ष को सही तरह से समझा जा सके| यह इसलिए भी जरूरी है ताकि लेखिकाओं के विचारधारात्मक संघर्ष को, स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को सिर्फ आंदोलन में उनके योगदान के संदर्भ में ही नहीं बल्कि उनके विचारों के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सके| पुरुष समाज सुधारकों के नेतृत्व में चल रहे महिला आंदोलन में पुरुषों की भूमिका एक उद्धारक की थी| उपनिवेश विरोधी आंदोलन में महिलाओं के उद्धार का सवाल ब्रिटिश शासन और उपनिवेश विरोधियों के बीच हुए संघर्ष का परिणाम था| यह संघर्ष सिर्फ राजनीतिक सत्ता के बरक्स ही नहीं लड़ा जा रहा था, यह

संघर्ष सांस्कृतिक-सामाजिक पहचान के बरक्स भी लड़ा जा रहा था| यह संघर्ष पश्चिमी और पूर्वी, भारतीय और यूरोपीय सांस्कृतिक पहचान की भी एक लड़ाई के रूप में सामने आता है| भारतीय संदर्भ में इस पहचान की आधारशिला भारतीय महिलाएं बनती है| महिलाएं यहां सांस्कृतिक पहचान के रूप में सामने आती हैं|

हिंदी-साहित्य में नारीवादी सैद्धांतिकी की क्या स्थिति है, इस सवाल के जबाव में अधिकांश आलोचकों का यही मानना है कि आज भी हिंदी स्त्रीवाद अपनी सैद्धांतिकी विकसित नहीं कर पाया है; हिंदी नारीवाद अभी भी अपने बनने बिगड़ने की प्रक्रिया से गुजर रहा है| इसकी स्थिति अभी भी संतोषजनक देखने को नहीं मिलती है| इस स्थिति के पीछे क्या कारण हो सकता है? अपने विभिन्न रूपों और सन्दर्भों में स्थापित होने के बावजूद हिंदी में 'स्त्री-विमर्श' की स्थिति इतनी कमजोर क्यों है? इस सवाल के जवाब में अधिकांश आलोचक और साहित्यकार यह मानते है कि आज भी हिंदी का नारीवाद पश्चिमी नारीवाद पर ज्यादा निर्भर है| भारतीय नारीवाद को पश्चिमी नारीवाद से अलग करने के लिए हिंदी के अधिकांश आलोचक/साहित्यकार भारतीय नारीवाद और पश्चिमी नारीवाद को अलग-अलग होने का हवाला देते है| यहाँ तक कि कुछ आलोचक तो भारतीय नारीवाद को पश्चिमी नारीवाद का नक़ल-मात्र मानते है, यह स्थिति उन आलोचकों की है जो स्वयं ही पश्चिमी विचारधारा के आलोक में हिंदी साहित्य का मूल्यांकन करते रहे है| हिंदी के जो मार्क्सवादी साहित्यकार पश्चिमी विचारधारा से अपने आलोचनात्मक विचारधारा को विकसित किये हुए है, वो भी हिंदी के नारीवाद को पश्चिमी नारीवाद का नकल बताने से नहीं चुकते|

हिंदी के इस वैचारिक दरिद्रता को कैसे कम किया जाए? नारीवादी विमर्शकारों का यह मानना है कि सबसे पहले तो हमें स्त्री-लेखन को तथा उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाने की जरूरत है, ताकि हम स्त्री-लेखन के जरिये स्त्रियों की समस्याओं के साथ ही उनके वैचारिकी को भी समझ सकें|| दूसरी, समस्या यह है कि प्राप्त स्त्री-लेखन को मूल्यांकन के दायरे में नहीं लाने के कारण स्त्री-विमर्श अभी भी अपने ठोस रूप में स्थापित नहीं हो पाया है| अत: हिंदी साहित्य में नारीवादी सैद्धांतिकी को विकसित करने के लिए स्त्री-लेखन को साहित्यिक क्षेत्र

में प्रतिष्ठित करने की जरूरत है| हिंदी स्त्रीवाद की विचारधारात्मक अवधारणा का विकास तभी सम्भव होगा, जब आरम्भिक हिंदी साहित्य में उपलब्ध स्त्री-लेखन को गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श का विषय बनाया जाय |

हिंदी नारीवाद की दूसरी समस्या यह है कि विचारकों द्वारा स्त्री-लेखन के प्रति एक तरह की तटस्थता की स्थिति बनी हुई है| हिंदी में स्त्रीवादी मूल्यांकन का हाल यह है कि जो उपलब्ध साहित्यिक कृतियाँ है उसको एक तो अलबत्ता पाठयक्रमों में शामिल नहीं किया जाता, दूसरा स्वयं नारीवादी ही उसकी नोट्स लेने की ज़रूरत महसूस नहीं करती| साथ ही हिंदी के कुछ विद्वान तथा आलोचक साहित्य में किसी भी विमर्शवादी विचारों के होने से इंकार करते हैं| इन सारी परिस्थितियों ने आरम्भिक हिंदी लेखिकाओं पर विचार विमर्श करने के लिए प्रेरित किया| हिंदी स्त्रीवाद की विचारधारात्मक अवधारणा का विकास तभी सम्भव होगा जब आरम्भिक हिंदी साहित्य में उपलब्ध स्त्री-लेखन को, भारतीय सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण किया जाए| स्त्री-लेखन का मूल्यांकन पितृसत्ता को समझने के लिए भी जरूरी है| पितृसत्ता का सम्बन्ध पुरुष वर्चस्व के साथ ही नहीं जुड़ा हुआ है इसकी जड़े हमारे समाज और संस्कृति में गहरे रूप से जुड़ी हुई हैं|

इस शोध-प्रबंध में मुख्यत: पांच अध्याय हैं, जिसमें बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हिंदी लेखिकाओं का अध्ययन किया गया है| एक तरह से इस शोध-प्रबंध में एक युग विशेष का मूल्यांकन स्त्री-लेखन के आधार पर करने का प्रयास किया गया है, तो दूसरी तरफ एक युग के आधार पर स्त्री-लेखन का मूल्यांकन किया गया है| इस मूल्यांकन के केंद्र में उस दौर में उठे स्त्री-प्रश्न को लिया गया है| उन्नीसवीं सदी का भारतीय नवजागरण और बीसवीं शताब्दी के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का सम्बन्ध जितना ब्रिटिश प्रशासकों के साथ जुड़ा हुआ था, उतना ही यह दौर स्त्री-प्रश्न से भी जुड़ा हुआ था|

इस दौर के समाज सुधारकों द्वारा स्त्रियों की समस्याओं में सुधार करने का प्रयास किया जा रहा था, उसकी मूल वजह क्या थी? साहित्यकारों द्वारा स्त्री-शिक्षा का घरेलूकरण क्यों किया जा रहा था? क्या स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की समस्या पर स्त्रियों का दृष्टिकोण वैसा ही

था जैसा कि पुरुष समाज सुधारकों का? क्या स्त्री-प्रश्न को पश्चिमी भौतिकवादी दृष्टि और भारतीय अध्यात्मिक दृष्टिकोण के फर्क के रूप में ही देखा जाना चाहिए जैसा कि देखा जाता रहा है या इस दौर के स्त्री-प्रश्न को पुरुष वर्चस्ववादी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाना अपेक्षित होगा?

आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्रियों की रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध से मिलना प्रारम्भ हो जाता है| यह शोध-प्रबंध बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखित स्त्री-लेखन का नारीवादी अध्ययन के क्षेत्र में बहुत ही संक्षिप्त और व्याख्यात्मक मूल्यांकन का प्रयास है| तीन दशकों के (१९२० से १९५०) स्त्री-लेखन को अध्ययन के दायरे में शामिल करना आसन तो हो सकता है लेकिन इसका मूल्यांकन करना उतना ही कठिन कार्य है| अत: इस अध्ययन के दायरे में बहुत ही कम बातें आ सकी हैं| इसमें विशेष रूप से महिलाओं के उन संघर्षों को अध्ययन का विषय बनाया गया है, जिसमें स्त्री-प्रश्न के सम्बन्ध में महिलाओं और पुरुषों की चिंताएं उभर कर सामने आई हैं| साथ ही स्वतन्त्रता संग्राम में महिलाओं की साहसपूर्ण भागीदारी पर भी ध्यान केंद्रित किया गया है| इसमें स्वतन्त्रता-आन्दोलन में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी को भी स्त्री-चेतना के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया गया है| इस शोध-प्रबंध में विशेषरूप से उन लेखिकाओं को अध्ययन के दायरे में लाने का प्रयास किया गया है, जिन्हें हिंदी साहित्य में शायद ही याद किया जाता है|

इस तरह के विषय को आधार बनाकर शोध करना बहुत ही चुनौती भरा काम है| क्योंकि एक तो स्त्री-लेखन अभी भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है| दूसरा जो उपलब्ध भी है, वह पर्याप्त रूप से व्यवस्थित नहीं है| हिंदी साहित्यिक-क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काफी संख्या में महिलाएं लेखन के क्षेत्र में आती है| लेकिन हिंदी के आलोचक ही नहीं हिंदी में स्त्रीवादी कही जाने वाली लेखिकाएं भी हिंदी नारीवाद के सन्दर्भ में उनका मूल्यांकन नहीं करती है| उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्त्री-प्रश्न से सम्बन्धित बहुत से संगठनों और संस्थाओं का निर्माण होता है; स्त्रियों से सम्बन्धित

समस्याओं पर बहुत से विचारात्मक और साहित्यिक रचनाएँ प्रकाश में आती है लेकिन एक सम्पूर्ण मूल्यांकन की गुंजाइस अभी भी बनी हुई है|

इस शोध-प्रबंध का पहला अध्याय 'तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री-प्रश्न' में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान उठे महिला-प्रश्न से सम्बन्धित समस्याओं का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है| उन्नीसवीं सदी में राजाराममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर इत्यादि के नेतृत्व में उठे 'स्त्री-प्रश्न' का मूल्यांकन नारीवादी वैचारिकी के परिप्रेक्ष्य में किस तरह का रूप अख्तियार करता है? हिंदी क्षेत्र में दयानंद सरस्वती द्वारा भारतीय समस्याओं के पुनर्मूल्यांकन पर आधारित 'सत्यार्थ प्रकाश' और भारतेंदु हरिश्चंद, प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि सयुक्त-प्रान्त के साहित्यकारों का 'स्त्री-प्रश्न' के सन्दर्भ में क्या योगदान था? हिंदी-क्षेत्र में स्त्री-चेतना की शुरूवात और विकास की दृष्टि से इनके महत्व का मूल्यांकन किस तरह से किया जाए? 'स्त्री-प्रश्न' की आधारशिला के निर्माण के सम्बन्ध में इनकी क्या स्थिति थी इत्यादि प्रश्नों के आलोक में महिला प्रश्न का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है| हिंदी में स्त्री-चेतना के निर्माण में तथा स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को विकसित करने में हिंदी क्षेत्र के साहित्यकारों और समाज सुधारकों की तथा हिंदी की लेखिकाओं और महिला नेत्रियों में क्या और किस तरह का बुनियादी फर्क देखने को मिलता है, यह देखने का प्रयास इस शोध-प्रबंध में किया गया है|

दूसरा, यह कि उन्नीसवीं शताब्दी में जैसा कि अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि जिस तरह से उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री-प्रश्न समाज सुधारकों के बीच प्रमुख और उल्लेखनीय प्रश्न बना हुआ था, राष्टवाद के युग में; स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय स्त्री-प्रश्न उस तरह से प्रमुख और उल्लेखनीय नहीं रहा| इतिहासकारों की इस चिंता को स्त्री-प्रश्न पर विचार करने वाले इतिहासकार किस तरह से देखते है ? राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न का महत्व कम हो जाने की इस व्याख्या को क्या पूरे भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है? क्या यह स्थिति हिंदी क्षेत्र में भी लागू होती है? क्या हिंदी-क्षेत्र में उठे स्त्री-प्रश्न की महत्ता और गिरावट की व्याख्या राष्ट्रवाद के युग में कम होते हुए महिला-प्रश्न के सन्दर्भ में किया जा सकता है?

राष्ट्रवाद के युग में हिंदी-क्षेत्र में महिला-प्रश्न की क्या स्थिति थी? बीसवीं शताब्दी के दौरान उठे महिला-प्रश्न का सम्बन्ध क्या सिर्फ साम्राज्यवादी विचारधारा के सम्बन्ध में ही देखा जाना चाहिए? हिंदी-क्षेत्र में स्त्रियों के नेतृत्व में उठे महिला-आन्दोलन की व्याख्या क्या सिर्फ राष्टवादी परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है या पितृसत्तात्मक मूल्यों के विरोध या पोषण के सम्बन्ध में भी इसका मूल्यांकन किया जा सकता है? स्त्री-प्रश्न का सम्बन्ध क्या सिर्फ राष्ट्रवादी गतिविधियों से था या नारीवादी वैचारिकी से भी इसका कुछ सम्बन्ध था? इन प्रश्नों के आलोक में दूसरे अध्याय- 'स्त्री-प्रश्न का वैचारिक परिप्रेक्ष्य' में अध्ययन करने का प्रयास किया गया है|

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी-क्षेत्र में स्त्री-लेखन की क्या स्थिति थी? स्वतन्त्रता आन्दोलन के बढ़ते हुए प्रभाव के इस युग में महिला आन्दोलन की नेत्रियां और हिंदी की लेखिकाएं स्वतन्त्रता आन्दोलन और स्त्री-चेतना के विकास में किस तरह से तालमेल बैठकर खुद को स्थापित कर रही थी? हिंदी की लेखिकाएं परम्परावादियों द्वारा परिभाषित स्त्री की स्त्रैण भूमिकाओं और आधुनिक शिक्षिता स्त्री के साथ किस तरह तालमेल बैठाकर मुख्यधारा के समाज में; उन क्षेत्रों में जहाँ, स्त्रियों का जाना कुछ दशक पहले मुमकिन नहीं था, क्या अपने लिए जगह बना पाती है? मुख्यधारा के समाज में अपने लिए जगह की तलाश करती हुई इस आधुनिक नारी को किस तरह के अंतर्विरोधों से जूझना पड़ता है; किस तरह के दबावों से होते हुए इस 'नई पितृसत्ता' में स्त्रियाँ अपने लिए जगह बनाती है? स्त्री-लेखन में नारीवादी वैचारिकी किस रूप में देखने को मिलता है? इसे ध्यान में रखते हुए १९२० से १९५० के दौर में लिखे गये स्त्री-लेखन का मूल्यांकन अध्याय तीन- 'स्त्री-गद्य-लेखन का स्वरूप' में किया गया है|

हिंदी क्षेत्र में स्त्री-प्रश्न को स्त्री-चेतना के रूप में स्थापित करने की दृष्टि से हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं का क्या स्थान था ? पत्र-पत्रिकाओं ने स्त्री- मुक्ति के प्रश्न को किस तरह से स्थापित किया| 'बालाबोधिनी', गृहलक्ष्मी, स्त्री-दर्पण, चाँद इत्यादि पत्रिकाओं में स्त्री-प्रश्न के बदलते हुए स्वरूप को; स्त्री-चेतना के सन्दर्भ में किस तरह से देखा जा सकता है? पत्रिकाओं ने

स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र से जोड़ने में; उनकी समस्याओं को वैचारिक और व्यवहारिक आधार प्रदान करने में किस तरह की भूमिका का निर्वाह किया? नारीवादी वैचारिकी के परिप्रेक्ष्य में पत्रिकाओं का क्या स्थान था? इसे केंद्र में रखकर अध्याय चार- 'स्त्री पत्रकारिता का नारीवादी स्वरूप' का मूल्यांकन किया गया है|

स्त्रियों के सम्बन्ध में अति राष्ट्रीयतावादी प्रस्थापनाओं की जब भी बात की जाती है, उसके कारण के रूप में पश्चिमी भौतिकतावादी और भारतीय अध्यात्मिकतावादी प्रस्थापनाओं को प्रमुख कारण के रूप में देखा जाता है, क्या यह कारण स्त्री-प्रश्न की वास्तविक स्थिति को व्याख्यायित करने की दृष्टि से काफी है?

यह कह जाता है कि इस दौर में स्त्री-चेतना और उसके अधिकारों की बात साहित्यिक और समाजिक मंचों से बड़े जोर-शोर से उठाया जा रहा था| क्या स्त्रियों के उत्थान और अधिकारों की बात स्त्रियों की वास्तविक दशा से सम्बन्धित था या उन्हें राष्ट्र, समाज, घर-परिवार, पति और बच्चों के प्रति नैतिक कर्तव्यों और जिम्मेदरियों के बरक्स ही उनकी समस्याओं को उठाया जा रहा था?

स्त्री-लेखन में भी स्त्री स्वतन्त्रता और अधिकारों की बात पर दुविधा की स्थिति देखने को मिलती है| इस विरोधाभास की मूल वजह क्या हो सकती है? क्या यह मान लिया जाय कि सालों परम्परागत मान्यताओं में रहने के बाद एकाएक उससे ऊबर पाना स्त्रियों के लिए मुश्किल था? या समाज सुधारकों द्वारा स्त्री-प्रश्न के महत्व को कम करने के लिए पश्चिमी और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता बोध की राजनीति या भारतीय ब्राह्मणवादी पितृसत्ता मुख्य रूप से जिम्मेदार थी?

इस दौर के स्त्री-प्रश्न के साथ नैतिकता का सवाल प्रमुख रूप से जुड़ा हुआ था| नैतिक दबाव स्त्री-प्रश्न को किस तरह से प्रभावित कर रहा था? इसके साथ यह भी कहा जाता है कि 'नई स्त्री' और 'नये पितृसत्ता' का निर्माण मुख्य रूप से भारतीय सभ्यता को यूरोपीय सभ्यता से

श्रेष्ठ दिखने के प्रसंग में किया जाता है| क्या 'नये पितृसत्ता' के निर्माण के पीछे लिंगीय भेदभाव प्रमुख रूप से जिम्मेदार नहीं था?

किसी भी रचना के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भाषिक संरचना का महत्व उल्लेखनीय होता है| भाषिक संरचना की दृष्टि से महिला-लेखन का स्वरूप कैसा था? क्या जिस तरह की भाषिक संरचना में लेखिकाएं स्त्रियों की समस्याओं को रूपाकार दे रही थी, क्या वह भाषिक संरचना स्त्रियों की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देख पा सकने में समर्थ थी? स्त्री और पुरुष के भाषिक संरचना के मूल्यांकन का आधार क्या हो सकता है? इसका मूल्यांकन अध्याय पांच 'स्त्री-गद्य-लेखन का शिल्प' में किया गया है|

इस तरह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के स्त्री लेखन के आधार पर उस युग के स्त्रियों की समस्याओं; समस्याओं से लड़ने की जदद्दोजहद, का मूल्यांकन का एक हल्का सा प्रयास इस शोध प्रबंध में किया गया है| इस विषय पर सम्पूर्ण मूल्यांकन की जरूरत अभी भी बनी हुई है|

इस शोध ग्रन्थ को पूरा करने में हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, मारवाणी पुस्तकालय दिल्ली से मुझे काफी मदद मिली| इसके साथ ही जे.एन.यू. का केन्द्रीय पुस्तकालय और दिल्ली विश्वविद्यालय का केन्द्रीय पुस्तकालय से भी मुझे शोध से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त करने में विशेष मदद मिली| इन संस्थाओं के सदस्यों के सहयोग के बिना सामग्री प्राप्त करना सम्भव नहीं था| उनके सहयोग के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद| मेरे एम. फिल. के शोध निर्देशक रह चुके प्रो. वीर भारत तलवार जी का इस विषय पर काम करने का सुझाव मेरे लिए काफी ज्ञानवर्धक साबित हुआ| मेरे शोध निर्देशक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा के महत्वपूर्ण सुझाव और मार्गदर्शन के बिना यह शोध-ग्रन्थ शायद ही पूरा हो सकता था| शोध कार्य करते हुए मुझे यह पहली बार एहसास हुआ कि शोध कार्य जितना एक शोधार्थी का होता है, उससे कही ज्यादा वह शोध निर्देशक का कार्य होता है| उन्होंने जितना सुझाव दिया था उतना मैं पूरा नहीं कर पाई हूँ इसका मुझे बहुत खेद है| यह शोध ग्रन्थ अपने

निर्देशक रमण सर के सहयोग के बिना शायद ही पूरा कर पाती| उन्हें धन्यवाद देना बहुत ही छोटी-सी बात होगी| उनके प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करती हूँ|

पूनम स्तुति और शिव के सहयोग के बगैर इस शोध-प्रबंध को पूरा करना काफी मुश्किल काम था| उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद| प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जिस किसी ने मेरी सहायता की है, उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद|

प्रथम अध्याय :

तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री- :

1.1 **सामाजिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री-**

1.1.1 सती प्रथा और स्त्री-प्रश्न

1.1.2 सत्यार्थ प्रकाश और स्त्री-

1.1.3 विधवा-पुनर्विवाह का प्रश्न

1.1.4 बाल-विवाह का प्रश्न

1.1.5 मृत्स्त्रीक विवाह और स्त्री-

1.1.6 स्त्री-शिक्षा का सवाल

1.1.7 पर्दा प्रथा और स्त्री-शिक्षा का सम्बन्ध

1.2 **राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री-**

1.2.1 असहयोग आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी

1.2.2 सविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी

1.2.3 भारत छोडो आन्दोलन और स्त्रियाँ

1.2.4 महिला संगठन और स्त्री-

1.1 सामाजिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री- :

भारतीय इतिहास में 19वीं शताब्दी का दौर जिन महत्वपूर्ण समाज सुधारों के संदर्भ में याद किया जाता है, उसमे भारतीय स्त्रियों की दयनीय दशा का प्रश्न बेहद उल्लेखनीय प्रश्न है| सालों से उपेक्षित स्त्रियों की दयनीय स्थिति में सुधार लाने की कोशिशों के पीछे कौन–सी परिस्थितियाँ काम कर रही थीं? ऐसा क्या हुआ कि भारतीय बुद्धिजीवियों का ध्यान स्त्रियों की स्थिति को सुधारने की तरफ केन्द्रित हो गया था? उस दौर में जितने भी सक्रिय समाज सुधारक और संस्थाएं थी, सभी ने किसी न किसी संदर्भ में स्त्री-प्रश्न का मुद्दा ज़रूर उठाया| विभिन्न सगठनों – ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि ने भारतीय स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने के लिए काम किया| एक प्रकार से ब्रिटिश भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन की लड़ाई के साथ स्त्री-मुक्ति का आन्दोलन भी महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर छाया रहा|

भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन शुरू होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार शेखर बंद्योपध्याय लिखते हैं कि -

“ब्रिटेन में ज्ञानोदय के बाद के बौद्धिक वातावरण में अंग्रेजों ने स्वयं को पूरब वालों के मुकाबले आधुनिक और सभ्य भी जतलाना शुरू किया और उनकी इस धारणा ने उन्नीसवीं सदी में उनकी साम्राज्यवादी दृष्टि को एक औचित्य प्रदान किया, जब तथाकथित सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ|”[1]

अंग्रेजों द्वारा स्वयं को पूरब वालो के मुकाबले आधुनिक और सभ्य मानने की उनकी धारणा का सम्बन्ध 19वीं शताब्दी के दौरान भारतीय बुद्धिजीवियों और समाज सुधारकों द्वारा चलाया गया समाज सुधार आन्दोलन, जिसमें स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाना भी शामिल

[1] शेखर बंद्योपाध्याय, प्लासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ 66

था, अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है| जेम्स मिल ने अपनी किताब 'ब्रिटिश भातर का इतिहास' में हिन्दू सभ्यता की बर्बरता को हिन्दू स्त्री की दयनीय अवस्था में स्थापित किया'[2]

जेम्स मिल द्वारा स्थापित इस धारणा का सम्बन्ध स्त्रियों के सुधार आन्दोलन के साथ भी जुड़ता है| जिसके कारण भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए स्त्रियों का सवाल अहम बन जाता है|

अपने साम्राज्यवादी नीतियों को सफलतापूर्वक अंजाम देने; प्रशासनिक तौर पर स्वयं को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने; निर्ममतापूर्वक स्थापित किये गए अपनी साम्राज्यवादी प्रशासन को औचित्यपूर्ण तथा सही ठहराने और औपनिवेशिक जनता के बरक्स स्वयं को बौद्धिक और श्रेष्ठ साबित करने के लिए अंग्रेजों ने भारतीय समाज को अत्यधिक पिछड़े रूप में पेश करना शुरू किया| इस पिछड़ेपन के प्रमाण के रूप में वो भारतीय स्त्रियों की दयनीय दशा का उदाहरण देते थे| अंग्रेजों ने भारतीय स्त्रियों के पिछड़ेपन के उदाहरण के रूप में 'सती प्रथा' को अत्यधिक क्रूर और बर्बर प्रथा के रूप में रेखांकित किया|

इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि एक प्रथा के रूप में 'सती प्रथा' काफी अमानवीय और बर्बर प्रथा थी लेकिन अंग्रेजों ने इसे अपने निर्ममतापूर्वक प्राप्त की गयी प्रशासकीय सत्ता को उचित ठहराने के लिए इस्तेमाल किया|

अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के कारण भारतीयों का एक ऐसा वर्ग उभर कर सामने आया, जिसने भारतीय समाज में सुधार की ज़रूरत को महसूस किया| इन्हीं बुद्धिजीवियों में राजाराममोहन राय का नाम आधुनिक भारत के जनक के रूप में लिया जाता है, जिन्होंने आधुनिक भारत के विकास की आधारशिला रखी| राजाराममोहन राय वो पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारतीय समाज में फैले अंधविश्वासों और रूढ़ियों का प्रतिकार करना शुरू किया| हालांकि इनसे पहले भी भारतीय समाज की रूढ़ियों को चुनौती देने की परम्परा पायी जाती है|

---

[2] उमा चक्रवर्ती, अल्टेकेरियन अवधारणा से परे: प्रारम्भिक भारतीय इतिहास में जेंडर संबंधों की नई समझ, (संपादित) नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे (सपादक) साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ 132

1.1.1 सती प्रथा और स्त्री-

राजाराममोहन राय आधुनिक भारत के पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्त्रियों की अतिदयनीय दशा में सुधार का बीड़ा उठाया, जिनमें सती प्रथा का उन्मूलन स्त्रियों के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है| राजाराममोहन राय और विलियम बेंटिक के कोशिशों के फलस्वरूप ही दिसम्बर १८२९ ई. में सती प्रथा निरोधक कानून पास हुआ| इसके अलावा राजाराममोहन राय ने ही-

"स्त्रियों को शिक्षित करने के महत्त्व पर सबसे पहली सार्वजनिक बहस १८१५ में स्थापित 'आत्मीय सभा' द्वारा बंगाल में छेड़ी गयी|..उसी वर्ष उन्होंने एक भारतीय भाषा (बंगाली) में सती पर हमला बोलते हुए पहला लेख लिखा|"[3]

'सती प्रथा' उन्मूलन कानून बनाने के संदर्भ में राजाराममोहन राय का आकलन किस तरह से किया जाना चाहिए? या इसके बाद चलने वाले स्त्री-आन्दोलन के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए राजाराम मोहन राय के महत्त्व को कैसे आँका जाय?

जहाँ तक 'सती प्रथा' निरोधक कानून बनाने का सवाल है- "सती उन्मूलन अभियान मुख्यतया ब्रिटिश समर्थन पर आधारित था|"[4]

स्त्री-आन्दोलन के संदर्भ में राजाराममोहन राय के महत्त्व पर विचार करते हुए सविता सिंह का कहना है कि :

"जितनी दुहाई राजाराममोहन राय की स्त्री-विमर्श के सिलसिले में दी जाती रही है, वास्तव में राजाराममोहन राय ने महिला के प्रश्न को महिला के रूप में लिया ही नहीं था|वह तो

[3] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 26

[4] वही, पृष्ठ 26

किसी और एजेंडे से था| यह सत्य है कि माध्यम वर्गों को उन्होंने ऐड्रेस जरूर किया था, लेकिन महिला-प्रश्न को वो काफी नकार रहे थे|"[5]

हालांकि इस तरह की आलोचना का एक पुख्ता आधार है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि राजाराममोहन राय के महत्व को सिरे से नकार दिया जाय|

हिंदी प्रदेश में 'सती प्रथा' उन्मूलन अभियान के संदर्भ में क्या प्रतिक्रिया थी? सती प्रथा के प्रचलन की बात किया जाय तो इस प्रथा का दायरा काफी सीमित था| यह प्रथा कुछ सीमित जगहों जैसे बंगाल में ही विशेष रूप से प्रचलित था| यह प्रथा का उच्च जाति की स्त्रियों में ही मुख्य रूप से प्रचलित था| हिंदी-प्रदेश में भले ही यह प्रथा प्रचलित नहीं था लेकिन हिंदी-क्षेत्र के समाज सुधारक और साहित्यकार सती का महिमागान ज़रूर कर रहे थें| भारतेंदु हरिश्चंद द्वारा सम्पादित 'बालाबोधिनी' पत्रिका में 'सती महिमा' पर लेख देखा जा सकता है| सती प्रथा पर 'चाँद, ने एक विशेषांक भी निकला था| सिर्फ हिंदी-क्षेत्र में ही नहीं पूरे भारत में सती प्रथा का प्रतीकात्मक समर्थन अभी भी किया जा रहा था| भले ही १८२९ ई. में सती प्रथा को कानूनन प्रतिबंधित कर दिया गया था पर भारतीय मानस में सती की महिमा प्रतीकात्मक रूप से हमेशा बनी रही| इसे (कुछ समाज सुधारकों को छोड़कर) कभी भी स्त्रियों के प्रति हो रहे अमानवीय अत्याचार और अन्याय के संदर्भ में भारतीय मानस द्वारा स्वीकार नहीं किया गया| हिंदी-क्षेत्र के समाज सुधारकों की स्थिति और सोच इससे अलग नहीं थी| अभी भी समाज सुधारक और साहित्यकार सतीत्व को आदर्श स्त्री के कर्तव्य के रूप में परिभाषित कर रहे थे| धार्मिक और मिथकीय सती चरित्रों (सीता-सावित्री) के उदाहरण द्वारा सती के महत्व को स्थापित किया जा रहा था| समाज सुधारकों के लिए धार्मिक ग्रंथों और मिथकीय स्त्री पात्रों (सीता-सावित्री) की महत्ता अभी भी बनी हुई थी| प्रतिबंधित होने के बावजूद सामाजिक रूप से सती प्रथा की सफलता संदिग्ध ही रही| यह प्रथा पूरे भारत में प्रचलित नहीं थी फिर भी जब स्त्रियों की नैतिक चरित्र की परिभाषा गढ़ी जाती थी तो उन्हें

[5] अभय कुमार दुबे (संपादित) हिंदी आधुनिकता: एक पुनर्विचार, भाग 1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृष्ठ 86

सती-सावित्री की तरह रहने का उपदेश दिया जाता था, जिसका स्त्रियों पर भी नैतिक दबाव बना| सती प्रथा किन-किन क्षेत्रों में प्रचलित था, इसके सम्बन्ध में शेखर बंद्योपाध्याय ने लिखा हैं कि –

"सती प्रथा' का प्रचलन मुगलकाल में केवल मध्यभारत और राजस्थान के राजपूत राजघराने; दक्षिण भारत में विजयनगर के राज्य में इसका पालन होता था|"[6]

अगर ब्रिटिश कालीन भारत की बात करें तो इतिहासकार शेखर बंद्योपाध्याय लिखते हैं कि-

"अठ्ठारहवीं सदी के अंतिम और उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में एक और बड़े पैमाने पर इस प्रथा को उन क्षेत्रों में फिर से आरम्भ किया गया जहाँ ब्रिटिश प्रशासन के अंतर्गत विकास की दर सबसे अधिक थी, अर्थात् राजधानी कलकत्ता और आसपास के जिलों में|"[7]

यही नहीं बाद के दिनों में तो सती प्रथा निचली और मंझोली जातियों में भी, जैसा कि शेखर बंद्योपाध्याय रेखांकित किया हैं -

"जबरन पति के शव के साथ जला देने की यह बर्बर प्रथा 'सवर्ण जातियों में ही नहीं, बल्कि निचली और मंझोली जातियों के उन किसान परिवारों में भी लोकप्रिय हुई जो सामाजिक गतिशीलता प्राप्त कर चुके थे और फिर श्रेष्ठतर जातियों का नक़ल करके अपनी नई स्थिति को वैध बनाना चाहते थे|"[8]

धार्मिक अवधारणा के अलावा इस प्रथा के प्रचलन में रहने का एक बहुत बड़ा कारण संपत्ति से जुड़े मामलों से भी था| क्योंकि 'यह प्रथा उन क्षेत्रों में प्रचलित था जहाँ हिन्दू पारिवारिक

[6] शेखर बंद्योपाध्याय, पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ 161

[7] वही, पृष्ठ 161

[8] वही, पृष्ठ 161

विधान में दायभाग सम्प्रदाय का प्रभाव था| इसमें मिताक्षरा सम्प्रदाय की अपेक्षा विधवा को स्वर्गीय पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार दिया गया था'[9]

इस तरह जबरन सती करा देने के पीछे धार्मिक एवं आर्थिक कारण होने के साथ ही इसे प्रतिष्ठा के सवाल से भी जोड़कर देखा जा रहा था, जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए निम्न और पिछड़ी जातियों ने सवर्ण जातियों के बराबर खुद को स्थापित करने के लिए अपनाना शुरू कर दिया|

इस प्रथा को साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने बर्बर करार तो दिया ही मिशनरियों ने भी अपने धर्म की महत्ता को हिन्दू धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ स्थापित करने के सन्दर्भ में इसका विरोध किया| इसके अलावा ऐसा भी नहीं था कि सती प्रथा पर कानूनन प्रतिबन्ध बड़ी आसानी से; बिना विरोध के ही लग गया| स्त्रियों पर इसनी बर्बरता के बावजूद और इसकी वजह से भारतीयों की आलोचना होने के बावजूद भी 'उन्मूलन विरोधी सभा द्वारा १८३० में प्रिवी काउन्सिल में इसके विरुद्ध एक याचिका दायर की गई थी|'[10] ये और बात थी कि इस प्रथा पर रोक के विरोध को नहीं रोका जा सका|

इस प्रथा पर रोक की जमीनी हकीकत यह थी कि अभी भी इसे आदर्श स्त्री के चरित्र के रूप में परिभाषित किया जा रहा था और स्त्रियों से यह अपेक्षा की जा रही थी की वो सती स्त्रियों से प्रेरणा ग्रहण करे| इसकी सफलता तब और संदिग्ध हो जाती है जब १९८७ ई. में राजस्थान के देवराला गाँव में रूपकुँवर अपने मृत पति के साथ चिता पर जल कर सती हो जाती है और आज की तारीख में 'पद्मावती' फिल्म का जिस तरह से 'करणी सेना' द्वारा विरोध किया जा रहा है को, इसी कड़ी में देखा जा सकता है|

वैसे तो उत्तर भारत में सती प्रथा प्रचलन में नहीं था लेकिन फिर भी यहाँ के समाज सुधारक और हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में सती के आदर्श को महिमामंडित किया जा रहा था| सती

---

[9] वही, पृष्ठ 162

[10] शेखर बंद्योपाध्याय, पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ 163

सावित्री और सती स्त्रियों के चमत्कारिक कहानियां लिखी जा रही थी| सामाजिक और धार्मिक रूप से इसकी महत्ता अभी भी बनी हुई थी|

हिंदी की पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका 'बालाबोधोनी' (१८७४) में स्त्रियों को सती की तरह आचरण करने का उपदेश दिया जा रहा था| स्त्रियों पर मानसिक और नैतिक दबाव बनाया जा रहा था कि वो सती की तरह पवित्र मन वाली हो| भले ही स्त्रियाँ पति के मरने के बाद पति की चिता के साथ जल नहीं रही थी लेकिन मानसिक रूप से उनको सती बनाने की कोशिश की जा रही थी| सतीत्व को प्राचीन भारतीय स्त्रियों के आदर्श के रूप में परिभाषित किया जा रहा था| 'बालाबोधिनी' में सती की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा हुआ है कि-

"देखो उसी बगीचे के किनारे एक सती का छोटा-सा चौरा भी है, अहा! इसकी अपने प्रीतम में कैसी प्रीति थी कि उसके साथ ही जल गई|"[11]

इससे अच्छी और आकर्षण भाषा में और बेहद मासूमियत के साथ सती का महिमागान करके स्त्रियों पर मानसिक दबाव शायद ही डाला जा सकता था| इस तथ्य के बावजूद कि विधवा स्त्री को जबरन मृत पति की चिता के साथ जलाना या जलने के लिए मजबूर करना; मानसिक दबाव बनाया जाना कानूनन प्रतिबंधित कर दिया गया है, इस घोर अमानवीय प्रथा को महिमामंडित किया जा रहा था| इससे दुखद स्थिति क्या हो सकती है? 'सती प्रथा' के प्रतिबन्ध के विरोध में भले ही स्पष्ट तरीके से कोई विरोध नहीं किया जा रहा था, लेकिन 'सतीत्व' का महिमामंडन करके और आदर्श स्त्री-चरित्र के रूप में परिभाषित करके इसके विरोध और खत्म होने की गुंजाइस को ज़रूर कम किया जा रहा था| यह स्थिति तो उन याचिकाओं से भी खतरनाक था, जिसमें कुछ रुढ़िवादियों द्वारा इसके प्रतिरोध के जवाब में दायर किया गया था| 'बालाबोधिनी' में तो मानसिक रूप से स्त्रियों को उन्हीं आदर्शों पर

[11] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 25

चलने के लिए अनुकूलित किया जा रहा था, जिन आदर्शों ने स्त्रियों को सती होने के लिए मानसिक रूप से मजबूर किया|

1.1.2 'सत्यार्थ प्रकाश' और स्त्री-प्रश्न

उन्नीसवीं सदी में राजाराममोहन राय द्वारा स्थापित 'ब्रहमो समाज' से भारतीय नवजागरण की शुरुआत होती है| लेकिन उत्तर भारत के नवजागरण का सम्बन्ध 'ब्राह्मो समाज' से नहीं, बल्कि दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज से विशेष रूप से जुड़ा हुआ है| 'आर्य समाज' की आधारशिला मानी जाने वाली, दयानंद सरस्वती द्वारा रचित ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के विचारों का प्रभाव, हिंदी नवजागरण पर विशेषरूप से परिलक्षित होता है| हिंदी नवजागरण का मूल्यांकन दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज और उनके विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने वाली उनकी किताब 'सत्यार्थ प्रकाश' के बिना अधूरा है| हिंदी नवजागरण पर सत्यार्थ प्रकाश के विचारों का प्रभाव विशेषरूप से उल्लेखनीय है| वीर भारत तलवार ने दयानंद सरस्वती के प्रगतिशील विचारों के सम्बन्ध में लिखा हैं कि –

"सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद की तर्कपूर्ण आलोचना का खास निशाना हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताएँ, परम्पराएँ और आचरण हैं| हिन्दू धर्म का जो प्रतिदिन का व्यावहारिक रूप है, वह जिन बुनियादों पर टिका हुआ है- मूर्तिपूजा, भगवान के अवतार, पुरोहित, जातिप्रथा, छुआछूत, तीर्थ, व्रत और गंगा स्नान वगैरह- दयानंद ने इस बुनियाद पर ही हमला किया| उन्होंने हिन्दू समाज में फैले रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, धार्मिक पाखंड, धार्मिक भ्रष्टाचार और चमत्कारों की पोल खोल दी| पवित्र से पवित्र समझी जाने वाली प्रथा को भी तर्क की कसौटी पर कसा और बुद्धि-विवेक विरोधी पाकर उसे ठुकरा दिया|"[12]

उन्नीसवीं सदी के समाज सुधार आन्दोलन के केंद्र में स्त्रियों की समस्या विशेषरूप से उल्लेखनीय था| 'सत्यार्थ प्रकाश' में सामाजिक-धार्मिक समस्याओं के साथ ही स्त्रियों की

[12] वीर भारत तलवार, हिन्दू नवजागरण की विचारधारा सत्यार्थ प्रकाश समालोचना का एक प्रयास, प्रका. सचिव, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला, प्रथम संस्करण 2001, पृष्ट 15

समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है| 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं में बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह पर विचार-विमर्श देखने को मिलता है| स्त्रियों के सन्दर्भ में 'सत्यार्थ प्रकाश' का क्या विचार है, यह देखना महत्वपूर्ण होगा|

विवाह के आयु के सम्बन्ध में 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा गया है कि-

"सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या का और पच्चीसवें वर्ष से लेके ४८वें वर्ष तक पुरुष का विवाह का समय उत्तम है| इस में सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट; अठारह बीस वर्ष की स्त्री तथा तीस पैतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है|"[13]

इस तरह दयानंद ने विवाह के लिए लड़कियों की उम्र कम से कम सोलह वर्ष और लड़कों के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष निर्धारित किया है| जो उस समय के हिसाब से अगर देखा जाये तो काफी प्रगतिशील लगेगा| लेकिन विवाह के सम्बन्ध में दयानंद सरस्वती का यह विचार स्त्रियों के पक्ष में कम पुरुषों के हित में ज्यादा है| दयानंद ने इस स्थापना में स्त्री-पुरुष के विवाह के उम्र का जिस तरह से वर्गीकरण किया है, उसमें अनमेल विवाह का खतरा बना हुआ है| इस दौर की हिंदी लेखिकाओं और लेखकों ने भी अनमेल विवाह की समस्या की तरफ ध्यान आकर्षित किया है| अनमेल विवाह इस दौर में एक समस्या के रूप में रेखांकित किया गया है| खैर दयानंद सरस्वती के इस निर्धारण से, जिस तरह का अनमेल विवाह यहाँ प्रचलित था, उससे थोडा बहुत निजात अवश्य मिल गया है|

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में दयानंद सरस्वती के विचारों की जहाँ तक बात है, तो दयानंद स्त्रियों को वेद-शास्त्र पढ़ने का हिमायत तो करते ही है, वो लड़कियों को लड़कों के समान शिक्षा देने के भी पक्ष में थे| 'सत्यार्थ प्रकाश' में लड़के और लड़की के शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा हैं कि-

"जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते है वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य

[13] दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश,प्रका. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 82वां संस्करण, पृष्ठ 72

सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान (युवानम) और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे| इसीलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए|"[14]

उस दौर में जिस तरह से स्त्री और पुरुष के शिक्षा के सम्बन्ध में, समाज सुधारकों के विचारों में विरोधाभास देखने को मिलता है, दयानंद सरस्वती के विचारों में एक तरह से लड़का और लड़की, दोनों के शिक्षा के संबन्ध में ही नहीं अपनी पसंद की विवाह करने के सम्बन्ध में भी समानता देखी जा सकती है|

स्त्रियों को वेदों का अध्ययन करना चाहिए कि नहीं, इस सम्बन्ध में भी दयानंद सरस्वती का विचार स्त्रियों के वेद पढ़ने के पक्ष में है| स्त्रियों को वेदों का अध्ययन क्यों करना चाहिए, इस सम्बन्ध में दयानंद सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि –

"अवश्य; देखो श्रौतसूत्रदि में- इमं मंत्रम पत्नी पठेत्| अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े| जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विदुषी हुई थीं यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है| भला जो पुरुष विद्वान और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान हो तो नित्यप्रति देवासुर-संग्राम घर में मचा रहें फिर सुख कहां? इसलिए जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें तथा राजकार्य न्यायाधिशत्वदि; गृहश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना; घर के सब कम स्त्री के अधीन रहना बिना विद्या के इत्यादि काम अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते|"[15]

इस तरह स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में दयानंद सरस्वती का विचार बेहद सराहनीय है|

---

[14] दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश,प्रका. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 82वां संस्करण, पृ. 68

[15] वही, पृष्ठ 68

विधवा विवाह का प्रश्न जो अंत तक असमंजसपूर्ण बना रहता है, 'सत्यार्थ प्रकाश' में भी इसके सम्बन्ध में असमंजस की स्थिति दिखाई देती है| विधवा पुनर्विवाह के सम्बन्ध में दयानंद का विचार बेहद शुद्धतावादी और परम्परावादी था| इसके सम्बन्ध में दयानंद ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि -

"जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ विवाह होना चाहिए| किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए|"[16]

पुनर्विवाह क्यों नहीं होना चाहिए, इस सवाल के जवाब में उन्होंने लिखा है कि-

"(पहला) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले| (दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष पति स्त्री मरने के पश्चात दूसरा विवाह करना चाहें तब प्रथम स्त्री के वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना और उनके कुटुम्ब वालों का उन से झगडा करना (तीसरा) बहुत से भद्रकुल के नाम और चिन्ह भी न रह कर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना (चौथा) पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होने चाहिये|"[17]

पुनर्विवाह के सम्बन्ध में दयानंद सरस्वती का विचार काफी असंगतियों से भरा पड़ा है| विधवा विवाह के सम्बन्ध में दयानंद उन्हीं विधवाओं और साथ में विधुर पुरुष को भी पुनर्विवाह का अधिकारी मानते है जिनका विवाह होने के बाद भी शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ है| दूसरा, उन्होंने जिस तरह से शुद्र स्त्री-पुरुष को इससे अलग रखा है, उसका कोई मतलब नहीं है क्योंकि शूद्रों में तो पहले से ही पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी| बल्कि इस तरह की स्थपनाओं के बाद शूद्रों में भी पुनर्विवाह की प्रथा उठने लगी थी| चूँकि उच्च जातियों में स्त्रियों का पुनर्विवाह न होना सम्मानित और कुलीनता की निशानी माना जाता

[16] दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश,प्रका. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 82वां संस्करण, पृ. 96
[17] वही, पृ. 96

था अत: कुछ नीची कहे जाने वाली जातियों में भी, जो खुद को कुलीन और इज्जतदार कहलवाना चाहते थे, वे भी विधवा पुनर्विवाह के प्रति उदासीन होने लगे थे| दयानंद सरस्वती का पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जो विचार था, हिंदी-क्षेत्र के लगभग सभी समाज सुधारकों और साहित्यकारों का भी कमोबेश यही विचार था| इस सम्बन्ध में जो एक लाभ देखने को मिलता है, वह है बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह को मान्यता देना| चूँकि बाल-विवाह का प्रचलन होने के कारण, बहुत-सी लड़कियां बचपन में ही विधवा हो जाती थीं, इस नियम के आ जाने से उनके लिए फिर से विवाह का रास्ता खुलता है| लेकिन विवाह के सम्बन्ध में दयानंद ने जो उम्र निर्धारित किया था, वो इसके सफलतापूर्वक लागू होने की राह में सबसे बड़ी रुकावट है| इसके असंगतियों की तरफ ध्यान दिलाते हुए वीर भारत तलवार ने लिखा हैं कि –

“लेकिन जिसका एक बार भी शारीरिक सम्बन्ध हो चुका हो, फिर उसकी उम्र 15-16 साल ही क्यों न हो- उनके पुनर्विवाह का यहाँ साफ विरोध किया गया| चूँकि दयानंद ने शादी के लिए लड़कियों की कम से कम उम्र 16 साल तय की थी, लिहाजा अब ऐसी विधवाओं की तदाद ज्यादा होती जो क्षतयोनि होती और दुबारा शादी नहीं हो सकती थी| दयानंद का एक विचार जहाँ विधवाओं की संख्या को घटता है, वहीं दूसरा विचार उनकी संख्या को बढ़ता है|”[18]

इस तरह से देखा जाय, तो स्त्रियों के सन्दर्भ में दयानंद सरस्वती का विचार काफी अंतर्विरोधों से भरा हुआ है| दयानंद सरस्वती भी स्त्री-प्रश्न के सन्दर्भ में कोई ठोस समाधान नहीं दे पाते हैं, बल्कि इस तरह के समाधान से स्त्री-प्रश्न सुलझने की बजाय और भी उलझता हुआ नज़र आता है|

[18] वीर भारत तलवार, हिन्दू नवजागरण की विचारधारा सत्यार्थ प्रकाश समालोचना का एक प्रयास, प्रका. सचिव, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 40

1.1.3 विधवा- पुनर्विवाह और स्त्री- :

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उठे समाज-सुधार आन्दोलनों में स्त्रियों से सम्बन्धित जिस समस्या को जोरदार ढंग से उठाया गया, उसमे वैधव्य की समस्या काफी गंभीर था| हालांकि अंत तक इस समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं निकल पाया| उन स्त्रियों के लिए, जिनका पति मर चुका है पुनर्विवाह की इजाज़त नहीं थी| पति की मृत्यु हो जाने के बाद पत्नी जिन्दगी भर अकेली रहने के लिए अभिशप्त थी| विधवा स्त्रियों को बहुत ही एहतियात से; नियमपूर्वक; सामाजिक-धार्मिक वर्जनाओं को ध्यान में रखते हुए अभावग्रस्त जिन्दगी गुजारनी पड़ती थी| यहां तक कि बाल-विवाह का प्रचलन होने के कारण, जो लड़कियां बचपन में ही विधवा हो चुकी थी, उन्हें भी अपने मृत पति के नाम पर अपमानित जिन्दगी गुजरना पड़ता था| ऐसी स्थिति में बाल-विधवाओं की स्थिति तो और भी दयनीय हो जाती थी| इसके खिलाफ आवाज उठाने वालों में ईश्वरचंद विद्यासागर का नाम विशेषरूप से लिया जाता है| 'स्त्री-संघर्ष का इतिहास' में राधा कुमार लिखती हैं कि –

"अन्य समाज-सुधारकों की भांति विद्यासागर ने १८५० में विधवा-पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबन्ध को समाप्त करने के लिए अभियान चलाया और उन्होंने बंगला में एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि विधवा-पुनर्विवाह शास्त्र-सम्मत है|"[19]

ईश्वरचंद विद्यासागर द्वारा विधवा-पुनर्विवाह को शास्त्र-सम्मत प्रमाणित किये जाने के बावजूद उनका यह विचार रूढ़िवादी हिन्दुओं को संतुष्ट नहीं कर सका और इस आन्दोलन को काफी विरोधों का समना करना पड़ा| शास्त्रीय प्रमाणों को आधार मानते हुए विद्यासागर ने विधवा-पुनर्विवाह को क़ानूनी मान्यता दिलवाने के लिए 'अपनी पुस्तिका का अंग्रेजी में अनुवाद किया और उसकी प्रतियाँ अंग्रेज अधिकारियों को दी| उनकी सलाह पर विद्यासागर

[19] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 41

ने १८५५ ई. में भारत के गवर्नर-जनरल को विधवा-पुनर्विवाह के लिए कानून बनाने के लिए एक याचिका दी|'[20]

'जैविक' और 'नैतिक' आधार पर वैधव्य को उचित न मानने का कारण बताते हुए १८५६ ई. में विधवा-पुनर्विवाह को क़ानूनी मान्यता दे दी गई| हालांकि, जैसा कि राधा कुमार ने लिखा हैं–

"इस कानून के विरोध में 'उच्च वर्ग' के लगभग साठ हजार हिन्दुओं की तरफ से चालीस से अधिक याचिकाएं पेश की गई|"[21]

तमाम कोशिशों के बावजूद इस आन्दोलन की सफलता भी संदिग्ध ही रही| और तो और जबरदस्ती वैधव्य की यह प्रथा उन वर्गों में भी प्रचलित हो गया, जिन वर्गों में विधवा-पुनर्विवाह पहले से ही मान्यताप्राप्त था| दूसरा जैसा कि शेखर बंद्योपाधाय ने लूसी कैरोल के हवाले से इस बात का जिक्र किया हैं कि –

"यह कानून बुनियादी तौर पर रूढ़िवादी था क्योंकि पुनर्विवाह के बाद विधवा अपने पति की सम्पत्ति में भागीदार नहीं रहती थी; इस तरह इस कानून ने केवल "पवित्र, साध्वी विधवा" को पुरस्कृत करने के ब्राह्मणवादी नियम का अनुमोदन किया|"[22]

लूसी कैरोल के इस तर्क को स्वीकार करते हुए भी इस सचाई से इंकार नहीं किया जा सकता है कि, भले ही विधवा स्त्री अपने मृत पति की सम्पत्ति की हक़दार थी, लेकिन सामाजिक रूप से सम्पत्ति से सम्बन्धित किसी भी तरह के निर्णय का अधिकार पुरुषों के पास ही सुरक्षित रहता थ| आज के समय में भी कितनी ऐसी स्त्रियाँ है जो सम्पत्ति सम्बन्धी अपना निर्णय अपने पास सुरक्षित रख पाती हैं? अगर विधवा-पुनर्विवाह बिना किसी विरोध के सफलतापूर्वक लागू हो जाता तो, पुनर्विवाह की स्थिति में मृत पति की सम्पत्ति से वंचित

[20] वही, पृष्ठ 44

[21] वही, पृष्ठ 48

[22] शेखर बंद्योपाधाय, पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ 162

किया जाना कोई खास मायने नहीं रखता, (विधवाओं की दयनीय स्थिति को देखते हुए) इसकी अपेक्षा कि विधवा-पुनर्विवाह समाज द्वारा बिना किसी विरोध के मान लिया जाता|

विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में हिंदी-प्रदेश के समाज-सुधारकों और साहित्यकारों की राय क्या थी? हिंदी-क्षेत्र में विधवा-पुनर्विवाह के विषय में समाज-सुधारकों तथा साहित्यकारों की क्या प्रतिक्रिया थी, अगर इस बात का मूल्यांकन किया जाए, तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में, पुरुष समाज-सुधारकों के नेतृत्व में चल रहा स्त्री-आन्दोलन में विधवाओं की जिन्दगी को ध्यान में रख कर कुछ साहित्यिक कृतियों और लेखों की रचना ज़रूर की गयी है, लेकिन भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा सम्पादित हिंदी की पहली 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिका 'बालाबोधिनी'(१८७४) में विधवा-पुनर्विवाह के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं की गयी है| हालांकि, जब बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में स्त्री-सुधार के सन्दर्भ में महिलाएं जागरूक हुईं और महिला- आंदोलन का नेतृत्व महिला-नेत्रियों के हाथ में आया, तो स्त्रियों से सम्बन्धित सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श देखने को मिलता है| साथ ही स्त्री-समस्या को देखने के दृष्टिकोण में भी काफी बदलाव दृष्टिगोचर होता है| 'स्त्री-दर्पण' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' में विधवाओं की समस्याओं और समाज में उनकी स्थिति तथा उनके संघर्षपूर्ण जिन्दगी को ध्यान में रख कर विस्तार से विवेचना किया गया है|

प्रो. वीर भारत तलवार ने महिला-नेत्रियों और हिंदी की लेखिकाओं द्वारा विधवा- पुनर्विवाह के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से आवाज न उठाये जाने पर यह सवाल किया हैं कि –

"महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकओं ने विधवाओं के फिर से विवाह करने की बात साफ-साफ और सीधे ढंग से नहीं कही जबकि उस समय के पुरुषों के लेखों में विधवा-विवाह की खुली जोरदार वकालत मिलती है|"[23]

[23] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 133

महिला-आन्दोलन की नेत्रियों और हिंदी की लेखिकाओं द्वारा विधवा-पुनर्विवाह की बात साफ-साफ और सीधे ढंग से स्वीकार न करने के पीछे क्या कारण हो सकता है? जिस तरह से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों के दौरान बंगाल और महाराष्ट्र में विधवा-पुनर्विवाह को लेकर पुरुष समाज सुधारक, पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे और 'सीमंतानी उपदेश' के द्वारा जोरदार ढंग से आवाज उठायी गया है, उस तरह से उन्नीसवीं सदी के अंतिम कुछ दशकों में हिंदी-क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चन्द और उनके दौर के अन्य साहित्यकारों द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में या उनकी दयनीय स्थितियों के विषय में विचार-विमर्श नहीं किया गया है| हिंदी-क्षेत्र के पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने विधवाओं की फिर से विवाह की चर्चा बीसवीं शताब्दी के दौरान ही प्रमुखता से उठाया, जबकि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में लिखा गया 'सीमंतनी उपदेश' (१८८५) में विधवाओं की समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है| इसी दौर में भारतेंदु हरिश्चंद द्वारा सम्पादित हिंदी की पहली स्त्री पत्रिका 'बालाबोधिनी'(१८७४) में विधवाओं की गंभीर समस्या को पूरी तरह से नजरअंदाज किया गया है, यहाँ तक कि उनके विषय में कोई चर्चा भी नहीं की गयी है|

जहाँ तक पुरुषों द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में खुलकर आवाज उठाने की बात है, तो भले ही वो पुनर्विवाह के पक्ष में दिखाई देते हो; उनके कुछ लेखों में पुनर्विवाह की बात स्वीकार की गयी हो लेकिन विधवा-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में विरोधी पक्ष हो या पुनर्विवाह के पक्ष में खड़े होने वाले समाज सुधारक, दोनों ही 'वैधव्य' की पवित्रता को अस्वीकार नहीं कर रहे थे| पुरुष समाज सुधारकों और लेखकों की दृष्टि में 'वैधव्य' जीवन किसी तपस्या से कम नहीं था| 'वैधव्य' के कठोर नियम-कायदों में जकड़ी हुई विधवाएं उनकी दृष्टि में किसी दैवीय शक्ति से कम स्थान नहीं रखती थीं| उस दौर के साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिसमें वैधव्य के मूल्यों को नियमपूर्वक एवं कठोरता से पालन करने वाली विधवाओं का महिमामंडन किया गया है| समाज सुधारकों और साहित्यकारों द्वारा वैधव्य का आदर्शीकरण किया गया है| ऐसी स्थिति में , जबकि वैधव्य का महिमामंडन किया जा रहा

हो तब तो जबरदस्ती वैधव्य के सवाल की गुंजाइस ही नहीं रह जाती है| कोई भी समाज सुधारक और साहित्यकार वैधव्य की निर्थकता को सती प्रथा की ही तरह पूरी तरह से इंकार नहीं कर पाता है| उनकी दृष्टि में अगर कोई विधवा स्त्री वैधव्यपूर्वक जिन्दगी जीने के लिए तैयार है तो यह बहुत ही गौरव और प्रशंसा की बात है| इसके अलावा जो स्त्री वैधव्य की गौरवपूर्ण मूल्यों का पालन नहीं कर पाती है या उनके मन में अगर 'वासना' का विचार आता है, तो उन्हें विवाह कर लेना चाहिए, यह भावना भी, जो सीधे-सीधे उनकी यौनिक तुष्टता के साथ जुड़ा हुआ है, नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से पुनर्विवाह की गुंजाइस को ही कम कर देता है|

महात्मा गाँधी से लेकर जितने भी प्रतिष्ठित साहित्यकार थे, सभी विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में भले ही आवाज उठा रहे हो, सभी ने वैधव्य को धारण करने वाली स्त्रियों को बहुत उच्च पद पर आसीन किया है| कोई भी नेता, समाज सुधारक और साहित्यकार यह मानने के लिए तैयार ही नहीं थें कि वैधव्य जैसी प्रथा का होना किसी भी सूरत में स्त्रियों के लिए न्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि वैधव्य का मतलब सिर्फ इतना भर नहीं था कि किसी स्त्री का पति मर गया है और वह अविवाहित जीवन व्यतीत कर रही है, बल्कि वैधव्य के साथ कठोर नियम-कायदे और तरह-तरह के बेबुनियाद धार्मिक और सामाजिक पाबंदियां भी जुड़ी हुई थीं| इस दृष्टि से देखे तो वैधव्य जैसी प्रथा का होना ही अपने आप में न्यायसंगत और किसी भी तरह से सही नहीं ठराया जा सकता है| इस प्रथा को मानने पर विधवा स्त्री को न सिर्फ अकेले नहीं रहना पड़ता है बल्कि बहुत–सी पाबंदियों, अभावों और उपेक्षाओं के साथ रहना उसकी नियति बन जाती है|

जहाँ तक नेत्रियों और लेखिकाओं का विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में सीधे-सीधे आवाज न उठाने की बात है, तो इसके पीछे के कारणों का मूल्यांकन किये बिना कोई निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है, कि लेखिकाएं विधवा विवाह के पक्ष में नहीं थी, लेकिन जो बात पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों से इन्हें अलग करती है, वो है विधवा-पुनर्विवाह के रास्ते में आने वाली चुनौतियों का, इनके द्वारा रेखांकित किया जाना| लेखिकाओं ने विधवाओं की

त्यागपूर्ण जिन्दगी का या वैधव्य का गुणगान न करके उनकी शोचनीय स्थितियों को अपनी रचनाओं में जिक्र किया है| विधवाएं किस तरह की समस्याओं से गुजरती है; उनके साथ घर-परिवार और समाज में किस तरह का सलूक किया जाता है; उन्हें किस तरह से कोने में पड़ी एक बेकार और बेजान चीज के सिवा कुछ नहीं माना जाता है; खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने में भी नियम-कायदों का पालन कितनी कठोरता से करनी पड़ती है; बेवजह किस तरह से बदसलूकी और उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है; तरह-तरह की पाबंदियों में जकड़ी हुई विधवाओं की दयनीय दशा को लेखिकाओं ने अपने लेखन का विषय बनाया, न कि पुरुष साहित्यकारों की तरह उनकी कष्टपूर्ण जिन्दगी का; उनकी समस्याओं का महिमामंडन और आदर्शीकरण किया है| (इसका कदापि यह मतलब नहीं है कि पुरुषों ने विधवाओं की समस्याओं का जिक्र ही नहीं किया है या महिलाओं ने वैधव्य का महिमामंडन नहीं किया होगा)

महिला नेत्रियों द्वारा विधवा-पुनर्विवाह की मांग को खुलकर न उठाये जाने की वजह चाहे जो भी हो लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि पुनर्विवाह के पक्ष में स्त्रियों की यौनिकता को; उनकी शारीरिक इच्छाओं को पुरुष समाज सुधारको और साहित्यकारों द्वारा प्रमुख वजह के रूप में मानना, एक बहुत बड़ा चारित्रिक और नैतिक कारण के रूप में देखा जा सकता है| जहाँ तक विधवा-पुनर्विवाह की असफलता और इसे खुलेमन से न स्वीकार किये जाने के कारणों की बात है, तो यह जाहिर है कि यौन इच्छा को चारित्रिक श्रेष्ठता और नैतिक मूल्यों के साथ जोड़कर देखा जाता है| ऐसी स्थिति में अगर कोई स्त्री पुनर्विवाह की बात खुलकर उठा ती है, तो जाहिर है कि समाज में उसकी किस तरह से चारित्रिक हनन किया जाएंगा| पुरुष भले ही स्त्री और पुरुष की यौनिकता पर हजारों पन्नों में श्रृंगारिक ग्रंथों की रचना कर डाले उसके चरित्र पर शायद ही सवाल उठाया जाये लेकिन एक स्त्री अपना तो दूर अगर स्त्री की यौनिकता का सवाल भी उठा दे तो उसे तरह-तरह की आलोचना का सामना करना पड़ता है| जिस समाज में स्त्री की यौन इच्छा को हमेशा दबाने की कोशिश की जाती रही हो; तरह-तरह के नैतिक और धार्मिक बन्धनों द्वारा यौनिकता को

दबाये जाने की सीख दी गयी हो; जिस पर बात करना चारित्रिक पतन के रूप में देखा जाता हो, ऐसी स्थिति में स्त्री की कामुकता का हवाला दिया जाना भी, स्त्रियों द्वारा विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में खुलकर आवाज न उठाये जाने का नैतिक कारण हो सकता है| जैसा कि ग्रांट बिल में दिया गया है-

"ग्रांट ने बिल (कानून) के समर्थन में विधवा-विवाह के निश्चित जैविक कारण बताते हुए तर्क दिए| इसके पश्चात उन्हेंने अनुभूत साक्ष्यों के आधार पर इसके नैतिक कारण बताये| हिन्दुओं की ब्रह्मचर्य की प्रथा प्रकृति के खिलाफ एक संघर्ष की कोशिश है और प्रकृति के विरुद्ध संघर्षों की अन्य कोशिशों की भांति यह भी असफल है| अधिसंख्य मामलों में हिन्दू विधवाएं गुप्त रूप से भोग-विलास और देह व्यापर में संलिप्त पाई गई ....तथा अनेक अन्य मामलों में आभागी हिन्दू विधवाएं घर छोड़ने तथा निर्वासित जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर कर दी गई"[24]

विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में सीधे-सीधे ढंग से आवाज न उठाने की एक वजह यह भी है कि समाज द्वारा अभी भी इसे स्वीकार नहीं किया जा रहा था; अभी भी समाज विधवाओं को लेकर तरह–तरह के अंधविश्वासों में जी रहा था| सामाजिक स्वीकृति न मिलने के कारण जो लोग विधवा-पुनर्विवाह करने के बारे में सोचते भी होंगे या फिर से विवाह की नैतिक हिम्मत जुटाते भी होंगे, तो सामाजिक बहिष्कार का खतरा हमेशा बना रहता होगा|

1.1.4 बाल-विवाह का प्रश्न :

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान चलाये गए समाज सुधार आन्दोलनों में बाल-विवाह का मुद्दा भी बड़े जोर-शोर से उठाया गया| हालांकि जैसा कि राधा कुमार ने लिखा हैं –

[24] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 48

"सन १८६० में विवाह के लिए रजामंदी की उम्र १० वर्ष निर्धारित करने वाला कानून पारित कर दिया गया, परन्तु उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में 'बहरम मलबारी' द्वारा इस मुद्दे को उठाये जाने से पूर्व इसके विरोध में कोई आन्दोलन नहीं चलाया गया|"[25]

बाल-विवाह क्यों नहीं होना चाहिए, इसके पक्ष में जिस तरह की दलील दी जा रही थी, उसमें 'राष्ट्र' और 'नस्ल' की बेहतरी का सवाल प्रमुख रूप से जुड़ा हुआ था| उसमें बच्चों की बेहतरी की चिंता महज इसलिए ज़रूरी बन गया था, ताकि बच्चों को 'राष्ट्र' और 'नस्ल' की बेहतरी और देश के निर्माण के लायक बनाया जा सके| बाल-विवाह का विरोध सीधे-सीधे 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के सवाल से भी जुड़ा हुआ था| इसके साथ प्राकारान्तर से यह बात भी जुड़ी हुई थी कि सुरक्षा तो हमेशा लड़का ही कर सकता है| इस दृष्टि से देखे तो राष्ट्र और नस्ल की बेहतरी का सवाल भी लड़कों के लिए ज्यादा मुनासिब था| इसके साथ ही माता का शिक्षित होने का सवाल भी जुड़ा हुआ है| इस तरह यह सवाल स्त्रियों की बेहतरी से सीधे- सीधे नहीं जुड़ा हुआ है|

उस दौर में उठाये गए और समस्याओं की तरह ही बाल-विवाह को भारतीय समाज के पिछड़ेपन और गुलामी से जोड़कर देखा जा रहा था| राधा कुमार द्वारा अपनी किताब 'स्त्री-संघर्ष का इतिहास' में उदधृत किये गए उद्धरणों से इस बात की पुष्टि होती है कि किस तरह से बाल- विवाह की प्रथा को 'राष्ट्र' के विकास के लिए घातक माना जा रहा था| वह लिखती है कि- 'छोटी उम्र में विवाह होने से राष्ट्र की भौतिक शक्ति का ह्रास होता है| इसके कारण राष्ट्र की प्रगति एवं विकास अवरुद्ध होता है|'

इसके सम्बन्ध में राधा कुमार ने श्री जी. एच. देशमुख के हवाले से लिखा हैं कि –

"जहाँ तक बाल-विवाह का प्रश्न है मैं इसे बहुत ही खतरनाक रिवाज मानता हूँ| यह ऐसी प्रथा है जो राष्ट्र को कमजोर बनाती है| अत: यह आवश्यक है कि भारत जैसे देश में कुछ लोग बाल-ब्रह्मचारी होने चाहिए ताकि वे उद्योग, विदेश यात्रा इत्यादि के बारे में प्रयास कर

[25] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 60

सकें| आज हिन्दुओं को जो कीमत चुकानी पड़ रही है उसका कारण बाल-विवाह प्रथा है| वे न तो सैनिक बन सकने की शक्ति रखते है और न ही कृषि कार्य कर पाते है| विदेश व्यापार के लिए बाहर जाना तो दूर की बात है|"[26]

बाल-विवाह क्यों नहीं होने चाहिए, इसके पक्ष में जो तर्क दिया गया है; इसकी वजह से होने वाली जिन समस्याओं का हवाला दिया गया है, उसमें लड़कों की बेहतरी का सवाल अहम और महत्वपूर्ण है| इस तर्क में और इसके कारण होने वाली समस्याओं में लड़कियाँ (बालिका शिशु) अन्या की स्थिति में ही है| ऐसा भी नहीं है कि बालिका शिशु की बेहतरी की चिंता उन्हें बिलकुल ही नहीं थी, लेकिन इस बात की ज्यादा अहमियत नहीं दी जा रही थी| इससे इत्तर मातृत्व का आदर्शीकरण ज्यादा किया जा रहा था| इस तथ्य का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि एक सर्जन द्वारा लड़कियों की जैविक और दैहिक कमजोरियों का हवाला देकर बाल-विवाह को सही नहीं ठहराया जा रहा था| जाहिर है कि लड़कियों के सन्दर्भ में बाल-विवाह का विरोध इसलिए किया जा रहा था, क्योंकि जब वो शारीरिक रूप से कमजोर रहेंगी और ऐसी स्थिति में बच्चे को जन्म देती है तो बच्चा भी कमजोर ही पैदा होगा| इसमें स्त्रियों के स्वतंत्र विकास की बात की कोई अहमियत नहीं है, न ही लड़कियों की शिक्षा के सवाल को ही इससे जोड़कर देखा गया है| जबकि बीसवीं शताब्दी में महिला-लेखन में बाल-विवाह को स्त्रियों के स्वतंत्र विकास में रूकावट, शिक्षा में बाधक और विधवाओं की संख्या में अत्यधिक बढ़ोतरी के साथ जोड़कर देखा जा रहा था|

मालाबारी जी बाल-विवाह के दुष्परिणाम का सम्बन्ध व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ जोड़कर देख रहे थे| राधा कुमार ने मालाबारी जी के हवाले से लिखा हैं कि –

"व्यक्ति के स्वस्थ होने से समाज का स्वास्थ्य बनता है जो कि देश के लिए लाभप्रद होता है| कच्ची उम्र में विवाह होने के कारण स्त्रियों के प्रजननांगो का ठीक प्रकार से विकास न हो पाने तथा हड्डियों के जोड़ सुदृढ़ न होने के कारण उन्हें को बड़े पैमाने पर शिशु जन्म के समय

[26] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ60

अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है| कई बार तो स्त्रियों की मृत्यु तक हो जाती है| लघुवय माताओं के बच्चों के सर के असमय दबा दिए जाने के कारण ऐसे बच्चे समय से पूर्व ही मर जाते है या शरीर या दिमाग से कमजोर होकर सारी उम्र असहाय मूर्खों की भांति बिताते है|"[27]

मालाबारी ने बाल-विवाह की बुराईयों मे कुछ और दैहिक कमजोरियों को जोड़ते हुए कहा कि 'लघुवय में विवाह होने के उपरांत स्त्री-पुरुष का संसर्ग शुरू हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप लड़कियां शीघ्र रजस्वाला हो जाती है| अंग्रेज डाक्टरों के हवाले से उन्होंने जैविक कारण बताते हुए कहा कि अपरिपक्व रजस्वालात्मकता के कारण गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों की सन्ताने अपंग तथा निर्बल पैदा होती है| जिससे हिन्दुओं का 'मूलक्षय' हो जाता है|'[28]

मालाबारी द्वारा स्त्रियों के स्वास्थ्य के हवाले से बाल-विवाह का विरोध और आलोचना करना तथा स्त्रियों की प्रमुखता देने के तर्क से सभी समाज सुधारक सहमत नहीं थे| इन सब सुधारकों के साथ ही 'ब्रिटिश इन्डियन एसोसिएशन और जेसोर इन्डियन एसोसिएशन' ने भी जैविक तर्कों को उतनी अहमियत नहीं दी बल्कि नैतिक कारणों, राष्ट्र निर्माण तथा श्रेष्ठ नस्ल के तर्क को प्रमुखता दी|'[29]

इस तरह बाल-विवाह से होने वाले हानियों में लड़कियों से सम्बंधित तर्कों को स्वीकार नहीं किया जा रहा था, जबकि बाल-विवाह के कारण लड़कियों को शारीरिक परेशानियों का सामना तो करना ही पड़ता था, उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए भी बाल-विवाह घातक था| समाज सुधारकों की यह सीमा रही कि वे बाल-विवाह को, बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के अवरोध के रूप में नहीं देख पा रहे थे| उनकी दृष्टि में विवाह की आयु बढ़ाने के लिए भारतीय समाज का पिछड़ापन ही प्रमुख कारण था|

---

[27] वही, पृष्ठ 54

[28] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 55

[29] वही, पृष्ठ 61-62

भारतीय समाज के पिछड़ेपन और उसके गुलाम होने का चाहे जो भी कारण रहा हो, लेकिन स्त्रियों के पिछड़ेपन का कारण; स्त्रियों की अधीनता का कारण पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना और साथ ही भारतीय ब्राह्मणवादी मानसिकता ज्यादा जिम्मेदार थी| इस मानसिकता पर कोई भी समाज सुधारक सवाल नहीं कर रहा था| इसी मानसिकता की वजह से समाज-सुधारक स्त्रियों की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पा रहे थे| इसके कारण ही स्त्रियों की समस्याओं में बुनियादी परिवर्तन नहीं हो पा रहा था| सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं की वजह से तमाम तरह की समस्याओं से घिरी स्त्रियों की स्थिति में सुधार संदिग्ध ही बना रहा|

स्त्रियों की उपेक्षा का सवाल वर्चस्वशाली पितृसत्ता के स्वार्थों में निहित है, जिसकी आलोचना न साम्राज्यवादियों ने किया न समाज सुधारकों ने और न ही इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान दिया| बकायदा अंग्रेज साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा स्थापित विचारधारात्मक भ्रम को भारतीय समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने अपनी रुढ़िवादी और स्त्री-विरोधी पितृसत्तात्मक निर्मितियों को स्वयं को निर्दोष या यु कहे कि अपने हित में इस्तेमाल किया|

परम्परावादियों ने स्त्रियों की समस्याओं को राष्ट्रवादी विचारधारा की आड़ में हमेशा पीछे ढकेलने की कोशिश की| हालांकि कुछ मामलों में स्त्रियों ने राष्ट्रवादी विचारधारा को अपने हित में मोड़ने का प्रयास ज़रूर किया| ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को सवाल के घेरे में लाने का प्रयास पहले- पहल स्त्री नेत्रियों और लेखिकाओं द्वारा ही किया गया|

जितने उत्साह के साथ समाज ने बाल-विवाह के विरोध में अभियान चलाया था, व्यावहारिक रूप से अन्य समाज सुधार अभियानों की तरह, इसकी सफलता भी संदिग्ध रही| कुछ समाज सुधारक तो जिन समस्याओं का विरोध कर रहे थे, व्यक्तिगत स्तर पर भी उसे नाकाम करने में असफल रहे| जैसा कि राधा कुमार ने लिखा हैं कि –

"उन के एक प्रभावशाली समाज सुधारक अपनी पहली पत्नी के मत्यु के पश्चात किसी अन्तर्जातीय व्यक्ति के यहाँ भोजन करने या 'किसी विधवा के साथ विवाह' करने के बजाय अपने घर बाल- वधू लाना उचित समझा|"[30]

स्त्री-प्रश्न और समाज सुधार अभियान की असफलता का एक कारण यह भी है कि '१८७३ उदारवादी राजनीतिक संगठन सार्वजनिक सभा के गठन के साथ ही उसके सदस्यों ने तय किया कि वे 'धार्मिक मामलों' में दखल नहीं देंगे|'[31] जबकि सबसे ज्यादा सुधार की ज़रूरत धार्मिक मामलों में ही था| फिर वे किस तरह की सुधार की बात कर रहे थे?

राजनैतिक और धार्मिक मामलों को अलगाने का फायदा यह हुआ कि समाज सुधारक अपने पारम्परिक और सामाजिक विशेषाधिकारों को पहले की तरह ही बरकरार रख सकते थे| साथ ही राजनैतिक रूप से भी स्वयं को मजबूत स्थिति में ला सकते थे और ऐसा हुआ भी|इसी तरह चाहे विधवा-पुनर्विवाह की बात हो या बाल-विवाह विरोध का सवाल, इसके विरोध में दिए गए जैविक-शारीरिक कारणों को पृष्ठभूमि में डालकर नैतिक कारणों को प्रमुखता देने की वजह से स्त्रियों की व्यक्तिगत परेशानियों और उनके व्यक्तिगत विकास को नजरअंदाज किया गया| बाल-विवाह के कारण बच्चों के व्यक्तित्व का विकास सबसे ज्यादा प्रभावित होता है| इसे सिर्फ सामाजिक आधार पर विरोध करने से इसमें सफलता की गुंजाइस जाती रही| यहाँ तक कि 'जेसोर इंडियन ए सोसिएशन' ने बाल- विवाह को 'युवाओं के एकांतवास में दुर्व्यसनों में लिप्त होने से रोकने का सबसे बड़ा अंकुश'[32] के सन्दर्भ में भी परिभाषित किया| जिस समस्या को सुधारने के लिए अभियान चलाया गया उसी को समाज की नैतिकता को नियंत्रित करने के लिए सही ठराया जाने लगे, इससे बड़ी दुखद स्थिति क्या हो सकती है?

---

[30] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 63

[31] वही, पृष्ठ63

[32] वही, पृष्ठ 62

बच्चों के शारीरिक और व्यक्तित्व निर्माण को प्रमुखता देने की बजाय 'हिन्दू पैट्रियाक' ने भी यह घोषणा की कि "हिन्दू समाज की रचना इस प्रकार की गई है कि उसकी समाज व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बाल-विवाह आवश्यक है| शीघ्र विवाह की रीति को मिटने से संयुक्त परिवार तथा जाति व्यवस्था चरमरा जाएगी|"[33]

उच्च वर्ग के पुरुष समाज सुधारक राजनैतिक रूप से अधिकार सम्पन्न होना तो चाहते थे लेकिन सामाजिक-धार्मिक और जातिगत विशेषाधिकारों में किसी तरह का बदलाव स्वीकार नहीं कर रहे थे| स्त्रियों के बेहतरी के मामले में तो समाज सुधारक और परम्परावादी दोनों ही निष्पक्षता का परिचय नहीं दे पा रहे थे| ऐसी स्थिति में बहुत जल्द ही इनकी सीमाएं स्पष्ट हो जाती थी| समाज सुधारक और परम्परावादी दोनों ही अपने पितृसत्तात्मक विशेषाधिकारों में किसी तरह की चुनौती नहीं स्वीकार करना चाहते थे| यदि बदलाव भी चाहते थे तो बस उतना ही जिससे कि उनके सामाजिक और धार्मिक हैसियत में किसी तरह का हस्तक्षेप न हो रहा हो| सामाजिक और धार्मिक नियम-कायदों में बदलाव का सीधा असर स्त्रियों के हितों के साथ जुड़ता है क्योंकि अधिकांश नियम-कायदे स्त्रियों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से ही बनाये गये है| ऐसी स्थिति में धार्मिक-सामाजिक मूल्यों में बदलाव पुरुषों के पितृसत्तात्मक तथा उच्च वर्ग के पुरुषों के जातिगत विशेषाधिकारों में कमी होना लाजमी हो जाता है, क्योंकि पितृसत्तात्मक और जातिगत विशेषाधिकार एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए है| चूँकि पुरुष समाज सुधारक विशेष रूप से उच्ची जाति के विशेषाधिकार प्राप्त पुरुष ही थे, ऐसी स्थिति में धार्मिक और सामाजिक मूल्यों में बदलाव उनके पितृसत्तात्मक विशेषाधिकारों को चुनौती देने के साथ ही उनके जातिगत विशेषाधिकारों को भी चुनौती देता, जिसे वे स्वीकार नहीं करना चाहते थे|

जहाँ तक स्त्रियों की समस्याओं, चाहे वो बाल-विवाह की समस्या हो, विधवा-पुनर्विवाह की बात को या स्त्री-शिक्षा का सवाल, समाज सुधारकों ने इसे स्त्रियों के अधिकारों के साथ कभी भी सम्बन्धित करके नहीं देखा| स्त्रियों की समस्याओं में मूलभूत सुधार करना समाज

[33] वही, पृष्ठ 62

सुधारकों के लिए कभी भी प्रमुख नहीं रहा| कुछ समाज सुधारक, जो सच्चे मन से स्त्रियों के हितों और उनके विकास को ध्यान में रखकर बदलाव की मांग कर रहे थे, उनकी मांगों को खास अहमियत नहीं दी जा रही थी| उनके विचारों को उस तरह से प्रचार-प्रसार के लिए स्पेस नहीं मिल पा रहा था जिस तरह से उदार समाज सुधारकों और परम्परावादियों के विचारो को स्पेस मिल रहा था| यही नहीं उनके विचारों को हमेशा भारतीयता के विरोध में परिभाषित किया जाता था, जिससे उनके विचार सामान्य जनता में उस तरह से मान्य नहीं होते जिस तरह से मुख्यधारा के समाज सुधारकों के विचार जनता को प्रभावित करने में कामयाब होता था| पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, रुख्माबाई, सीमन्तनी उपदेश की लेखिका, उमा नेहरु, सुमित्राकुमारी सिन्हा इत्यादि महिला आन्दोलन की नेत्रियो और लेखिकाओं को भी इसी कड़ी में देखा जा सकता है| इनके विचारों को उस तरह से अहमियत नहीं दी जा रही थी, जिस तरह से समाज सुधारकों के द्वारा चलाए गए सुधार अभियान को|

स्त्रियों की स्थिति में सचमुच बदलाव के इच्छुक समाज सुधारकों और नेत्रियों के विचारों को प्रमुखता नहीं दिए जाने के कारण ही स्त्रियाँ या सामान्य जनता उनके विचारों के सम्पर्क में नहीं आ पाते हैं, जिससे उनके विचार भी सही दिशा की तरफ नहीं जा पाता है और उनके विचारों और कार्यों में अंतर्विरोध देखने को मिलता है| हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों के भीतर महिला नेत्रियों के नेतृत्व में चला महिला सुधार आन्दोलन की स्थिति बहुत कुछ मामलों में पुरुष समाज सुधारकों के दृष्टिकोणों से भिन्न था, जिसे ज्यादा अहमियत नहीं दी गयी| उन्हें मुख्यधारा के विचारकों द्वारा नजरंअदाज किया गया और उनके विचारों को गलत तरह से परिभाषित भी किया गया|

लेकिन बहुत समय तक इसे नज़रअंदाज करना भी आसन नहीं था, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दौर में और उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में ही महिला नेत्रियां और लेखिककाएं पुरुषों के स्त्रियों के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैयों और उनके विशेषाधिकारों पर सवाल उठाने लगी थी| बीसवीं सदी में महिला संगठनों का अस्तित्व में आना, पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करना और बड़ी संख्या में साहित्य का लिखा जाना स्त्री-चेतना के लिहाज से

उल्लेखनीय उपलब्धि माना जा सकता है| अब उन्हें बेबुनियाद दलीलों से बहलाना और संतुष्ट करना आसन नहीं था| अब महिलाएं भी अपनी बेहतरी के लिए व्यक्तिगत स्तर पर प्रयास करने लगी थी| मात्र पुरुषों के सुधार अभियान के सहारे वो अब नहीं रह गयी थी| पितृसत्ता के बेबुनियाद दलीलों पर तर्क करने और अपने सवालों को बेहतर तरीके से उठाने लगी थी| अब उनकी भावनाओं और अधिकारों को व्यक्त करने के लिए किसी और की जबान की ज़रूरत नहीं थी| क्योंकि अपनी भावनाओं को वो बेहतर तरीके से समझने और अभियक्त भी करने लगी थी|

बाल-विवाह के प्रति हिंदी-क्षेत्र के साहित्यकारों और समाज सुधारकों का दृष्टिकोण क्या था? आधुनिक हिन्दी के निर्माता कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चंद और उनके मंडल के साहित्यकार बाल -विवाह को कैसे देखते थे?

भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा संपादित स्त्रियों की पहली हिंदी पत्रिका 'बालाबोधिनी' (१८७४) में स्त्रियों की शिक्षा का घरेलूकरण करने के सिवाय और किसी समस्या को उठाना शायद गैरजरूरी समझा गया| हिंदी क्षेत्र के साहित्यकारों ने बाल-विवाह या अन्य स्त्री समस्याओं को अगर उठाया भी तो उनके सुधार का स्वरूप भी परम्परागत ही था| हिंदी के साहित्यकार भी धार्मिक और सामाजिक नियम-कायदों के भीतर ही सुधार की बात को स्वीकार करते थे| प्रतापनारायण मिश्र द्वारा लिखित 'बाल्यविवाह' शीर्षक लेख बाल-विवाह के विरुद्ध में कम, इस बात के पक्ष में ज्यादा लिखा गया है कि 'बाल-विवाह को क़ानूनी तरीके से रोकने की ज़रूरत नहीं है बल्कि धार्मिक ग्रंथों के नियमानुसार सही तरीके से लागू करने की जरूरत है|

प्रतापनारायण मिश्र ने धार्मिक गन्थों के आधार पर यह साबित करने की कोशिश की है कि धार्मिक ग्रन्थों में विवाह-विषयक, जो भी निर्देश दिए गए है, वो बिल्कुल सही है| लोगों द्वारा इसे सही तरीके से पालन न करने की वजह से ही तमाम तरह की समस्याएं पैदा हो गयी है| अत: धार्मिक ग्रन्थों की और उनमें दिए गए नियम-कायदों की आलोचना करना बेबुनियाद है| धार्मिक ग्रंथों में दिए गए श्लोकों का उदाहरण देते हुए वो दलील देते हैं कि –

"शास्त्र के अनुसार जिस कन्या का ब्याह आठवीं वर्ष में होगा उसका गौना सात वर्ष में होना चाहिए| तब–तक वह आठ और सात पन्द्रह वर्ष की हो जाएगी और उसका पति जो ब्याह के समय सोलह वर्ष का था इस समय सोलह सात तेईस वर्ष का हो जायेगा|"[34]

जाहिर है कि इस जोड़–तोड़ के द्वारा प्रतापनारायण मिश्र बाल-विवाह से उपजी समस्याओं पर नहीं बल्कि इस बात पर ज्यादा जोर दे रहे थे कि धार्मिक ग्रन्थों की महत्ता को कैसे और किस तरह से उचित ठहराया जाए|

1.1.5 मृत्स्त्रीक विवाह और स्त्री-प्रश्न :

बीसवीं शताब्दी के दौरान शिक्षित स्त्रियों के नेतृत्व में चल रहा महिला आन्दोलन का ध्यान उन समस्याओं की तरफ भी गया, जिसे समाज सुधारक और साहित्यकार समस्या के रूप में शायद ही रेखांकित करने के पक्ष में रहे हो| इन समस्याओं में मृत्स्त्रीक विवाह की समस्या एक गम्भीर समस्या थी जिसे महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकाओं ने स्त्रियों के स्वास्थ्य के प्रति बेपरवाह होने और उनकी अवहेलना से जोड़कर देखा| मृत्स्त्रीक विवाह में पत्नी के मर जाने के बाद पुरुष अपनी दूसरी शादी आसानी से कर सकता था| इसी तरह तीसरी, चौथी और पाचवीं कई शादियाँ करने के लिए स्वतंत्र था| वैसे तो पत्नी के मर जाने के बाद शादी करना गलत नहीं है लेकिन लेखिकाओं का यह मानना था कि इस प्रथा के प्रचलन के कारण पुरुष अपनी पत्नी की देखभाल के प्रति गम्भीर नहीं होते| इस प्रथा के कारण स्त्रियों की हो रही उपेक्षा को महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकाओं ने पुरुषों की स्वार्थपरता के साथ जोड़ कर देखा| इस प्रथा के कारण पति अपनी पत्नी की बीमारी या किसी भी तरह की समस्याओं को गंभीरता से नहीं लेता था| घर के दूसरे सदस्य भी उसके साथ सही से पेश नहीं आते थे क्योंकि उन्हें मालूम था की एक पत्नी के मर जाने के बाद पति की जिन्दगी में किसी तरह का फर्क या बदलाव नहीं आता था| बकायदा उन्हें फिर से नई, कम उम्र की और स्वस्थ पत्नी मिल जाती थी|

[34] प्रतापनारायण मिश्र, बाल्यविवाह, हिंदीसमय.कॉम

महिला आन्दोलन की नेत्रियों और हिंदी की लेखिकाओं ने पुरुषों की इस स्वार्थपरता को कड़े शब्दों में आलोचना की| उनका मानना था कि मृत्स्त्रिक विवाह की प्रथा को पुरुष अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए बेजा इस्तेमाल करते हैं| आसानी से विवाह हो जाने के कारण पुरुष स्त्रियों के स्वास्थ्य और उनकी भावनाओं को अहमियत नहीं देते हैं, जिसके कारण स्त्रियों को घोर उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है| इसका गंभीर असर स्त्रियों के गर्भावस्था के दिनों में देखने को मिलता है जब स्त्रियों का स्वास्थ्य बुरी तरह से प्रभावित हो जाता था| ध्यान न देने की वजह से उनकी मृत्यु असमय ही हो जाती थी| गर्भावस्था के दिनों में स्त्रियों की तरफ विशेष ध्यान न देने का कारण लेखिकाओं ने मृत्स्त्रीक विवाह के प्रचलन को माना है|

यह कारण बेबुनियाद नहीं था| भारतीय समाज में जहाँ लड़कियों को बदतर जिन्दगी बितानी पड़ती है ; जहाँ दहेज के बिना लडकियों की शादी करना दुष्कर कार्य है, ऐसी स्थिति में पुरुषों के लिए दूसरी शादी करना बेहद आसन हो जाता था| विधवा-पुनर्विवाह का प्रचलन न होने के कारण और बाल-विवाह के प्रचलन के कारण बड़े उम्र के पुरुषों के लिए भी कम उम्र की लड़कियां आसानी से मिल जाया करती थी| ज्यादातर बाप अपनी बेटियों की शादी विधुर पुरुषों के साथ करने के लिए इसलिए भी तैयार हो जाते थे क्योंकि उन्हें कम दहेज देना पड़ता था या बिना दहेज के ही ऐसे पुरुष शादी के लिए तैयार हो जाते थे| इस तरह इस प्रथा को पुरुष अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए इस्तेमाल करता था तो दूसरी तरफ़ स्त्रियों को विभिन्न समस्याओं से जूझना पड़ता था|

पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों का ध्यान ज्यादातर स्त्रियों को बदलने उन्हें नैतिक उपदेश देने और परम्परागत समाज के लिए उन्हें उपयोगी बनाने के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता था| वो स्त्रियों का उद्धार इसलिए भी करना चाहते थे ताकि वे अपनी पारिवारिक और सामाजिक हैसियत को बेहतर बना सके| खुद की स्वार्थपरता और अन्याय पूर्ण रवैये की तरफ उनका ध्यान कभी नहीं गया| यह रवैया समाज सुधारकों की संकुचित मानसिकता को ही दर्शाता है| लेखिकाओं ने पुरुषों की इसी संकुचित मानसिकता की आलोचना की है|

प्रो. वीर भारत तलवार ने 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में प्रकाशित हुक्मा देवी का लेख 'स्त्री उन्नति कैसे हो' के हवाले से मृत्स्त्रीक विवाह के कारण स्त्रियों पर होने वाली ज्यादतियों का उल्लेख्य किया है| स्त्रियों को किस तरह से अभावग्रस्त और उपेक्षित जिन्दगी बितानी पड़ती है, इस पर प्रकाश डालते हुए हुक्मा देवी लिखती हैं कि-

"पशु अथवा पक्षी पालने वाले पुरुष को उनके मरने अथवा उड़ जाने पर कही अधिक शोक होता है पर अपनी पत्नी के रोगग्रस्त होने अथवा मरने पर उतना भी नहीं; क्योंकि स्त्री पैर की जूती है फट गई तो नई आ जाएगी| एक निर्दोष धर्मज्ञ ब्रह्मचारिणी कन्या का विवाह मृत्स्त्रिक पुरुष के साथ कर दिया जाता है| धर्म-अधर्म का कुछ भी विचार नहीं किया जाता| स्त्री बीमार पड़ती है तो वह चाहे कितनी सुन्दर, पतिव्रता और गुणवती क्यों न हो, पुरुष सोचता है की इसका पाप कटे और हम दूल्हा बनकर नई बहु लाकर आनन्द उड़ावे|"[35]

हुक्मा देवी के इस क्षोभपूर्ण लहजे से यह अंदाजा लगाना कठिन नहीं है कि मृत्स्त्रीक विवाह के कारण स्त्रियों की दशा कितनी नाजुक और गंभीर होगी| प्रो. वीर भारत तलवार का कहना हैं कि- "स्त्री-दर्पण' के अंकों में स्त्रियों के जितने तीखे लेख इस सवाल पर छपे, उतने और किसी सवाल पर नहीं|"[36]

हिंदी साहित्य में भी लेखिकाओं ने इस समस्या की गंभीरता को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है| इस समस्या के प्रति लेखिकाएं कितनी गंभीर थी इस बात का अंदाजा इससे भी लगाया जा सकता है कि जैसा की प्रो. वीर भारत तलवार ने गुलाब देवी चतुर्वेदी द्वारा 'स्त्री-दर्पण' के १९१८ के अंक में लिखे गये लेख का हवाला देते हुए लिखा है कि – "एक पत्र लेखिका ने सुझाव दिया कि प्रयाग में एक कन्या हितकारिणी सभा स्थापित की जावे| उस

[35] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 131

[36] वही, पृष्ठ 131

सभा का मुख्य उद्देश्य यही होगा कि मृत्स्विक पुरुषों के साथ कुवांरी कन्याओं का विवाह रोका जावे|"[37]

पितृसत्तात्मक समाज की वास्तविकता और पुरुषों की नज़र में स्त्रियों की क्या हैसियत थी, इसे आलोचना का विषय पहली बार लेखिकाओं ने ही बनाया| यह चेतना ही स्त्रियों के आन्दोलन को पुरुषों के आन्दोलन से अलग स्थापित करता है| बीसवीं शताब्दी के दौरान स्त्रियों के सोचने के तरीकों में काफी बदलाव देखा जा सकता है| वो पुरुषों के दोहरे चरित्र को पहचानने लगी थी और मुखर होकर उसकी आलोचना भी करती थीं|

स्त्री-मुक्ति के बदलते हुए इस स्वरूप को और पुरुषों की स्वार्थपरता को आगस्त बेबल के हवाले से अच्छी तरह समझा जा सकता है –

"समय बदल रहा था और स्त्री की पराधीनता सार्वभौमिक थी जिसे पुरुष खुले तौर पर घमंड के साथ ज्ञापित करते थे, इसलिए नारी मुक्ति के आन्दोलनों के लिए अभी भी काफी गुंजाइस थी किन्तु इस दौर में इन्हें महिलओं के बीच समर्थन मिल पाने के लिए इनका विशेष रूप से नारीवादी होना ही पर्याप्त नहीं था, उन्हें सार्वभौमिक मनुष्य की मुक्ति का आन्दोलन होना आवश्यक था|"[38] उस दौर के हिंदी के साहित्यकारों द्वारा समाज सुधार आन्दोलन को मनुष्य की मुक्ति का आन्दोलन बनने में शायद अभी समय बाकी था|

1.1.6 स्त्री-शिक्षा का सवाल :

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सामाज सुधार आंदोलनों में स्त्री-शिक्षा का सवाल सबसे अहम सवाल था| समाज सुधारकों के नेतृत्व में चल रहा महिला सुधार आन्दोलन में इस बात पर ज्यादा जोर दिया जा रहा था कि स्त्रियों को किस तरह से शिक्षित किया जाये कि वो बदलते हुए सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढाल सकें| उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उठाये गए समाज सुधार आंदोलनों में स्त्री-शिक्षा का सवाल बेहद अहम

[37] वही, पृष्ठ 131

[38] हेबरमास, साम्राज्य का युग, (आगस्त बेबल, वूमेन एंड सोशलिज्म) संवाद प्रकाशन, संस्करण 2009, पृष्ठ 282

और उल्लेखनीय था| औपनिवेशित भारत में स्त्री-शिक्षा के लिए शुरुआती प्रयास अंग्रेज तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा १८१० ई. में शुरू किया गया| 'स्त्रियों की शिक्षा से सम्बन्धित पहली पुस्तक किसी भारतीय भाषा (बंगाली) में १८१९ में एक भारतीय गुरुमोहन विद्यालंकार द्वारा लिखी गई जिसे कलकत्ता की कन्या बाल समिति ने १८२० में प्रकाशित किया'[39]

हिंदी क्षेत्र में अगर स्त्री-शिक्षा की बात की जाये तो भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा स्त्री-शिक्षा को ध्यान में रखकर 'बालाबोधिनी' (१८७४) मासिक पत्रिका का सम्पादन किया गया| इस पत्रिका में स्त्रियों की शिक्षा का घरेलूकरण किया गया है| इसके अलावा गौरीदत्त रचित उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (१८७०) 'जिसे एक वृद्ध और पढ़ी-लिखी स्त्री की सम्मति से पंडित गौरीदत्त ने बनाई|

श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखित उपन्यास 'भाग्यवती' (१८७७) में भी स्त्रियों को किस तरह से शिक्षित किया जाएँ, विशेष रूप से इस उपन्यास का विषय बनाया गया है|

स्त्री-शिक्षा समाज सुधारकों और साहित्यकारों के लिए क्यों अहम था, इस पर प्रकाश डालते हुए प्रो. वीर भारत तलवार ने लिखा हैं कि –

"बदलते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में शिक्षित पुरुष और अशिक्षित स्त्री के बीच की खाई ने सामाजिक और पारिवारिक ढांचे में संकट पैदा कर दिया था|..बदलती हुई सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में यह अलगाव एक अंतर्विरोध में बदलता गया| शिक्षित पुरुष अपनी अशिक्षित स्त्रियों के साथ निबाह न कर पाते थे| उनके द्वारा अपनी अशिक्षित स्त्रियों के साथ तिरस्कार और अपमान का व्यवहार स्त्री-जीवन का एक और अध्याय बन गया|"[40]

---

[39] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 38

[40] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृष्ठ 137

स्त्री-शिक्षा को जितना स्त्रियों के लिए जरूरी समझा जा रहा था उससे कहीं ज्यादा स्त्रियों का पढ़ा-लिखा होना मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे पुरुषों के लिए जरूरी हो गया था| स्त्रियों को शिक्षित करने पर बल इसलिए भी दिया जा रहा था, ताकि वो सुरुचिपूर्ण घर-परिवार की देखभाल कर सकें, लेकिन पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ घरेलू क्षेत्र के अलावा सार्वजनिक क्षेत्रों में भी सक्रिय रहने लगी थी| जिससे स्त्रियों पर घर और बाहर के कार्यों में सामंजस्य बैठने का दबाव बढ़ता जा रहा था| साथ ही अब पुरुषों को भी पढ़ी-लिखी सार्वजनिक–क्षेत्र में भाग लेने वाली पत्नी के साथ सामंजस्य बैठाना मुश्किल होने लगा था| इस नई भूमिकाओं के साथ रहने और उसमें सामंजस्य बैठने में आ रही समस्याओं को विषय बनाकर लेखिकाओं ने रचना की है| सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की बढती हुई भागीदारी ने पुरुषों में असुरक्षा की भावना को जन्म दिया शायद यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में पुरुष लेखकों की रचनाओं में पढ़ी-लिखी स्त्रियों की छवि को 'मेम साहेब' और 'तितली' की तरह स्वछन्द रहने वाली के रूप में परिभाषित किया गया है| स्त्रियों की शिक्षा की जब भी बात आती है तो उसे पश्चिमी और भारतीय शिक्षा के नाम पर, आधुनिक शिक्षा देने का विरोध किया जाता है| इस कश्मकश में 'पश्चिमी स्त्री और भारतीय स्त्री का ध्रुवीकरण किया गया| उस दौर के साहित्य में यह भी देखने को मिलता है कि किस तरह से उच्च शिक्षा प्राप्त; सभा सोसाइटी में भाग लेने वाली स्त्रियों के चरित्र को शंका की दृष्टि से देखा गया| चारित्रिक रूप से उन्हें पतनशील माना जाने लगा|

हिंदी-क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चंद द्वारा स्त्री-शिक्षा को केंद्र में रखकर संपादित पत्रिका 'बालाबोधिनी' में स्त्री-शिक्षा के नाम पर स्त्रियों की शिक्षा का आदर्शीकरण किया जा रहा था| 'बालाबोधिनी' में जिस तरह की स्त्री-शिक्षा का उल्लेख किया गया है उससे साफ जाहिर है कि भारतेंदु स्त्रियों के स्कूली और उच्च शिक्षा के पक्ष में नहीं थे| 'बालाबोधिनी' पत्रिका के माध्यम से भारतेंदु हरिश्चंद एक ऐसी स्त्री का निर्माण करना चाहते थे, जिसका उठाना-बैठना, हंसना-बोलना पितृसत्तात्मक मूल्यों और धार्मिक नियम-कायदों के अनुसार हो| जबकि उसी दौर में महिला आन्दोलन के नेत्रियाँ – पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे,

'सीमन्तनी उपदेश' की लेखिका न केवल स्त्रियों को शिक्षित करने के पक्ष में थी बल्कि धार्मिक ग्रंथों को स्त्रियों की अधीनता के प्रमुख कारणों में मान रही थी| स्त्री-आन्दोलन की नेत्रियों ने धार्मिक ग्रन्थों को पुरुषों की स्वार्थपरता के साथ जोड़ कर देखा और उसकी कटु आलोचना की|

1.1.7 पर्दा प्रथा और स्त्री–शिक्षा का सम्बन्ध :

हिंदी क्षेत्र में महिला आन्दोलन की नेत्रियों ने जिस एक और समस्या को गम्भीरतापूर्वक और व्यापक स्तर पर उठाया, वो समस्या पर्दे की समस्या थी| स्त्री-लेखन में पर्दे की प्रथा पर विशेष रूप से प्रहार किया गया है| महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकाओं का यह मानना था कि पर्दे का प्रचलन होने के कारण स्त्री-शिक्षा के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ने में स्त्रियों को समस्याओं का सामना करना पड़ता है| लेखिकाओं ने पर्दा प्रथा को स्त्री-शिक्षा में सबसे बड़ी रुकावट के रूप में परिभाषित किया| लेखिकाओं ने पर्दे के साथ बाल-विवाह को भी स्त्री-शिक्षा के राह रुकावट माना| उनका तर्क था कि पर्दे के कारण एक तरफ स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ने में रुकावट का सामना करना पड़ता है तो दूसरी तरफ बाल-विवाह के कारण बच्चियों की शिक्षा अधूरी ही रह जाती है|

परदा प्रथा स्त्री-शिक्षा को विशेष रूप से प्रभावित करता था| फ्रांचेस्का आर्सीनी इस सम्बन्ध में लिखती है कि-

"पर्दे की वजह से न सिर्फ उन्हें सबके सामने आने या पुरुषों के साथ बातचीत और उठने – बैठने की मनाही थी, उनके जीवन और उनकी भूमिकाएं भी उनके हाथों में नहीं थी|"[41]

परदा प्रथा को कुलीन' और 'इज्जतदार' घर की बहू-बेटियों के लिए जरूरी समझा जाता था| इस दृष्टि से देखे तो पर्दे के खिलाफ महिलाओं द्वारा आवाज उठाना और भी उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हो जाता है| हिंदी-क्षेत्र में हिंदी भाषा की पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका

[41] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 299

'बालाबोधिनी' में 'झोरोखे से झांकना, आँख ऊपर करके उच्ची आवाज में बात करना, एक आदर्श स्त्री का अवगुण माना गया है तथा लज्जा और घूँघट को आदर्श स्त्री के गुण के रूप में परिभाषित किया गया है| इस तरह के मूल्यों और आदर्शों को आत्मसात करने वाली स्त्रियों को समाज में विशेष सम्मान का हकदार माना गया है| यह कोई इत्तेफाक नहीं था की राजेन्द्र बाला घोष एक साहित्यकार और अनुवादक की हैसियत रखते हुए भी, जब उन्हें पुरुषों से बात करनी होती थी, तो उन्हें परदा करना पड़ता था|

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में प्राप्त पुरुष लेखन में परदा को स्त्री-शिक्षा में रुकावट मानने की बात तो दूर है, बकायदा परदा को आदर्श स्त्री के पहचान के रूप में देखा गया है| हिंदी की पहली स्त्री पत्रिका 'बालाबोधिनी' में शमीपत्रा (छुई मुई) को स्त्रियों के लिए आदर्श प्रतीक के रूप में पेश किया गया है| 'लज्जावंती' शीषक लेख में लज्जा को आदर्श स्त्री का प्रतीक मानते हुए लिखा गया है कि-

"अहा! तो इस बगीचे की रतन और शोभा यही है| देखो इसने कुल की बहु-बेटियों को कैसी शिक्षा दी है कि स्त्री-जाति में लाज ही शोभा है जिसको लज्जा नहीं वह कुल की स्त्री नहीं, पराएँ लोगों को देखकर घूँघट करना, लाज करना, औरों से न बोलना, आँखे नीची किए रहना और अंग सकोड़े रहना यही इनकी शोभा है|"[42]

'बालाबोधिनी' में प्रकाशित यह लेख (लाजवंती) स्त्री-शिक्षा और सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी के कितनी ख़िलाफ़ है इसे व्याख्यायित करने की ज,रूरत नहीं है| यह प्रतीक बाहर की दुनिया से स्त्रियों के मेल-मिलाप के बिल्कुल खिलाफ है|

लेकिन बीसवीं शताब्दी के दौरान जब स्त्री आन्दोलन स्त्रियों के हाथ में आता है तो स्त्रियों ने घूँघट को स्त्रियों के लिए हानिकारक माना| लेखिकाओं ने परदा को स्त्री-शिक्षा के साथ ही स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक माना और मुखर होकर इसकी आलोचना की|

[42] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 57

1.2 राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और स्त्री- :

सार्वजनिक- राजनैतिक क्षेत्र में बड़ी संख्या में महिलाओं की भागीदारी तब सम्भव हो पाती है, जब १९२० के दशक में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का आगाज होता है| महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चला साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन ने महिलओं को एक नई भूमिका में ला कर खड़ा कर दिया| इस आन्दोलान में न सिर्फ उच्च वर्ग की महिलाएं भागीदारी कर सकती थी बल्कि निम्नमध्यवर्गीय महिलाएं भी आसानी से जुड़ सकती थी|

१९२० के दशक से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक सार्वजनिक-राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को किसी विशेष विरोध का समाना नहीं करना पड़ता है| १९२० के दशक में महात्मा गाँधी के प्रभाव से औपनिवेशिक भारत में ऐसा पहली बार होता है कि महिलाएं पारिवारिक दायरे से बाहर निकलने में कामयाब होती है जहाँ से निकलना उनके लिए असम्भव बना दिया गया था| घर की चारदीवारी और घूँघट में कैद महिलाओं का सार्वजनिक-क्षेत्र से जुड़ना; राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना और जेल जाना क्या इतना आसान था? राष्ट्रीय आन्दोलन में निर्विरोध शिरकत करना महिलाओं के लिए अगर आसान था तो इसके पीछे क्या कारण हो सकता है? जबकि समाज सुधारक और साहित्यकार घर के झरोखे से स्त्रियों के झाँकने के भी सख्त विरोधी थे| फिर वो कौन-सी परिस्थितियां थी जो राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी को सम्भव बनाती हैं ? इसके साथ यह भी सवाल है कि क्या राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी को स्त्री-चेतना के सन्दर्भ में परिभाषित किया जा सकता है? राष्ट्रीय आन्दोलन में आसानी से महिलाओं की भागीदारी के सम्बन्ध में लता सिंह का कहना हैं कि –

“महिलाओं की राजनीतिकरण की यह प्रक्रिया इतने निर्बाध व सहज ढंग से हुई कि पुरुष संरक्षकों की ओर से किसी रुकावट की बजाय उनकी सराहना ही मिली| इसका मुख्य कारण

यह था कि राष्ट्रीय आन्दोलन को एक धार्मिक मिशन के रूप में देखा गया, स्वाधीनता संग्राम को देश पूजा माना गया"[43] (५५)

यह बात बहुत हद तक सही भी है कि महिलाओं को अपने घर के पुरुषों और समाज की तरफ से राष्ट्रीय आन्दोलन में, विशेषरूप से महत्मा गाँधी द्वारा चलाए गये शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक आन्दोलन में आसानी से भाग लेने की इजाजत मिल गयी थी, लेकिन यह महिलाओं के लिए इतना आसान भी नहीं था| महिलाओं के लिए परेशानी तब बढ़ जाती थी जब उन्हें घर और बाहर के कार्यों में तालमेल बैठा कर चलना पड़ता था| उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने की इजाजत जरूर मिली थी लेकिन परम्परागत भूमिकाओं में किसी तरह की छूट मिलना अभी भी बड़ा कठिन था| उन्हें राजनैतिक कार्यों, पितृसत्तात्मक मूल्यों तथा कुलीन घर के नियम-कायदों को बड़ी सावधानी के साथ संतुलित करना पड़ता था| ऐसी स्थिति में उन पर यह दबाव बना रहता था कि वो पारम्परिक स्त्रैण भूमिकाओं को और भी सावधानीपूर्वक निभाएं|

हालांकि यह ऐसा दौर था जो महिलाओं के लिए विभिन्न दृष्टियों से अनुकूल साबित हुआ| इससे सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की सक्रियता बढ़ गयी| बाहर की दुनिया से उनका सम्पर्क भी सम्भव हुआ, जिससे उनके अन्दर जागरूकता का भी विकास हुआ| स्त्री-चेतना के सन्दर्भ में फायदा यह हुआ कि स्त्रियाँ विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय दिखाई देने लगीं, जो इससे पहले सम्भव नहीं था| अब महिलाएं खुद अपनी और देश की समस्याओं पर विचार-विमर्श करने लगी थी| पहले पुरुष समाज सुधारक स्त्रियों के उद्धारक की भूमिका में थे लेकिन अब स्त्रियाँ भी अपने लिए आवाज उठाने लगी थी| यह भारत और हिंदी के साहित्यिक - सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्री-चेतना का आगाज था| जिसे सम्भव और आसन बनाया सम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन ने| राष्ट्रीय आन्दोलन ने स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं और प्रथाओं का विरोध करने के लिए अनुकूल भूमिका का निर्माण किया|

[43] साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपादित) नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे (सपादक)), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ 55

फिर भी सार्वजनिक-क्षेत्र से खुद को जोड़े रखना स्त्रियों के लिए आसन नहीं था| क्योंकि उन पर पारिवारिक जिम्मेदारियों को भी अच्छी तरह से निभाने का दबाव था| जिस तरह से उस दौर में आदर्श महिला का चरित्र निर्माण किया जा रहा था, उससे स्त्रियों पर घर परिवार और बच्चों की देखभाल की नैतिक जिम्मेदारी और भी बढ़ गयी होगी| शुरुआती दौर में भले ही स्वतन्त्रता आन्दोलन को धार्मिक मिशन मान कर स्त्रियों की भागीदारी को इजाजत दे दी गयी थी; उन्हें 'शक्ति का अंश' मानकर आन्दोलन से जुड़ने की इजाजत मिल गयी हो लेकिन यह दृष्टि बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकती थी|

राष्ट्रीय आन्दोलन के जरिये महिलाएं राजनैतिक क्षेत्र से तो जुड़ गयी लेकिन कदम-कदम पर उन्हें सावधानीपूर्वक चलना पड़ता था| हम देखते है कि किस तरह से हिंदी के साहित्यिक क्षेत्र में पढ़ी-लिखी और सार्वजनिक क्षेत्र में भाग लेने वाली स्त्रियों के चरित्र को संदिग्ध दृष्टि से देखा जा रहा था|

राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी को आवश्यक भी समझा जा रहा था| महात्मा गाँधी का राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी की आवश्यकता पर कहना था कि –

"जब-तक सार्वजनिक जीवन में भारत की स्त्रियाँ भाग नहीं लेती तब-तक हिंदुस्तान का उद्धार नहीं हो सकता| जिस स्वराज में स्त्रियों का पूरा–पूरा भाग न हो, वह मेरे लिए निकम्मा स्वराज है|"[44]

इस तरह १९२० के दशक में राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी का प्रभाव बेहद प्रभावशाली था| कोई भी क्षेत्र महात्मा गाँधी के प्रभाव से अछूता नहीं था| १९२०-२१ में असहयोग आन्दोलन के दौरान गाँधी जी के आह्वान पर देश के वकील, डाक्टर, युवा नवजवान सभी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ अपने-अपने पदों से इस्तीफ़ा देकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल हो गए थे| इस आन्दोलन से महिलाएं भी अछूती नहीं रही| इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ|

[44] सुजाता, बापू और स्त्री, प्रकाशन: सर्व सेवा संघ वाराणसी, पहला संस्करण जून 2012, पृष्ठ 26

महात्मा गाँधी सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को आवश्यक तो मानते थे लेकिन इसके साथ ही स्त्रियों की चारित्रिक दृढ़ता; धार्मिक-नैतिक शुद्धता की आवश्यकता पर भी जोर देते थे| एक तरह से महात्मा गाँधी की दृष्टि में राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता स्त्रियों की चारित्रिक पवित्रता के साथ भी जुड़ी हुई थी| पुरुष अपनी स्त्रियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने से नहीं रोकते थे क्योंकि स्त्रियों का सार्वजनिक क्षेत्र में भाग लेने से पारम्परिक भारतीय समाज में अतिरिक्त हस्तक्षेप नहीं होता था|

एक तरफ महात्मा गाँधी का यह मानना था कि –

"मैं सदा कहता आया हूँ कि सार्वजनिक जीवन में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती तब-तक भारत का उद्धार नहीं हो सकता है|"[45] तो दूसरी तरफ उनका यह भी कहना था कि –

"सार्वजनिक जीवन में वही भाग ले सकेंगी जो तन और मन से पवित्र है| जिनके तन और मन एक ही दिशा में- पवित्र दिशा में चलते रहे हो| जब-तक ऐसी स्त्रियाँ हिंदुस्तान के सार्वजनिक जीवन को पवित्र न कर दे, तब-तक रामराज्य संभव नहीं है|"[46]

अपने पवित्रतावादी आग्रह के कारण ही महात्मा गाँधी राष्ट्रीय आन्दोलन में वेश्याओं की भागीदारी को स्वीकार्य नहीं कर पा रहे थे|

सती-सावित्री होने का मतलब अब बदल चुका था| सती होने का मतलब अब पति की चिता में जलना नहीं था| भारतेंदु हरिश्चन्द्र अपनी पत्रिका 'बालाबोधिनी' में सतीत्व को यह कहकर नहीं परिभाषित कर रहे थे कि जो स्त्री पति के साथ चिता में जल जाती हो सिर्फ वही सती है बल्कि चारित्रिक रूप से पवित्र; मन वचन और कर्म से पति की अनुगामिनी तथा शुद्ध आचरण वाली स्त्री भी सती की तरह ही आदर्श स्त्री है| इस परिभाषा से क्रूरता और बलपूर्वक सती बनाने की मानसिकता को निकाल दिया गया था| सतीत्व की महिमा राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भी बना हुआ था| महात्मा गाँधी सती स्त्री की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि –

[45] सुजाता, बापू और स्त्री, प्रकाशन: सर्व सेवा संघ वाराणसी, पहला संस्करण जून 2012, पृष्ठ 29
[46] वही, पृष्ठ 29

"सती स्त्री वह है जो पति के जीवित रहते और मृत्यु के बाद सत्यपरायण होकर सेवा करे और मन, वचन तथा कर्म से निर्विकार रहे| पति के लिए आत्महत्या करने में ज्ञान नहीं, अज्ञान है| आत्मा मात्र अमर है, वह सर्वव्यापक है, एक देह छूटने पर दूसरी देह का निर्माण करती है और यों करते-करते अंत में देहातीत हो सकती है| यह बात सच है, अनुभव सिद्ध है और आज अनुभवगम्य है| ऐसी दशा में पत्नी का पति के साथ मरना क्यों ठीक माना जाए? .. सती स्त्री की दृष्टि में विवाह वासना को तृप्त करने का साधन नहीं होता बल्कि एक दूसरे को सहारा की भावना से सेवा की शक्ति को बढ़ाने का साधन है| इसलिय सच्ची सती अपना सतीत्व सप्तपदी के समय से ही सिद्ध करती है| वह साहसी बनती है, तपस्विनी बनती है, पति, कुटुम्ब और देश की सेवा करती है, वह घर–गृहस्थी में ..त्यागशक्ति बढ़ाती है और पति में लीन होकर जगतमात्र में लीन होना सीखती है|"[47]

सतीत्व की इस धरणा के कारण ही शायद महात्मा गाँधी वेश्याओं के राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी को उचित नहीं मानते थे| मधु किश्वर के हवाले से राधा कुमार लिखती हैं कि –

"१९२५ में कांग्रेस समिति ने जब वेश्याओं को अपने झंडे तले संगठित किया तो गाँधी जी गुस्से से लगभग पागल हो गये| उन औरतों को गरीब की सहायता करने, सेवा तथा खादी कताई एवं बुनाई जैसे गांधीवादी 'मानवीय' कार्य करने के लिए कहा गया| गांधीजी की नजर में वेश्याओं द्वारा किया गया ऐसा कार्य धूल-राख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था क्योंकि उन्होंने अभी तक वेश्यावृति के जरिये पैसा कमाने का काम नहीं छोड़ा था| अपने को सुधार कर संन्यासिनियों की भांति जीवन व्यतीत करने से पूर्व इन वेश्याओं को 'मानवीय कार्यों' में लगाने के विचार को गाँधी जी द्वारा 'अश्लील' बताया गया| उन्हेंने कहा कि इन औरतों की संगत तो 'चोरो के साथ' से भी बुरी है क्योंकि ये 'समाज की शुचिता का हरण करती हैं|'

[47] वही, पृष्ठ 93

उन्हें तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वे अहम त्यागकर कष्ट सहने तथा चरखा एवं खादी के जरिए अपना सुधार करने के लिए तैयार हों|"[48]

जाहिर है कि गाँधी जी राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी को स्वीकार तो करते थे और इसके लिए उन्होंने महिलाओं को प्रेरित भी किया| सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को आवश्यक भी माना लेकिन साथ ही उन्होंने सीमा भी तय कर दी थी| गाँधी जी की इस पवित्रता और शुद्धता के विचार ने भी स्त्रियों को राष्टीय आन्दोलन से जुड़ने में मदद की|

1.2.1 असहयोग आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी :

राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को महात्मा गाँधी द्वारा समय–समय पर चलाये गए साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के सन्दर्भ में बखूबी समझा जा सकता है| गाँधी जी द्वारा चलाए गए आन्दोलनों में– असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ों आन्दोलन प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है| महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चला ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन जहाँ देश की राजनीति में आमूल-चुल परिवर्तन लाने का काम किया, भारतीय महिलाओं के जीवन को भी विशेष रूप से प्रभावित किया|

सन १९२०-२२ के दौरान गाँधी जी ने जब अंग्रेजों के खिलाफ असहयोग आन्दोलन का आह्वान किया तब पहली बार भारी संख्या में महिलाओं को घर से बाहर; सार्वजनिक क्षेत्र में आने का अवसर मिला| महिलाओं ने इस अवसर को हाथों-हाथ लिया और बड़े उत्साह से राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी| राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की गतिशीलता बढ़ाने में गाँधी जी द्वारा चलाए गए रचनात्मक कार्यों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया| महिलाओं ने रचनात्मक कार्यों द्वारा स्वदेशी के प्रति लोगों में जागरूकता फ़ैलाने का प्रयास किया|

[48] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठा178

विदेशी कपड़ों की होली जलाना, शराब की दुकानों पर धरना प्रदर्शन करना,चरखे के इस्तेमाल पर जोर देना, खादी कपड़ों के प्रति देशवासियों में रूचि जागृत करना इत्यादि गतिविधियां साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का हिस्सा थीं| महिलाओं ने इन गतिविधियों में बढ़-चढ़ कर भाग लिया| स्वदेशी वस्तुओं के प्रति लोगों में जागरूकता लाने में महिलाओं की भूमिका का उल्लेख करते हुए लता सिंह लिखती है कि-

"सैकड़ों महिलाएं खादी और चरखा बेचने गली-गली गई, उन्होंने खादी को लोकप्रिय बनाने की लिए जुलूस निकाले और समूहों में विदेशी कपड़ों की होली जलाई| उन्होंने शराब की दुकानों पर धरना दिया और शराब के लाइसेंस की सरकारी नीलामी को रोका|"[49]

आन्दोलन में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी और उत्साह का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि जैसा कि राधा कुमार ने लिखा हैं –

"स्त्रियों के प्रदर्शन को जब सरकार की ओर से रौलट एक्ट (राजद्रोह बैठक कानून) के तहत कानून उल्लंघन के दायरे में लाने का प्रयास किया जाता दिखाई पड़ा तो स्त्रियाँ निर्भकतापूर्वक जेल जाने, गिरफ्तारियां देने के लिए तैयार थी लेकिन लाला लाजपत सरीखे राष्ट्रवादी नेता स्त्रियों के इस निर्णय को मानने के लिए तैयार नहीं थे|"[50]

देश के विभिन्न भागों में महिलाओं ने आन्दोलन का नेतृत्व किया- बम्बई, गुजरात, पंजाब, कलकत्ता, उत्तर प्रदेश इत्यादि जगहों पर स्त्रियों ने आन्दोलन में भाग लिया| लज्जावंती, लाडो रानी जुत्शी, सरोजिनी नायडू, उमा कुण्डापुर, नन्दूबेन कनुगा, पेरिन कैप्टन, मणिबेन, सरला देवी, साराभाई, लेडी अब्दुल कादिर, कस्तूरबा गाँधी और नेहरु परिवार की महिलाएं – कमला नेहरु, इत्यादि| इसके आलावा सुभद्राकुमारी चौहान, उर्मिला देवी शास्त्री शिवरानी देवी इत्यादि महिलाओं ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के साथ ही आन्दोलन का नेतृत्व किया और आन्दोलन को सफल बनाने में अपने-अपने तरीकों से प्रयास किया|

[49] साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, (संपादित) नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ 158

[50] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 139

आन्दोलन का संचालन विशेष रूप से गाँधी जी के बनाये हुए कार्यक्रमों के आधार पर ही चलता था लेकिन स्त्रियों ने अपने तरीके से समाज के विभिन्न वर्गों की महिलाओं को आन्दोलन से जोड़ने का भी प्रयास किया| स्वतन्त्रता आन्दोलन की महत्वपूर्ण कार्यकर्ती लज्जावंती का कार्यक्षेत्र लाहौर था| लज्जावंती के आन्दोलन की विशेषता ये थी कि वो असहयोग आन्दोलन में उन महिलओं को शामिल करने, एकजुट करने का प्रयास किया 'जो लाहौर में पैदा होकर वहाँ पली-बढ़ी नहीं थी बल्कि बाहर से आकर लाहौर में बस गयी थी तथा इसमें से अधिंकाश स्त्रियाँ अमीर के बजाय मध्यवर्गीय परिवारों की थी|'[51]

लज्जावंती द्वारा आन्दोलन चलाए जाने के तरीकों से एक बात साफ है कि उन्हेंने आन्दोलन को सिर्फ उच्च वर्ग की महिलाओं तक ही सीमित नहीं रखा इससे आम महिलाओं को भी राजनैतिक क्षेत्र में आने का अवसर मिला| उनका यह कदम इसलिए भी महत्वपूर्ण और सराहनीय है कि आन्दोलन में भाग लेने वाली ज्यादातर महिलाएं कांग्रेसी पुरुष सदस्यों से सम्बन्धित और उच्च वर्गीय महिलाएं थी, उन्हेंने मध्यवर्गीय महिलाओं को भी विशेष महत्व दिया|

गाँधी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए जिस तरह के रचनात्मक कार्यों की रुपरेखा तैयार की थी, इससे भी स्त्रियाँ आसानी से राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी कर सकती थी| यहीं कारण है कि कम पढ़ी-लिखी और अनपढ़ महिलाएं भी आन्दोलन का हिस्सा बन सकी|

महिला आन्दोलन की नेत्रियों ने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए देश के विभिन्न हिस्सों की स्त्रियों को आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास किया जिसके कारण भारी संख्या में महिलाएं आन्दोलन से जुड़ने में कामयाब हुईं| आन्दोलन से जुड़े विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेकर महिलाओं ने आन्दोलन को संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों ही दृष्टियों से व्यापक और सफल बनाया|

[51] वही, पृष्ठ 138

खादी और चरखा को लोगों के बीच लोकप्रिय और व्यापक बनाने का काम हो या स्वदेशी के महत्व को स्थापित करने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों से विरोध प्रदर्शन करने के लिए स्वदेशी कपड़ों की होली जलाने की बात या शराब की दुकानों पर धरना प्रदर्शन करना हो, हर जगह, हर समय स्त्रियों के उत्साहजनक और उनकी व्यापक हिस्सेदारी को रेखांकित किया जा सकता है| इस दृष्टि से राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलओं की व्यापक भागीदारी न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए लाभदायक होता है बल्कि स्त्रियों में जागरूकता लाने और स्त्री-चेतना के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है|

अगर स्त्री-चेतना के बरक्स राष्ट्रीय आन्दोलन की महत्ता पर विचार किया जाये तो इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि आन्दोलन महिलाओं को सार्वजनिक-राजनैतिक क्षेत्र में निकलने, लोगों से मिलने-जुलने तथा आपस में स्त्रियों के सम्पर्क को बढ़ाने में पुख्ता आधार प्रदान करता है, महिलाओं के सोचने–समझने और विभिन्न समस्याओं पर अपनी बात रखने और अपने हितों और अधिकारों के बारे में आवाज उठाने की हिम्मत भी प्रदान करता है| राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल महिलाओं ने महिला अधिकार तथा महिलओं की बेहतरी के सवाल को 'न केवल राष्ट्रवाद से जोड़ा बल्कि स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिए जाने की मांग का राष्ट्रवादी दलीलों के जरिए बचाव भी किया'[52]

इस दौर में स्त्रियाँ स्त्री-पुरुष के बीच की घोर असमानता पर सवाल भी उठाने लगी थीं| राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल कुछ महिला नेत्रियों का कहना था कि जिस तरह से भारतीय पुरुष अंग्रेजों की गुलामी से खुद को आजाद करना चाहते है उसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषों की अधीनता से स्वतंत्र होना चाहती है| राष्ट्रीय आन्दोलन की नेत्रियों ने स्वराज की मांग को स्त्री के स्वराज के मांग के साथ जोड़ा और इसी आधार पर स्त्री स्वतन्त्रता की मांग की| राधा कुमार ने लिखा है कि –

[52] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 142

"उर्मिला देवी ने घोषणा की कि स्वराज का अर्थ है अपना राज तथा स्वाधीनता का अर्थ है अपने आप को शक्ति और उर्जा से ओतप्रोत कर लेना| इसी तरह से अमिया देवी ने कहा कि स्वाधीनता दी नहीं जा सकती बल्कि इसे बलपूर्वक छीनना पड़ता है|"[53]

अगर स्त्रियों ने राष्ट्रवादी विचारों के जरिये स्त्रियों की समस्याओं और स्त्री-पुरुष समानता की बात उठाई तो, राष्टवादी नेताओं ने राष्ट्रीय दलीलों और भारतीय सभ्यता और संस्कृति का हवाला देकर स्त्रियों को कुछ खास प्रतीकों में बाँधने का भी प्रयास किया| शायद सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की बढ़ती हुई भागीदारी और चेतना ने पुरुषों के अन्दर असुरक्षा की भावना को बढ़ावा दिया| यह असुरक्षा की भावना पारिवारिक क्षेत्र में पुरुषों की विशेष अधिकारों के साथ जुड़ी हुई है| राष्ट्रवादी नेताओं और समाज सुधारकों ने राजनैतिक क्षेत्र में बढ़ती हुई हिस्सेदारी को देखते हुए स्त्रियों की परम्परागत भूमिकाओं- मातृत्व, नारीत्व, पत्नीत्व जैसी स्त्रैण भूमिकाओं का महिमामंडन और गौरान्वित किया जिससे स्त्रियाँ पारिवारिक क्षेत्र में अधिक से अधिक ध्यान दे सके| स्त्रियों को ज्यादा से ज्यादा घरेलू भूमिकाओं के काबिल समझने वाले पुरुषों की इस मानसिकता पर कि-

"कितने ही लोगों का यह मत है कि यदि पुरुषों और स्त्रियों को समान सुविधाएँ और अवसर प्रदान किया जाए तो भी स्त्रियाँ कितने ही ऐसे कार्यों के सम्पादन में असमर्थ रहेंगी जिन्हें पुरुष कर डालते है|'

पुरुषों की इस मानसिकता को लीला मणि नायडू ने यह कहकर विरोध किया कि-

"पुरुषों और स्त्रियों को समान अवसर दीजिए और देख लीजिए की वो क्या कर सकती है|"[54]

निश्चय ही स्त्रियों में यह आत्मविश्वास राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी और विभिन्न स्त्री सगठनों की स्थापना के कारण आया है| अब महिलाएं पुरुषों के समान अवसर की समानता

---

[53] वही, पृष्ठ 142

[54] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संपादित) स्वतन्त्रता संग्राम और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ 397

की बात भी उठाने लगी थी, जिसकी कल्पना करना कुछ दशक पहले अकल्पनीय था| स्त्रियों की आर्थिक दासता का सवाल भी अब अछूता नहीं रहा|

राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता और पुरुष समाज सुधारक इस बात को आसानी से मानने के लिए तैयार नहीं थे कि स्त्रियाँ उन कामों को भी अंजाम दे सकती है जिसे अभी तक पुरुषों के लिए ही सुरक्षित माना जाता रहा है| उनके लिए यह मानना मुश्किल था कि घर से बाहर के कामों को भी स्त्रियाँ कर सकती हैं| स्त्री आन्दोलन की नेत्रियों ने स्त्री-पुरुष के कार्यों में असमान विभाजन और स्त्रियों के लिए घर बाहर के इस असमान विभाजन को बेबुनियाद बताया| स्त्रियाँ तत्कालीन परिस्थितियों को आधार बनाकर भी स्त्री-पुरुष के कार्यों में असमान विभाजन पर सवाल खड़ा कर रही थी| इसके लिए वो देश-विदेश की स्त्रियों का युद्ध में शामिल होने को उदहारण के रूप में पेश कर रही थी| उनका तर्क था की जब स्त्रियाँ युद्ध जैसे कठिन और खतरनाक कार्यों में भाग ले सकती है तो बाहर के कामों को भी अंजाम दे सकती है|

महिलाएं न केवल राष्ट्रवादी तर्कों द्वारा स्त्री-पुरुष की समानता की मांग कर रही थीं बल्कि एक मनुष्य के रूप में स्त्री की आजादी और अधिकारों की बात भी उठाने लगी थीं| स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता को इंकार करते हुए स्त्री को मनुष्य मानने पर बल देते हुए कुमारी लीलावती ने कहा कि –

“स्त्री और पुरुष दोनों ही मनुष्य है; अत: इस हिसाब से दोनों का कर्तव्य एक होना स्वाभाविक युक्ति एवं संगत है| घर के अन्दर और बाहर किसी प्रकार की निर्दिष्ट सीमा नहीं हो सकती| विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं ने ही भिन्न-भिन्न रूप से स्त्री-पुरुष के बीच की सीमा का निर्धारण किया है..इस सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री और पुरुष के दृष्टिकोण में इतनी

संकीर्णता लगा दी है कि जो लोग मुंह से समानाधिकार की बाते किया करते है और अपने को प्रगतिशील कहते है, उनके मन में अब भी स्त्रियों के प्रति मध्ययुग के भाव गए नहीं|"[55]

अब महिलाएं पुरुषों के दोहरी मानसिकता पर सवाल उठाने लगी थी| स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग मानदंड मानने के खिलाफ वो एकजूट होकर आवाज उठाने के लिए स्त्रियों को प्रेरित कर रही थी| कुमारी लीलावती ने पुरुषों के दोहरे और बेबुनियाद दलीलों का विरोध करते हुए लिखा हैं कि –

"महिलाओं को उन्होंने जो अधिकार दिए है उनमें उन्हेंने उनकी सब मांगों को स्वीकार नहीं किया है| उनमें बहुत की यह धारणा है कि महिलाओं को जो कुछ सामाजिक सुविधाएँ दी गई है, ये यथेष्ट हैं| पुरुषों की इस मनोवृति का उत्तर नारी जाति को संघबद्ध होकर देना होगा| उन्हें कहना होगा कि हम इतने से ही संतुष्ट नहीं है| जब तक समाज के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषो के ही समान स्वाभाविक अधिकार प्राप्त नहीं होते, तब-तक हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि हमें जो अधिकार मिले है, यथेष्ट है|"[56]

1.2.2 सविनय अवज्ञा आन्दोलान में स्त्रियों की भागीदारी और स्त्री-प्रश्न :

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भूमिका का निर्धारण गाँधी जी के बताये हुए सिद्धांतों के अनुसार ही किया जाता था लेकिन 30 के दशक तक आते-आते सामाजिक सुधार आन्दोलन में नहीं बल्कि राष्ट्रवादी और राजनैतिक गतिविधियों में भी महिलाओं ने अपनी भूमिका तय करनी शुरू कर दी थी| इस दौर तक महिलाएं सिर्फ गाँधी द्वारा निर्धारित रचनात्मक कार्यों में ही नहीं, सम्राज्यवाद विरोधी क्रन्तिकारी गतिविधियों में भी भाग लेने लगी थी| महिलाओं में यह आत्मविश्वास आ चुका था कि वो विभिन्न कार्यों में अपना स्वतंत्र योगदान दे सकती है| असहयोग आन्दोलन के बाद 30 के दशक में चला सविनय अवज्ञा

---

[55] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संपादित) स्वतन्त्रता संग्राम और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ 399

[56] कु. लीलावती, स्त्री-पुरुष के समान कर्तव्य, जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (संपादित) स्वतन्त्रता संग्राम और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ 399

आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी विशेष उल्लेखनीय है ,स्वतंत्रता आन्दोलन की दृष्टि से भी और स्त्रियों की चेतना की दृष्टि से भी|

महिलाओं की उत्साहजनक भागीदारी को 'नमक विरोधी कानून' के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है| राधा कुमार ने लिखा है कि –

"जनवरी १९३० में गाँधी जी ने इर्विन के नाम एक ग्यारह सूत्री अल्टीमेटम जारी किया| इस अल्टीमेटम में एक मांग 'नमक कानून तथा नमक पर सरकारी एकाधिकार की समाप्ति' भी शामिल था.. इसके एक माह पश्चात् गाँधी जी ने घोषणा की कि वे 'नमक सत्यग्रह' की शुरुआत के रूप में साबरमती से दांडी (गुजरात का एक गाँव) तक पैदल यात्रा करेंगे तथा गैरकानूनी रूप से नमक बनाएंगे.. गाँधी जी के नेतृत्व में १२ मार्च को दांडी मार्च की शुरुआत हुई| इस मार्च में शामिल ७१ दांडी यात्रियों में एक भी महिला को शामिल नहीं किया गया था|"[57]

गाँधी जी के इस कदम से महिलाओं में भारी असंतोष और विरोध नज़र आया| महिलाओं ने गाँधी जी के इस कदम की आलोचना की| महिलाएं अब उन कार्यों को भी करने के लिए तैयार थी, जिसे अभी तक पुरुषों के लिए ही मुनासिब समझा जा रहा था और उन्हें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के विभिन्न कार्यों से भी पृथक रखने की कोशिश की जा रही थी| महिलाओं को अब यह स्वीकार नहीं था| इसीलिए राष्ट्रवादी महिलाओं ने गाँधी जी के इस निर्णय का विरोध किया| दादा भाई नौरोजी की पौत्री द्वारा गाँधी जी के लिखे पत्र का हवाला देते हुए राधा कुमार ने लिखा हैं कि-

'दादा भाई नौरोजी की पौत्री खुरशीद ने गुस्से से तमतमाते हुए गाँधी जी को पत्र लिखा और कहा कि आपकी हरकत उचित नहीं है|'..यहीं नहीं महिला संगठनों और स्त्री पत्रिकाओं में भी गाँधी जी के दांडी यात्रा में महिलाओं को शामिल न करने के इस निर्णय की आलोचना की

[57] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 160-161

गयी|- 'स्त्री-धर्म' की संपादक मारग्रेट कूजिंस ने अपनी पत्रिका के माध्यम से गाँधी जी के इस कदम का विरोध किया|

महिलाएं यहीं नहीं रूकीं बल्कि वो यात्रा में शामिल होने की मांग को लेकर गाँधी जी से भी मिलीं| चूँकि १९३० के दशक से ही देश का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में आ जाने से गाँधी जी का महत्व कुछ-कुछ फीका पड़ने लगा था, अत: गाँधी जी ने महिलाओं की इस मांग को लेकर 'कांग्रेस को 'एक संक्षिप्त' अपील लिखी| इस अपील को लेकर वे कांग्रेस कमेटी में गये और उसे पढ़ने के पश्चात् कांग्रेस कमेटी ने अंतत: अपना वीटो वापस ले लिया'[58]

इस तरह महिलाओं के प्रयास और कमलादेवी के कोशिशो की बाद ही 'दांडी यात्रा के अंतिम दिन सरोजिनी नायडू उसमें शामिल हुई तथा नमक सत्याग्रह में गिरफ्तार होने वाली वे पहली महिला बनी| इसके बाद ही कांग्रेस कमेटी ने सारे देश में सत्याग्रहियों का नेतृत्व करने के लिए महिलओं का चयन किया'[59]

इस घटना से एक बात साफ है कि नमक सत्याग्रह में शामिल होना महिला नेत्रियों के अपने प्रयासों और जागरूकता से ही सम्भव हो पाया था| महिलाओं की जुझारू प्रवृतियों और उत्साह के कारण ही कांग्रेस कमेटी ने महिलाओं को आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए चयनित किया| यह कदम महिलाओं की मुक्ति को कितना प्रभावित किया ये अलग बात है लेकिन इस घटना से महिलाओं के आत्मविश्वास और उनके विरोध की दृढ़ इच्छाशक्ति को पहचानना मुश्किल नहीं है| 'सारे देश की लाखों स्त्रियों ने नमक सत्याग्रह में शामिल होकर नमक बनाना तथा नमक कानून को तोड़ना शुरू किया| वास्तविकता यह है कि इस आन्दोलन से राष्ट्रवादी आन्दोलन में बड़े पैमाने पर स्त्रियों की सहभागिता दिखाई पड़ी' महिलाओं की कोशिशों के कारण ही ' नमक सत्याग्रह को आमतौर पर भारतीय स्वाधीनता

[58] वही, पृष्ठ 161

[59] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 162

के संघर्ष में पहली बार भारतीय स्त्रियों की व्यापक सहभागिता के रूप में याद किया जाता है|'[60]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन में महिलाओं के शामिल होने के उत्साह और महत्व को कमलादेवी चट्टोपध्याय के इन शब्दों से भी समझा जा सकता है, जिसे राधा कुमार ने उद्धृत किया हैं-

"हालांकि नमक सत्याग्रह में भाग लेने के लिए कुछ ही महिलाओं का औपचारिक चयन हुआ है, परन्तु इसके माध्यम से भारतीय क्रांति ने 6 अप्रैल 1930 की सुबह पहली अंगड़ाई ली है| जो कि शाम ढलते-ढलते सम्पूर्ण देश में एक विशाल आन्दोलन के रूप में फ़ैल गई है|"[61]

जिस आन्दोलन में महिलाओं को शामिल होने से रोका जा रहा था; उनके महत्व से इंकार किया जा रहा, उस आन्दोलन में महिलाएं अपनी कोशिशों के फलस्वरूप शामिल तो हुई ही अपने पदों से त्यागपत्र देकर इस आन्दोलन को न केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनाया बल्कि उनका यह निर्णय उनकी जागरूकता और निर्णय लेने की क्षमता को भी दर्शाता है| 'त्यागपत्र देनेवालों में मुथुलक्ष्मी रेड्डी तथा हंसा मेहता भी शामिल थी|

महिलाओं की निर्भीकता का इस बात से भी अंदाजा लगाया जा सकता है कि 'जब कांग्रेस द्वारा मई के मध्य में धरसना में बड़े पैमाने पर नमक संस्थानों पर छापामार गुट की संस्तुति की गई तब सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में छापामार गुट को पुलिस की ऐसी बर्बरता का शिकार होना पड़ा कि उसे देखकर अधिसंख्य पर्यवेक्षक स्तब्ध रह गए|'[62]

जाहिर है कि १९३० के दशक में महिलाओं में काफी जागरूकता आ गयी थी| अब वह राष्ट्र की समस्याओं पर अपना विचार भी रखने लगी थीं| वह खुद निर्णय लेने की स्थिति में आ चुकी थी, जो उसके पहले के सदी और दशकों में शायद ही सम्भव था|

---

[60] वही, पृष्ठ 163

[61] वही, पृष्ठ163

[62] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 166

1.2.3 'भारत- छोड़ों' आन्दोलन और स्त्रियाँ :

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ ही आन्दोलन में महिलओं की भागीदारी पहले की अपेक्षा सख्यात्मक दृष्टि से बढ़ती जाती है| जब '8 अगस्त 1942 के बंबई अधिवेशन में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने विख्यात 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किया' तो इसके साथ यह भी घोषणा की कि 'यदि कांग्रेस के नेता गिरफ्तार कर लिए जाते है तो ऐसी स्थिति में वह प्रत्येक भारतीय जो आज़ादी का दीवाना है और आज़ादी के लिए भूखा हो, वह अपना पथ प्रदर्शक, अगुआ नेता सब कुछ स्वयं होगा|'[63]

चूँकि आन्दोलन का स्वरूप पहले से भी ज्यादा आक्रामक हो गया था| 'करो या मरो' के साथ १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आज़ादी के लिए आर-पार की लड़ाई के रूप में शुरू किया गया था, ऐसे में बहुत से नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया| काफी संख्या में नेता जेल में बंद थे और बहुत से नेता भूमिगत हो गये थे| ऐसी स्थिति में देशभर में अंग्रेजों के खिलाफ घोर प्रतिक्रिया और विरोध प्रदर्शन किया गया| देश के अलग-अलग भागों में अंग्रेजी शासन और भारतीय नेताओं की गिरफ्तारी के खिलाफ हड़ताल भी किया गया|

'भारत छोडो' आन्दोलन में भी महिलओं ने हजारों की संख्या में भागीदारी की| इसके साथ ही महिलाएं 'भूमिगत रहकर समानांतर सरकारों के गठन में भी सहायता कर रही थी; गैरकानूनी गतिविधियों में लिप्त होने के कारण अनेक स्त्रियाँ मारी गईं|'[58]

इस तरह १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में बहुत-सी स्त्रियाँ शहीद भी हुईं, जिसमें सखाराम माते, मातंगिनी हजारा, कनकलता, योगेश्वरी प्रतिमा देवी इत्यादि को भुलाया नहीं जा सकता है|

इस दौर में महिला संगठनों का ध्यान और उर्जा पूरी तरह से राष्ट्रीय आन्दोलन पर केन्द्रित हो गया था| आन्दोलन की तीव्रता का अंदाजा इससे भी लगाया जा सकता है कि 'महिला

[63] वही, पृष्ठ 197

आत्मरक्षा समिति भी खुद को राष्ट्रीय- आन्दोलन से अलग नहीं रख सकी और उसी वर्ष सन १९४३ में 'गाँधी रिहाई' अभियान में बड़े पैमाने पर कूद पड़ी|'[64]

इतने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय-आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी ने महिलाओं को गौरान्वित तो किया ही, बहुत-सी पाबंदियों और सीमाओं से भी वो बाहर निकली तथा अपनी शक्ति का परिचय दिया|

इस दौर तक लोग इस बात को लेकर आश्वस्त हो गये थे कि भारत की आज़ादी अब दूर नहीं है| देश के विभिन्न वर्गों के लोगों को यह उम्मीद थी की आज़ादी मिलने के साथ ही लोग प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी रोक-टोक के अपना जीवन यापन कर सकते है| इस दौर में महिला आन्दोलन की क्या स्थिति थी, इस पर राधा कुमार ने लिखा हैं कि -

"आज़ादी को इतना करीब देखते हुए महिला आन्दोलन भी पूरी तरह से स्वाधीनता संग्राम में तब्दील हो गया और नारी मुक्ति के मुद्दे को भारत की स्वाधीनता के साथ जोड़कर देखा जाने लगा| यह माना जाने लगा कि स्वाधीनता के साथ ही पुरुष और स्त्री के मध्य मौजूदा असमानताएं दूर हो जाएँगी तथा स्वतंत्र भारत में सब कुछ ठीक हो जाएंगा| राष्ट्रवादी महिला को नारी मुक्ति के प्रतीक और प्रहरी के रूप में देखा जाने लगा|"[65]

स्वतन्त्रता आन्दोलन में महिला आन्दोलन के समाहित हो जाने के खतरे भी थे और महिला आन्दोलन को इस खतरे का अंदाजा भी था| उन्होंने अपने-अपने तरीके और समझ के अनुसार उस पर नियन्त्रण पाने की कोशिश भी की| यह उम्मीद कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सब कुछ ठीक हो जाएंगा, उस समय निराधार साबित हुआ जब १९४७ में हिंदी-मुस्लिम सम्प्रदायिक झगड़ा न रुकने के कगार पर आ चुका था, जिसके परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान और भारत, दो राष्ट्रों में विभाजित हो गया| इस विभाजन में जहाँ हजारों लोग विस्थापित हुएं वही हजारों लोगों को सम्प्रदायिकता के कारण अपननी जान गँवानी पड़ी|

[64] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 198
[65] वही, पृष्ठ 199

इस तरह सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और विभाजन की वजह से महिलाओं को एक अलग तरह की समस्या से जूझना पड़ा| इस विभाजन ने महिलाओं और बच्चों को विशेष रूप से प्रभावित किया|

1.2.4 महिला संस्थाएं और स्त्री- :

भारतीय महिला आन्दोलन के विकास में महिला संस्थाओं की भूमिका भी उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है| १९२० के दशक के दौरान अखिल भारतीय स्तर पर महिला संस्थाओं की स्थापना की गई| हालांकि इससे पहले ही देश के अलग-अलग भागों में महिला संस्था अस्तित्व में आ चुकी थी| इस संस्थाओं का महत्व सामाजिक जागरूकता के लिहाज से अहम तो था ही, यह महिलाओं को एक ऐसा मंच मुहैया करता है जहाँ से महिलाएं स्त्रियों से सम्बन्धित सामाजिक और राजनैतिक निर्णयों में हस्तक्षेप कर सकती थी; महिलाओं के अधिकारों से सम्बन्धित कानूनी योजना की रुपरेखा तैयार कर सकती थी और एक मंच से आवाज उठा सकती थी|

अखिल भारतीय स्तर पर 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन'(१९२७), अखिल भारतीय महिला नेशनल काउन्सिल' और 'विमेंस इन्डियन एसोसिएशन' महिलाओं के अधिकारों से सम्बन्धित संस्थाएं थीं| इस तरह के मंच से महिलाएं सरकार के महिला सम्बन्धी नीतियों की समीक्षा तो करती ही थीं, स्त्रियों के अधिकारों के लिए योजनाएं और अपील भी पेश करती थीं|

इस प्रकार १९२०-२२ के दौरान महिलाओं के लहजे में काफी कुछ बदलाव आ चुका था| जहाँ पुरुष समाज सुधारक और राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता राष्ट्रीयता और भारतीय सस्कृति की दुहाई देकर महिलाओं को समान अधिकार और सुविधा देने का विरोध कर रहे थे, महिलाएं समान नागरिक और मनुष्य की हैसियत से अपने अधिकारो के लिए संघर्ष कर रही थीं|

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में भी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चल रहा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर में महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगी थी| जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी समाज सुधार आन्दोलन के नेता महिलाओं की मुक्ति के सवाल को स्वतंत्र महिला अधिकार के रूप में नहीं परिभाषित किया| अगर उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान चले महिला प्रश्न को घरेलू दायरों के अन्दर ही परिभाषित और उनका आदर्शीकरण किया गया तो बीसवीं शताब्दी के दौरान राष्ट्रवाद का दलील देकर महिलाओं के अधिकारों को गंभीरता से नहीं लिया गया| इसके बाद हिन्दू-मुस्लिम का ध्रुवीकरण करके महिला प्रश्न का सम्प्रदायिकरण भी किया गया| उन्हें कभी भी एक स्वतंत्र व्यक्ति के सन्दर्भ में देखने का प्रयास नहीं किया गया| विशेषरूप से हिंदी के साहित्यकारों, समाज सुधारकों तथा नेताओं का स्वर स्त्रियों के अधिकारों के मामले में घोर शुद्धतावादी, रुढ़िवादी तथा सम्प्रदायिक था| ऐसा भी नहीं है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान महिलाओं के नेतृत्व में चल रहा महिला आन्दोलन भी इन सबसे अछूता था|उनके विचारों में भी अंतर्विरोध देखने को मिलता है|

द्वितीय अध्याय

स्त्री-प्रश्न का वैचारिक परिप्रेक्ष्य

2.1 राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न की स्थिति

2.2 घर और बाहर के दायरे की अवधारणा

2.3 भारतीय महिला बनाम पश्चिमी महिला

2.4 प्राचीनता-बोध के खतरे और स्त्री-

2.5 घर और बाहर के कश्मकश से उपजी असुरक्षा की भावना

2.6 संसारिक और आध्यात्मिक विभेदीकरण से उपजी 'नई पितृसत्ता'

2.7 महिला सेक्सुअलिटी का सवाल

2.1 राष्ट्रवाद के युग में महिला प्रश्न की स्थित :

एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्त्री- १९वीं सदी के दौर में व्यापक विचार-विमर्श का मुद्दा बना| इतने व्यापक स्तर पर महिला-प्रश्न को उठाये जाने के पीछे विभिन्न सांस्कृतिक – धार्मिक और राजनीतिक वर्गों के अपने-अपने निहितार्थ थे| हालांकि आज के दौर में स्त्री-विमर्श को व्यापक स्वीकृति प्राप्त है, लेकिन इसके मूल निहितार्थ को न समझने वाले और इसे गुमराह करने वालों की कमी नहीं है| फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में प्रगतिशीलता के किसी भी वादों में; आधारभूत संरचनाओं और योजनाओं में स्त्रियों के बेहतरी के सवाल को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है| यह भी सच है कि इसके महत्व को नारीवादियों की कोशिश के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता था|

१९वीं सदी के दौरान राजाराममोहन राय और विद्यासागर के नेतृत्व में चला महिला सुधार आन्दोलन एक केन्द्रीय मुद्दा के रूप में स्थापित हो चुका था, लेकिन महिलाओं की बेहतरी को ध्यान में रख कर जो भी क़ानूनी सुधार के उपाय किये गए, सामाजिक रूप से उसकी सफलता असंदिग्ध ही रही| १९वीं सदी में महिला–प्रश्न सुधारवादियों के लिए जितना अहम मुद्दा था, विरोधी शक्तियां उतनी ही सक्रियता के साथ महिलाओं की स्थिति में बदलाव को चुनौती दे रही थी| उन तमाम विरोधों के बावजूद महिला–प्रश्न विचार–विमर्श के रूप में महत्त्वपूर्ण बना रहा| क्या आगे आने वाले दौर में, विशेष रूप से राष्ट्रवाद के युग में महिला - प्रश्न उसी तरह केन्द्रीय मुद्दा के रूप में बना रहता है, जिस तरह से १९वीं शताब्दी के दौरान बना हुआ था?

इतिहासकारों के बीच यह प्रश्न विशेष रूप से अध्ययन और विचार-विमर्श का मुद्दा बना हुआ है कि क्या राष्ट्रवाद के युग में महिला–प्रश्न उसी तरह से विचार–विमर्श का मुद्दा बना रहा

जिस तरह १९वीं सदीं में बना हुआ था| अधिकांश इतिहासकारों का मानना हैं कि राष्ट्रवाद के युग में एक केन्द्रीय मुद्दे के रूप में महिला–प्रश्न अब हाशिये का सवाल बन चुका था| इस सम्बन्ध में पार्थ चटर्जी का कहना हैं कि –

"लेकिन इतिहासकारों को जो चीज परेशान करती रही है वह यह कि १९वीं सदी के अंत तक ऐसे प्रश्न सार्वजनिक बहसों की विषय सूची से लगभग एकाएक गायब हो चुके थे| उसके बाद समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर उठने वाले प्रश्न जनता में जोश और कड़वाहट पैदा नहीं करते थे जितना उसके कुछ ही दशक पहले तक करते आएं थे| १९वीं सदीं के अंतिम दशकों में उभरा "नई राष्ट्रवादी राजनीति" ने भारत के अतीत का महिमामंडन किया और हर परम्परागत प्रथा का समर्थन किया|"[66]

१९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों के सम्पर्क में आने और पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई| पश्चिमी साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने इस बात को स्थापित किया कि भारतीय समाज के पिछड़ेपन का कारण यहाँ की भारतीय महिलाओं का पिछड़ापन और उनकी दयनीय स्थिति है| फलस्वरूप पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों ने महिला सुधार आन्दोलन चलाया, यह सोच कर कि इससे भारतीय समाज की स्थिति बेहतर होगी| दूसरा, भारतीय समाज पर लगा 'असभ्यता'[3] के दाग को भी मिटाया जा सकता है|

क्या वाकई राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न सार्वजनिक क्षेत्र की विषय सूची से गायब हो चुका था ? महिला प्रश्न की केन्द्रीयता का सवाल और सार्वजनिक क्षेत्र से उसके गायब होने के सवाल की अगर हम बात करें, तो हम पाते हैं कि अपने सबसे महत्वपूर्ण दिनों में भी पुरुष समाज सुधारकों के नेतृत्त्व में चला महिला सुधर आन्दोलन का लक्ष्य कभी भी महिलाओं के व्यक्तिगत सुधार से नहीं रहा| महिला सुधार आन्दोलन किसी न किसी आधार पर टिका हुआ

[66] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (सं. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृ. 52

था, क्योंकि एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में महिलाओं को अभी भी स्वीकार नहीं किया जा रहा था, जब तक की महिलाएं स्वयं अपने आप को एक नागरिक की भूमिका में स्थापित नहीं करती| पुरुष समाज सुधारकों द्वारा चलाया गया महिला सुधार आन्दोलन महिला केन्द्रित होते हुए भी महिलाओं की समस्याओं से सीधे-सीधे मुखातिब नहीं था|

१९वीं शताब्दी के दौरान जिन स्थापनाओं और दबावों की वजह से महिलाओं की समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया, उसमें महिलाओं की स्थिति प्रमुख रूप से 'अन्या' की ही रही| एक 'व्यक्ति' की हैसियत से महिलाओं की पहचान को हमेशा हाशिये पर ही रखा गया| महिलाओं की मौजूदा स्थिति में बदलाव की जरूरत क्यों पड़ी, इन सब के पीछे कुछ न कुछ कारण ज़रूर था| लेकिन पुरुष समाज सुधारकों द्वारा शुरू किया गया महिला सुधार आन्दोलन का सबसे अफ़सोस जनक पक्ष यह रहा कि उन कारणों का सम्बन्ध महिलाओं की समस्याओं से सीधे तौर पर कभी नहीं रहा| एक नागरिक की हैसियत से महिलाओं को स्वीकार करने की कोशिश को हमेशा ही नजरअंदाज किया गया| चाहे साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी का सवाल हो या महिला आन्दोलन में महिलाओं के संघर्ष का सवाल, महिलाओं की भागीदारी को एक स्वतंत्र महिला संघर्ष के रूप में देखने की कोशिश न उस दौर के समाज सुधारकों द्वारा की गयी और ना ही इतिहासकारों ने महिलाओं के संघर्ष को स्वतंत्र महिला संघर्ष के रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया| जाहिर है कि महिलाओं की समस्याओं और उनके संघर्षों को पुरुषों के सहायक के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया गया|

१९२० के दशक में भी जब राष्ट्रवाद अपने महत्वपूर्ण दिनों मे प्रवेश करता है तब, तो महिला-प्रश्न के सामने और भी विरोधात्मक चुनौतियाँ पैदा होती हैं| उन सारी विरोधात्मक परिस्थितियों में हुआ यह कि स्त्रियों और पहले से ही हाशिये पर धकेल दिए गए जातियों का सवाल केंद्र में आया ही नहीं जब तक की अम्बेडकर ने दलितों के सवाल को नहीं उठाया| महिलाओं से सम्बंधित सुधार-आन्दोलन की प्रकृति शुरू से ही राष्ट्र और नस्ल की बेहतरी के इर्द–गिर्द घुमता रहा|बहुत जल्द ही राष्ट्रीय हित की दलीले भी खोखली नज़र आने लगी जब

राष्ट्र के नाम पर न केवल परम्परावादियों ने बल्कि समाज सुधारकों ने भी अपनी धार्मिक, जातीय, सांप्रदायिक और पितृसत्तात्मक हितों को ध्यान में रख कर महिला-प्रश्न को परिभाषित करना शुरू कर दिया| वैसे शुरू से समाज सुधारकों और परम्परावादियों की जेंडर और जातिगत भिन्नता स्पष्ट थी| दूसरा, महिला समाज सुधार-आन्दोलन की सीमा यह थी कि समाज सुधारक धार्मिक रीति-रिवाजों और नियम कायदों के बगैर महिलाओं में सुधार की स्थिति को स्वीकार ही नहीं कर रहे थे| ऐसी स्थिति में महिला आन्दोलन की सफलता असंदिग्ध ही बनी रही क्योकि धार्मिक नियम कायदों का सम्बन्ध महिलओं की पराधीनता से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है| इन सबके बावजूद माहिला-प्रश्न का महत्व बना रहा और इसका कारण था, महिला सुधार आन्दोलन का नेतृत्व महिलाओं के हाथ में आना|

साम्राज्यवादी आन्दोलन के दौरान, विशेष रूप से १९२० के दशक में जब राजनीतिक क्षेत्र में गाँधी जी का प्रवेश होता है, तब राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से यह काल अपने चरमोत्कर्ष पर पहुचता है| जैसे–जैसे अंग्रेजों के खिलाफ आन्दोलन तेज होता जाता है, लोगों में राष्ट्रीय अस्मिता की चेतना और भी गहरी होती जाती है| न केवल गाँधी जी के नेतृत्व में चला राष्ट्रीय आन्दोलन से लोगों में राष्ट्रीय पहचान की छटपटाहट तेज होती है, क्रन्तिकारी आन्दोलन भी भारतीयों के मन में तीव्रता प्रदान करता है| लेकिन इसके साथ ही सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और जातीय पहचान की लड़ाई भी तेज हो जाती है| ऐसी स्थिति में 'महिला-प्रश्न' ज्यादा से ज्यादा सम्प्रदायिक होता जाता है| महिलाओं का प्रश्न ऊपर से देखने में हाशियाकृत नजर आता है| पहले से ही महिलाओं की समस्याओं को राष्ट्रीय हित के बरक्स देखा जा रहा था अब महिला-प्रश्न को राष्ट्रीय हित के नाम पर, जो वास्तव में सम्प्रदायिक राजनीति के ज्यादा करीब था, के संदर्भ में परिभाषित किया जाने लगा|

'नई राष्ट्रवादी राजनीति' के उभार के साथ अगर महिला-प्रश्न मुख्य मुद्दे से बाहर हो जाता है तो इसका कारण राष्ट्रवाद के उभार के कारण के रूप में माना जाना कितना सही होगा? जैसा कि यह स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद स्त्रियों के उत्पीड़न को बढ़ावा देता है और राष्ट्रीय हित के नाम पर स्त्रियों के सवाल को हमेशा ही नजरअंदाज करता है| अगर इस परिप्रेक्ष्य में

राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में महिला-प्रश्न की केन्द्रीयता के सवाल को हल करें तो इस परिभाषा के तहत तमार मेयर के हवाले से यह कहा जा सकता है कि -

"राष्ट्रवाद एक जुबान बनकर यौन नियंत्रण और दमन को (खासकर औरतों और समलैंगिकों को लेकिन सिर्फ उन्हीं को नहीं) को जायज ठहरता है और पुरुष पराक्रम को अभिव्यक्त कर उसका इस्तेमाल करता है|"[67]

राष्ट्रवाद की इस परिभाषा को अगर मान लिया जाय, तो इसका मतलब है कि राष्ट्रवाद एक ऐसी संस्था है जो महिलाओं के दमन और यौन नियंत्रण पर टिका हुआ है| फिर साम्राज्यवादी आन्दोलान के दौर में चला राष्ट्रवाद के चरित्र को स्त्रियों के सन्दर्भ में किस तरह से परिभाषित किया जाएँ? क्योंकि अगर हम राष्ट्रवाद को स्त्रियों के सन्दर्भ में एक दमनकारी संस्था के रूप में परिभाषित करते है तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रवाद के साथ स्त्रियों की बेहतरी का सवाल पहले ही समाप्त ही जाता है| लेकिन यह भी सही है कि साम्राज्यवादी आन्दोलन के दौर में चला राष्ट्रवादी विचारधारा को महिला आन्दोलन की नेत्रियों ने अपने हक़ में भी परिभाषित किया| इस सम्बन्ध में राधा कुमार ने वीर भारत तलवार और इन्द्राणी चटर्जी के हवाले से यह लिखा हैं कि –

"सन 1910 तथा 1920 के दशक में महिलाओं के बीच समानता की बहस किस प्रकार उभरी, विशेष रूप से उन महिलाओं के मध्य जो राष्ट्रवादी तथा महिला अधिकार के आन्दोलन में सक्रिय थीं| उन्होंने महिला अधिकारों को न केवल राष्ट्रवाद से जोड़ा बल्कि स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिए जाने की भी मांग का राष्ट्रवादी दलीलों के जरिए बचाव भी किया|1921-22 के आन्दोलन की एक जुझारू महिला उर्मिला देवी ने यह घोषणा किया कि स्वराज का अर्थ है अपना राज तथा स्वाधीनता का अर्थ है अपने आप को शक्ति

[67] तमार मेयर, राष्ट्रवाद की जेंडर विडम्बनाएँ : विचार-विमर्श की ओर, (संपा. जेंडर और शिक्षा रीडर, भाग दो) प्रकाशन, निरंतर, नई दिल्ली, पहला संस्करण फरवरी 2001, पृ. 172

तथा ऊर्जा से ओत-प्रोत कर लेना,जबकि अमिया देवी ने कहा कि स्वाधीनता दी नहीं जाती बल्कि इसे बलपूर्वक छीनना पड़ता है..|"[68]

तो फिर इसे किस तरह से देखा जाय? क्या राष्ट्रवाद एक ऐसी संस्था है जिसे हर वर्ग और जाति अपने-अपने तरीके से, अपने हित को ध्यान में रखकर, अपने हक़ में इसका इस्तेमाल कर सकता है? जैसा कि तमार मेयर ने लिखा है कि-

"ऑटो बावर ने अपने चर्चित लेख 'द नेशन' में कहा था कि 'राष्ट्रीय चरित्र परिवर्तनशील है| और यह भी कि 'राष्ट्र का विचार ही 'अहं' (खुद के बारे में अहसास) से लिपटा हुआ है|"[69]

2.2 घर और बाहर के दायरे की अवधारणा :

घर और बाहर के दायरे की अवधारणा इतिहासकारों के इस चिंता की व्याख्या से उपजता है कि '१९वीं सदी में जिस तरह से महिला-प्रश्न केंद्रीय मुद्दे के रूप में छाया हुआ था, राष्ट्रवाद के उभार के साथ वह पृष्ठभूमि में चला जाता है|'[70] इस प्रश्न के व्याख्या के सिलसिले में पार्थ चटर्जी ने घर और बाहर के दायरे की अवधारणा एवं सार्वजनिक और आध्यात्मिक क्षेत्र के विभाजन के आधार पर महिला-प्रश्न की केन्द्रीयता के सवाल की व्याख्या. की है| पार्थ चटर्जी का मानना है कि सम्राज्यवादी इतिहासकारों ने जिस आधार पर महिला-प्रश्न की केंद्रीयता के सवाल की व्याख्या की है, गुलाम मुर्शिद भी इसी आधार पर करते है| इस सम्बन्ध में पार्थ चटर्जी ने जिक्र किया है कि-

इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न की स्थिति की जो व्याख्या की है, उसका जो कारण बताया गया है, वह उपनिवेशवादी इतिहासकारों की समालोचना से पृथक नहीं है| जैसा की इतिहासकारों का यह मानना कि-

---

[68] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 142

[69] तमार मेयर, राष्ट्रवाद की जेंडर विडम्बनाएँ : विचार-विमर्श की ओर, (संपा. जेंडर और शिक्षा रीडर, भाग दो) प्रकाशन: निरंतर, नई दिल्ली, पहला संस्करण फरवरी 2001, पृ. 172

[70] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (सं. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृ. 52

"भारतीय राष्ट्रवाद औपनिवेशिक शासकों के साथ राजनीतिक सत्ता में साझेदारी के जोड़-तोड़ के अलावा कुछ भी नहीं था; कि उसका जनाधार परम्परागत जजमान–कामगार संबंधों की सफलता के साथ सक्रियता प्रदान करना भर था; कि उसका आंतरिक संवाद संकीर्ण गुटों का जोड़–तोड़ भर था; और यह कि उसकी विचारधारा नस्लवादी नफ़रतों और अलगाव के लिए सिर्फ एक मुलम्मा थी|"[71]

पार्थ चटर्जी इसिहसकारों और गुलाम मुर्शिद के इस तर्क से इतेफ़ाक रखते हुए सुमित सरकार के हवाले से यह मानते है कि-

"राष्ट्रवाद के सामाजिक निहितार्थों की यह आलोचना अपेक्षाकृत सरल और एकरेखीय इतिहासवादी मान्यताओं से उपजती है|..उदार और समतावादी सामाजिक परिवर्तन की मुहिम को आगे बढाने में राष्ट्रवादी विचारधारा की सीमाओं को एक मूलगामी सुधारवादी चरण के पीछे हटना नहीं कहा जा सकता है|" क्योंकि ये सीमाएं पहले भी मौजूद थी| सुमित सरकार की यह स्थापना कि "पुनर्जागरण सुधारक यूरोप के उदारवादी विचारों को स्वीकार करने के मामले में बेहद चयनवृति से काम लेते थे| जातिगत भेदभावों और पारिवारिक पितृसत्तावादी रूपों को बनायें रखना, शास्त्र की सत्ता को स्वीकार करना, सामाजिक आचार–व्यवहार में ठोस की जगह प्रतीकात्मक परिवर्तनों को वरीयता देना- सामाजिक रूढ़िवाद के ये तमाम मूलभूत तत्त्व १९वीं सदी के आरम्भिक और मध्य भागों के सुधार आन्दोलनों में मौजूद थे|"[72]

जाहिर है कि पार्थ चटर्जी और सुमित सरकार दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि न केवल नई राष्ट्रवादी राजनीति के उभार के दौरान बल्कि महिला सुधार आन्दोलन के शुरुवाती दौर में भी पुरुष समाज सुधारक महिलाओं की समस्याओं में सुधार की सम्भावना को वही तक

---

[71] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (सं. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 53

[72] वही, पृष्ठ 53

स्वीकार करते थे जब उन्हें यह यकीन हो जाए कि इससे उनके सामाजिक रीति-रिवाजों, धार्मिक मूल्यों, जातीय हित और पितृसत्तात्मक हैसियत खतरे में नहीं पड़ेगा|

फिर इस प्रश्न को किस तरह से परिभाषित किया जाए? पार्थ चटर्जी महिला–प्रश्न को सुधारकों की कार्यसूची से बाहर करने के रूप में नहीं बल्कि इसे 'राजनीतिक संघर्ष के अधिक महत्वपूर्ण और भावनात्मक मुद्दों'[73] के परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करते है और इस बाह्य और आतंरिक क्षेत्र के निर्माण को 'परंपरा की खोज'[74] के रूप में करने का प्रयास करते है; कि किस तरह से ब्रिटिश इतिहासकारों ने स्त्रियों की दयनीय स्थिति और उनके पिछड़ेपन को आधार बना कर भारतीय 'सभ्यता' और 'संस्कृति' को 'असभ्य 'और 'बर्बर' करार दिया| ..

वो इस अध्ययन में इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि 'भारतीय समाज चूँकि पश्चिमी यूरोपियन समाज की भौतिक संपन्नता का मुकाबला नहीं कर सकता है| ऐसी स्थिति में भारतीय पुरुष समाज सुधारक एक ऐसी आध्यात्मिक क्षेत्र की परिकल्पना करते है जो पश्चिमी समाज की 'सभ्यता' और 'श्रेष्ठता' के दावे को चुनौती दे सकें|'[75]

राष्ट्रवादी भौतिक क्षेत्र में यूरोपियन समाज की ज्ञान–विज्ञान की चीजें अपनाने में किसी तरह की बुराई नहीं मानते थे लेकिन वे भारतीय सामाजिक मूल्यों में किसी भी तरह की दखलंदाजी का विरोध करते थे| इसके पीछे उनकी यही विचारधारा काम करती थी की भारतीय समाज आध्यात्मिक क्षेत्र में यूरोपियन समाज से श्रेष्ठ है| यही कारण है कि भारतीय समाज सुधारक आंतरिक और बाह्य के विभाजन के आधार पर महिलाओं में सुधार की स्थिति को स्वीकार करते है, जहाँ भारतीय महिलायें आतंरिक क्षेत्र की मर्यादा को लांघे बिना भारतीय समाज की गरिमा को बनाये रख सकती थी| आतंरिक और बाह्य की यह सीमा रेखा सिर्फ महिलाओं के सन्दर्भ में ही मान्य थी| इस आध्यात्मिक क्षेत्र की मर्यादा को

---

[73] वही, पृष्ठ 54

[74] वही, पृष्ठ 54

[75] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (संपा. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 56

बनाये रखना महिलओं की जिम्मेदारी थी, जहाँ पुरुष की स्थिति कानून बनाने वाला और स्त्रियों की भूमिका उसका पालन करने में निहित थी|

जाहिर है कि ऐसी स्थिति में भारतीय समाज की 'महानता' को निभाने की सारी जिम्मेदारी महिलाओं पर थी| भारतीय पुरुष इसका निर्माता और भोक्ता था| भारतीय समाज सुधारकों की इस मान्यता को, जैसा कि पार्थ चटर्जी ने स्थापित किया है, विरोधात्मक स्थिति यह है कि यह मान्यता भी कि भारतीय समाज अध्यात्मिक रूप से यूरोपीयन समाज से श्रेष्ठ है प्राच्यवादी इतिहासकारों की स्थापना का ही प्रतिरूप है| दूसरा यह कि जिस प्राचीन भारत की महानता और श्रेष्ठता का दावा भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा किया जा रहा था, इसे भी प्राच्यवादी इतिहासकारों ने स्थापित किया था|

भारतीय समाज सुधारकों ने जिस भौतिक और आध्यात्मिक विभाजन को आधार बनाकर यूरोपीय समाज के श्रेष्ठता के दावे को चुनौती देने की कोशिश की उसका सार यह था कि भारतीय पुरुष यह तो चाहता था कि वह न केवल भौतिक क्षेत्र में ज्ञान–विज्ञान से अपने आप को सुशोभित करे; पश्चिमी रहन -सहन और पहनावे में यूरोपीय समाज की बराबरी करे बल्कि आतंरिक क्षेत्र को भी वह अपनी सहूलियत के हिसाब से बदलने और निर्णय लेने का अधिकार सुरक्षित रखता था| यहाँ पर उसके लिए इस विभाजन के मायने बस इतना भर था कि महिलाएं इस विभाजन का निर्वाह सावधानी पूर्वक करे| पुरुष समाज सुधारक यह नहीं चाहते थे कि महिलाएं पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान के संपर्क में आये| यह वेबजह नहीं था कि परम्परावादी और समाज सुधारक दोनों ही इस बात के पक्ष में थे कि महिलाओं को ऐसी शिक्षा दी जाए जो घरेलू कार्यो से सम्बंधित हो| दूसरी ओर समाज सुधारक भारतीय मूल्यों के नाम पर उनके ओढ़ने-पहनने के चुनाव पर भी पाबंदी लगा रहे थे ,चाहे वह पहनावा भारतीय पहनावे के बरक्स ज्यादा सहूलियत भरा और शरीर को अच्छी तरह से ढकने वाला ही क्यों न हो|

भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र को विभाजन का आधार बनाकर भारतीय समाज सुधारकों के श्रेष्ठता-बोध के इस दावे को पश्चिमी यूरोपीय समाज की भौतिक श्रेष्ठता को चुनौती देने के सन्दर्भ में परिभाषित करना; महिला-प्रश्न की स्थिति को भारतीय पितृसतात्मक समाज के सन्दर्भ में समझाना कितना कारगर है? तब जब कि विचार-विमर्श महिला- प्रश्न की स्थिति के बारे में हो रहा हो| समाज सुधाराकों का यह दावा अपने आप में कितना खोखला और बेबुनियाद साबित होता है जब वो सारी सहूलियत तो अपने लिए सुरक्षित रखना चाहते थे और महिलओं से यह आशा रखते थे कि वो बेबुनियाद भारतीय समाज के मूल्यों को सुरक्षित रखे| महिलाओं पर इतनी सख्ती क्या पुरुषों के इस आध्यात्मिक श्रेष्ठता के दावे को खोखला साबित नहीं करता| या वे उसे अपनी रूढ़िवादी मानसिकता को छुपाने के लिए इस्तेमल कर रहे थे? या महिला उद्धारक के रूप में स्वयं को और स्त्रियों को धोखा दे रहे थे|

स्पष्टत: पार्थ चटर्जी राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में महिला–प्रश्न की स्थिति की विवेचना इस आधार पर करते है कि भारतीय समाज सुधारकों ने यूरोपीय समाज के भौतिक श्रेष्ठता के बरक्स भारतीय आध्यात्मिक श्रेष्ठता का दावा और आतंरिक क्षेत्र में महिलाओं पर नियंत्रण करने का भाव भारतीय पुरुष समाज सुधारकों में इस आधार पर विकसित होता है कि उन्हें पश्चिमी समाज से भारतीय समाज की महानता को साबित करना है| महिलाओं पर नियंत्रण का सम्बन्ध उनकी पितृसत्तात्मक वर्चस्ववादी प्रवृत्ति से न हो कर औपनिवेशिक राजसत्ता और औपनिवेशिको के बीच 'परंपरा' के टकराव के फलस्वरूप सामने आता है|

अगर हम इस स्थापना को महिला-प्रश्न की स्थिति के सन्दर्भ में एक पक्ष के रूप में स्वीकार भी कर ले, तो भी इससे इंकार नहीं कर सकते है कि राष्ट्रवादी राजनीति के उभार के पहले भी पितृसत्तात्मक समाज का अस्तित्व था| न केवल भारतीय समाज में बल्कि पश्चिमी समाज में भी महिलाओं की स्थिति को बहुत सारी स्थितियों में बेहतर नहीं कहा जा सकता है|

2.3 भारतीय महिला और पश्चिमी महिला का मिथक :

जैसा कि यह जाहिर है कि साम्राज्यवादी शासकों ने अपनी औपनिवेशिक सत्ता को सही ठहराने के लिए भारतीय महिलाओं की स्थिति को, जो वास्तव में दयनीय थी, को आधार बनाया| दूसरी ओर भारतीय समाज सुधारकों ने अपने पिछड़ेपन और अपनी रूढ़िवादी मान्यताओं को सही साबित करने के लिए; महिलाओं पर अपना नियंत्रण मजबूत करने के लिए एक ऐसी भारतीय महिला के मिथक की परिकल्पना की जो यूरोपीय महिला से पृथक अस्तित्व रखती हो| जबकि सवाल यूरोपीय महिला से अलग दिखने का था ही नहीं| सवाल तो यह था कि भारतीय महिलाओं को बेबुनियादी मूल्यों और परम्पराओं से किस तरह से स्वतंत्र किया जाय? जिसके कारण उसकी स्थिति इतनी दयनीय हो चुकी है| इस पृथकता-बोध की राजनीति ने भारतीय महिलाओं को ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने से तो रोका ही, इसी आधार पर उसने भारतीय महिलाओं को रूढ़िवादी और पितृसत्तात्मक अधीनता को सुनिश्चित करने वाली मान्यताओं को भी बढ़ावा दिया| इसका असर यह हुआ कि भारतीय महिलाएं भारतीय महिला और पश्चिमी महिला की पृथकता के दबाव का सामना आज भी कर रही है| महिलाएं खुलकर उन रूढ़ियों का विरोध नहीं कर सकी जो उनकी पराधीनता को मजबूत बनता है|

2.4 प्राचीनता- बोध का खतरा और महिला- :

प्राचीन भारतीय समाज में भारतीय महिला की बेहतर मिथकीय छवि का गढ़ा जाना महिला आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट बन कर आया| भारतीय महिलाओं की मिथकीय छवि रुढ़िवादियों और समाज सुधारकों दोनों के लिए इस दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित हुआ कि इस स्थापना के आधार पर वे न केवल पश्चिमी सभ्यता से भारतीय सभ्यता को श्रेष्ठ बताकर अपने आप को गौरान्वित कर सकते थे, बल्कि इसके आधार पर वे महिलाओं की पराधीनता को मजबूत भी कर सकते थे| प्राचीन भारतीय महिला का मिथक, समाज सुधारकों के लिए एक ऐसा विश्राम स्थल है जहाँ जाकर महिलाओं से सम्बंधित सारी समस्याएं समाप्त हो जाती है| यहाँ महिलाओं की सभी समस्याओं का समाधान उपस्थित

है| इसके अनुसार अगर महिलाएं प्राचीन आदर्शों और मूल्यों के अनुसार फिर से अपने आप को ढाल ले तो निश्चय ही उनकी शोचनीय स्थिति समाप्त हो सकती है| यही नहीं उनके अनुसार तो तत्कालीन दौर में महिलाओं की जो दयनीय स्थिति है उसका कारण भी प्राचीन भारतीय आदर्शों को छोड़ देने के कारण ही है|

इस प्रस्थापना में दिक्कत तब आती है जब समाज सुधारक प्राचीन भारतीय महिलाओं की मिथकीय छवि में गोते लगते हुए, यह भूल जाते है की वर्तमान महिलओं की स्थिति बेहतर नहीं है और इसमें वर्तमान समाज के अनुसार बदलाव की ज़रूरत है| उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान जब भी स्त्रियों की मौजूदा हालत के बारे में बात की जाती थी, उस समय इस बात पर मुख्य रूप से चर्चा हो रही थी कि प्राचीन भारतीय समाज में विशेषकर वैदिक कालीन भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति कैसी थी| सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से महिलाओं की हैसियत का सवाल भी उठाया जा रहा था| यह सवाल कि प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति कैसी है इस पर इतिहासकारों से लेकर समाज सुधारकों, साहित्यकारों और महिलाओं के लिए भी यह सवाल अहम और उल्लेखनीय बना हुआ था|

जैसा कि यह जाहिर है कि जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास से संबंधित अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' में भारतीय सभ्यता और संस्कृति को ब्रिटिश सभ्यता और संस्कृति के बरक्स ख़राब और निकृष्ट स्थापित किया है|'[76] इस तरह की अवधारणा या समान्यीकरण के पीछे औपनिवेशिक साम्राज्य को सही ठहराने की धारणा काम कर रही थी लेकिन भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों और समाज सुधारकों के लिए ऐसी अवधारणा आहत करने वाली थी| साम्राज्यवादी इतिहासकार अपनी इस अवधारणा कि भारतीय समाज निकृष्ट और खराब है, को पुष्ट करने के लिए भारतीय स्त्रियों की बेहद शोचनीय दशा को उदाहरण के रूप में पेश करता था, जिसमें सती प्रथा को विशेष रूप से चिन्हित किया जा रहा था| लेकिन इसके साथ ही प्राच्यवादी विचारकों ने यह भी स्थापित किया था कि प्राचीन भारतीय

[76] उमा चक्रवर्ती, अल्टेकेरियन अवधारणा से परे: प्रारम्भिक भारतीय इतिहास में जेंडर संबंधों की नई समझ, (संपादित नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे (सपादक) साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ 132

संस्कृति और सभ्यता आज की भारतीय स्थिति से कहीं अधिक उन्नत और संपन्न थी| यही बात भारतीय महिलाओं की स्थिति पर भी लागू होती थी कि प्राचीन वैदिक काल में भारतीय महिलाओं की स्थिति मौजूदा भारतीय महिलाओं की बनिस्पत सम्मानित थी क्योंकि उस दौर में लोग वैदिक नियम-कायदों के अनुसार चलते थे, जहाँ स्त्रियों को भी सम्मानजनक स्थिति प्राप्त थी।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों और भारतीय समाज सुधारकों ने प्राच्यवादियों की इस स्थापना को अपने हित में इस्तेमाल किया| जब भी वे मौजूदा भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर बात करते थे, तब वे यह कहना नहीं भूलते थे कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति बेहतर थी और मौजूदा हालात को सुधारने के लिए प्राचीन नियम-कायदों को फिर से स्थापित करने की जरूरत है| 'इस तरह के विचार को स्थापित करने वाले राष्ट्रवादी इतिहासकारों में आर. सी. दत्त का नाम विशेष रूप से लिया जाता है| अपनी किताब 'हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन एंसियेंट इंडिया' में इस बात पर जोर देते हैं कि प्राचीन हिंदू साहित्य का अध्ययन करने वाले भारत के उन इतिहासकारों को कि ग्रीस और उनके सबसे सुंदर दिनों में भी महिलाओं को वैसा सम्मान प्राप्त नहीं था जैसा 3000 साल पहले भारत में था|'[77] स्त्रियों के मामले में यह मान्यता एक आम मान्यता के रूप में स्थापित हो चुकी थी| सभी समाज-सुधारक और संस्थाएं विशेष रूप से आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती की मान्यता थी कि वैदिक कालीन भारत काफी उन्नत था| यही कारण है कि उनका सुधार से संबंधित जो भी कार्य था, उसे वैदिक नियमों के अनुसार ही संपन्न करते थे| यहां तक कि समाज सुधारक उन्हीं ग्रंथों और श्लोकों को उदाहरण के रूप में पेश करते थे जो उनके विचारों को अधिक से अधिक पुष्ट करने में समर्थ था।

बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में हिंदी-क्षेत्र में व्यापक संख्या में उभरी लेखिकाओं का विचार भी इस मान्यता से काफी प्रभावित था| हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं, कहानियों, उपन्यासों और

---

[77] उमा चक्रवर्ती, अल्टेकेरियन अवधारणा से परे: प्रारम्भिक भारतीय इतिहास में जेंडर संबंधों की नई समझ, (संपादित नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे (सपादक) साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनर्मुद्रण 2006,पृष्ठ 130,

इस दौर के विभिन्न विधाओं में इस मान्यता को बल मिल रहा था| गार्गी, मैत्री जैसी कुछ गिनी-चुनी वैदिक कालीन विदुषियों को स्त्रियों के बेहतर स्थिति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था| यह मान्यता आज भी दृढ़ता के साथ स्थापित है| इस तरह की स्थापनाओं का परिणाम यह हुआ कि महिला-लेखन में भी इस बात की कि प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति बेहतर थी, बड़ी आसानी से मान्यता मिल गई| इस दौर के साहित्य में महिलाओं की मौजूदा स्थिति को प्राचीन भारतीय महिलाओं की बेहतर स्थिति के बरक्स रखकर देखी जाने लगी| यही नहीं इस मान्यता को भी बल मिला कि अगर मौजूदा दौर में महिलाओं की स्थिति इतनी शोचनीय है, तो इसका कारण क्या हो सकता है? तब इसके कारण के रूप में 'विदेशी आक्रमणकारियों में मुसलमानों का नाम लिया जाता है; कि उन्होंने महिलाओं का अपहरण करके उन्हें भ्रष्ट किया| जिसके फलस्वरुप परदा प्रथा, सती प्रथा, और बालिका शिशु हत्या जैसी कुरीतियाँ पैदा हुई|'[78] नारीवादी इतिहासकार उमा चक्रवर्ती इस सोच को और इसे मिले व्यापक स्वीकृति को 'सिर्फ परंपरागत शैक्षणिक शोध का ही विस्तार मानती हैं|

2.5 घर और बाहर के कश्मकश से उपजा असुरक्षा की भावना :

बदलती हुई सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने महिलाओं की भूमिकाओं में भी आमूल-चूल परिवर्तन ला दिया था| उत्तर-भारत में १९२० के बाद का दशक तो महिलाओं के लिए विशेष रूप से परिवर्तनशील साबित हुआ| १९२० से स्वतंत्रता प्राप्ति तक का समय स्त्रियों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में विशेष सक्रियता का समय था| ऐसी परिस्थिति में घर से बाहर स्त्रियों की चहलकदमी का बढ़ना लाजमी था| विशेष रूप से उच्च-माध्यम वर्ग की महिलाओं के सामने इस तरह की परिस्थितियां निर्मित हो रही थी कि उनके ऊपर घर और बाहर की दुनिया में तालमेल बैठने का सामाजिक तनाव हावी होने लगा था| कम संख्या में ही सही शिक्षा के परिणाम स्वरुप महिलाओं में चेतना का विस्तार हो चुका था| कुछ महिलाएं तो राजनीतिक और प्रशासनिक पदों पर भी कार्यरत हो चुकी थीं|

[78] वही पृष्ठा28

राष्ट्रीय आन्दोलन और स्त्री सुधारवादी संगठनों की वजह से स्त्रियों को सिर्फ घर की दुनिया में सीमित करके रखना आसन नहीं रह गया था| इस दौर में विशेष रूप से ३०-४० के दशक के साहित्यिक लेखों के माध्यम से यह रेखांकित किया जा सकता है कि किस तरह से पुरुष वर्ग सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की सक्रियता से असुरक्षित महसूस कर रहा था; पुरुष समाज सुधारक और साहित्यकार इस बात को लेकर कि सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी और विभिन्न पदों और मोर्चों पर उनकी सक्रियता से पारिवारिक क्षेत्र में तरह-तरह की मुश्किलें पैदा हो रही थी, चिंताग्रस्त दिखाई दे रहे थे| ऐसी महिलाएं घर और बाहर की दुनिया में तालमेल बैठाने की कोशिश कर रही थीं| स्त्रियों को नैतिक अवहेलना का सामना करना पड़ रहा था| ऐसा भी नहीं था कि वो घरेलू कार्यों को नहीं करना चाह रही थी; बल्कि पहले से ज्यादा उन्हें अपने आप को साबित करना पड़ रहा था| लेकिन वो सिर्फ घर में ही सीमित रह कर नहीं रहना चाहती थी यह भी स्पष्ट था| एक बार बाहर की दुनिया के संपर्क में आ जाने के बाद घर की दुनिया में वापस जाना अब स्त्रियों के लिए भी आसान नहीं था| स्त्रियों में आई इस चेतना का सम्बन्ध स्वतंत्रता आन्दोलन से भी था| जैसा कि यह जाहिर है कि किस तरह से स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं को घरों में वापस भेजा जाने लगा| फिर भी उच्च-मध्य वर्ग की बहुत-सी महिलायें पढ़-लिख कर स्कूल और कालेजों में शिक्षिका का कार्य कर रही थीं| कुछ पत्र-पत्रिकाओं के संपादन इत्यादि कार्यों में सक्रिय थी, तो कुछ विभिन्न समाज-सेवी संस्थाओं के जरिये बाहर की दुनिया में शिरकत कर रही थीं| कुछ महिलाएं तो राजनीतिक पदों विधायिका और प्रांतीय अस्म्बेलियों में कार्यरत भी थीं| इन सारी परिस्थितियों ने घर के बाहर महिलाओं की भागीदारी को बढ़ा दिया था| इन महिलाओं से सामान्य घर की महिलाएं और लडकियां भी प्रभावित हो रही थी| जाहिर है कि इससे पारिवारिक कार्यों और पुरुषों की मिली पितृसत्तात्मक हैसियत में दखलंदाजी होती| कुछ उदाहरणों से पुरुषों के असुरक्षा की भावना को समझा जा सकता है कि वे किस तरह सार्वजनिक क्षेत्र में बढ़ती हुई महिलाओं की भागीदारी से असुरक्षित महसूस कर रहे थे| इसे पंडित ईश्वरी देवी के इस चिंता से समझा जा सकता है-

"स्त्रियों के पहनावे के नए-नए फैशन के रिवाज अब काफी बढ़ रहा है। पाउडर सोप-क्रीम आदि विलास के नाना पदार्थों का प्रचार भी शैनेः-शैनेः बढ़ता ही जा रहा है। कुछेक महिलाएं अब यूरोपियन लेडीयों की तरह अपने बाल भी कटवाने लगी हैं| इस सब बाहरी बातों के अलावा उनमें मानसिक परिवर्तन भी बहुत हो गया है| वे भी अपने अधिकारों की चर्चा करने लगी हैं| सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए भी शिक्षित महिलाएं उत्सुक हो उठी हैं| इस नए काम में शुरू-शुरू में उनका दिल भी खूब लगता है| कई स्थानों पर उन्हें कम्युनिसिपैलिटियों तथा कौंसिलों के लिए मताधिकार भी मिल गए हैं|

इसके साथ-साथ एक बात और भी उनमें पैदा होने लगी है, वह यह कि ये जहां बाहरी कामों को हाथ में लेने के लिए उत्सुक हो रही हैं, वहां स्वभावत: वो घर के कामों में अधिकाधिक उदासीन हो रही है| अब उनमें कुछ-कुछ ख्याल पैदा होने लगा कि घर के छोटे बड़े काम हम ही क्यों करें| समर्थ घरों के अलावा मध्यम श्रेणी के घरों में भी नौकरों की संख्या इसलिए बढ़ने लगी है| यह ठीक है कि इसमें आज की महिलाओं की बढ़ती हुई नजाकत भी प्रधान कारण है और इसकी जिम्मेवार पश्चिमी सभ्यता ही है| इसी के साथ-साथ अब कुछ स्त्रियां यद्यपि उनकी संख्या थोड़ी है , मातृ कर्तव्य के प्रति उदासीन होने लगी है| उनमें माता बनने के प्रति भी विरक्ति उत्पन्न हो गई है ,क्योंकि परतंत्रता बढ़ जाती है| यह प्रवृति बहुत ही कम है, पर फिर भी यह शैने:-शैने: बढ़ अवश्य रही है| यही एक प्रवृत्ति है जिसे देखकर बहुत से भारतीय महिला आंदोलन पर भी आक्षेप करते हैं |

स्त्रियां पुरुषों को घरेलू तकलीफों से बरी करना अपना फर्ज समझें| वस्तुतः स्त्रियों को घर के बाहर के राजनैतिक-सामाजिक अधिकारों को मांगने की जरूरत नहीं, पुरुष उन कामों को स्वयं करें और स्त्रियों को व्यर्थ दबाकर न रखें और दूसरी तरफ स्त्रियां अपने महान मातृ कर्तव्य को भी ना भूले| माताओं के कंधे पर तो भावी राष्ट्र निर्माण के लिए बड़े-बड़े राजनीतिक और योद्धा तैयार करने का महान उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है |"[79]

[79] पंडित इश्वरी देवी, भारत का वर्तमान महिला-आन्दोलन और उसकी दशा, संपा. संजय गर्ग, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 68-69-70

इन सारी परिस्थितियों ने पुरुषों में असुरक्षा की भावना को जन्म दिया और वो पढ़ी-लिखी, चेतना संपन्न महिलाओं की नैतिक भर्त्सना और उनके चारित्र को लेकर **जजमेंटल** होते गये और महिलाओं को पारंपरिक भूमिकाओं में फिर से लौटने की कोशिश करने लगे| पुरुषों के इन कोशिश और असुरक्षा की भावना को आधार प्रदान किया- भारतीय और यूरोपीय स्त्री का मिथकीय चरित्र, प्राचीन भारतीय महिला का आदर्श और उनकी बेहतर स्थिति की परिकल्पना, आदर्श मातृत्व की छवि और प्रतीकात्मक स्त्रीत्व के निर्माण ने|

इन नए विमर्श ने स्त्रियों को एक 'नई पितृसत्ता' के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया| जिसका सीधे-सीधे प्रतिवाद करना स्त्रियों के लिए आसान नहीं था| क्योंकि हिन्दु राष्ट्रवाद के उभार ने स्त्रियों के संघर्ष को ही नहीं बल्कि उनकी सोचने-समझाने की चेतना को भी गहराई से प्रभावित किया| विभिन्न जातीय संगठनों के उभार ने एक ऐसा माहौल पैदा किया जिसने निश्चय ही महिलाओं के जातीय, वर्गीय और सम्प्रदायिक चरित्र को हवा दी|

इन सारी परिस्थितियों ने स्त्रियों के लिए पारंपरिक भूमिकाओं से संघर्ष को और भी जटिल बना दिया| उन्हें भारतीय स्त्री के आदर्श को आत्मसात करके आगे बढ़ना था; उन्हें इन सारे विरोधाभासों के बीच से अपने लिए भी रास्ता बनाना था| सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रियता से पुरुष वर्ग किस तरह से सशंकित हो उठा था, इसका अंदाजा हम कुछ उदाहरणों से लगा सकते है| ये कोई इत्तेफाक नहीं था कि हिंदी की लेखिकाओं की रचनाओं में पारिवारिक और सार्वजनिक क्षेत्र की कश्मकश को आधार बनाया गया है| महादेवी वर्मा का लेख 'घर और बाहर' इन्हीं जटिलताओं पर आधारित है| उस दौर के हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में इस तरह के लेख आसानी से मिल जायेंगे, जिसमे पढ़ी-लिखी, शिक्षित और सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय महिलओं के बारे में पुरुष वर्ग इस बात को लेकर आश्वस्त नहीं थे की स्त्रियाँ अब घर के कामों को उतनी ही जिम्मेदारी से कर सकती है जितनी जिम्मेदारी से वो तब किया करती थी जब स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सिर्फ घर हुआ करता था|

पुरुष समाज सुधारकों की दिक्कत यह थी कि वो महिलाओं के दोनों ही भूमिकाओं से सन्तुष्ट नहीं थे| चाहे तब जब वह सिर्फ घर में काम करती थी या अब जब वो घर और बाहर दोनों

ही क्षेत्र में काम कर रही हो| इसका एक कारण यह भी है कि पुरुष महिलाओं से ये तो उम्मीद करता है कि वह समझौता करें लेकिन स्वयं समझौता करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे, शायद इसका कारण यह था कि वो महिलाओं के संदर्भ में कभी समझौता ही नहीं किये थे| पुरुष समाज सुधारकों की दूसरी समस्या यह थी कि चूँकि वो खुद को महिलाओं का उद्धारक मानकर चल रहे थे और महिलाओं को सिर्फ अपनी सहायक की भूमिका में ही स्वीकार कर पा रहे थे| ऐसी स्थित में पुरुष समाज सुधारक स्त्री-शिक्षा या सार्वजनिक क्षेत्र में उसकी सक्रियता को सीधे तौर पर आलोचना तो नहीं कर सकते थे, क्योंकि उन्हें अपनी उदार छवि भी बनाये रखनी थी| जाहिर है कि वो स्त्री-शिक्षा के नाम पर घरेलू कामों का आदर्शीकरण करते| इसके लिए मुनासिब यही था कि वो महिलओं पर नैतिक दबाव डालते जो ज्यादा असरदार होता बनिस्पत सीधे-सीधे दबाव देने या विरोध करने की अपेक्षा| ऐसा हुआ भी| हम देखते है कि किस तरह से पारम्परिक स्त्रैण भूमिकाओं के पक्ष में स्वयं महिलाएं ही दलीलें पेश करने लगी थी| पार्थ चटर्जी ने भी इस विरोधाभास को रेखांकित किया है|

अब शिक्षित महिलओं को चारित्रिक रूप से भ्रष्ट महिला के रूप में परिभाषित किया जाने लगा| यह इत्तेफाक नहीं था की पढ़ी-लिखी महिलाओं को 'स्वछन्द तितली' का पर्याय माना जा रहा था| महिलाओं पर इस तरह के दबाव डाले जा रहे थे कि वो घर के कामों को पितृसत्तात्मक मूल्यों को बिना विरोध किये अंजाम दे सके| एक ओर जहाँ 'भारतीय स्त्री बनाम पश्चिमी स्त्री' का मिथक खड़ा करके महिला-प्रश्न को भ्रमित किया गया तो दूसरी ओर पुरुष समाज सुधारकों ने नैतिक रूप से यह दबाव बनाया कि 'भले ही महिलाएं शिक्षित हो गयी हो, फिर भी वो घर-परिवार की देखभाल में किसी तरह की कोताही नहीं करती है; कि शिक्षित महिलायें भी सर्वगुण संपन्न है, भले ही 'सार्वजनिक क्षेत्र में क्यों न सक्रिय हो पति की सेवा,'[80] बड़ी लगन और दक्षता के साथ करती है| इन दोनों ही स्थितियों में महिलओं पर यह दबाव बढ़ रहा था कि कैसे वो खुद को एक आदर्श स्त्री के रूप में साबित करे| ये दोनों ही परिस्थितियां स्त्रियों का विरोध और पितृसत्ता का पोषण कर रही थी|

[80] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 115

2.6 संसारिक और आध्यात्मिक विभेदीकरण से उपजा 'नई पितृसत्ता'-

राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न की स्थिति की व्याख्या के सिलसिले में पार्थ चटर्जी यह दिखाते है की कैसे 'सांसारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र का यह विभेद एक नई पितृसत्ता को जन्म देता है|' भारतीय समाज सुधारकों के लिए यह विभेदीकरण इसलिए जरूरी था क्योंकि यहीं वो रास्ता था जिससे भारतीय समाज सुधारक यह प्रमाणित कर सके कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति यूरोपियन सभ्यता और संस्कृति से श्रेष्ठ और महान है| इस श्रेष्ठता और महानता का आधार है भारतीय आध्यात्मिकता, और इस महान आध्यात्मिकता का आधार है- भारतीय महिलाओं का स्त्रीत्व और मातृत्व का आदर्श स्वरुप|

इस श्रेष्ठता क्रम में भारतीय महिलाएं भारतीय पुरुषों के लिए उनके अहं को पुष्ट करने की जरिया थी तो यूरोपियन महिलाएं (स्वछन्द) ब्रिटिश शासकों को लज्जित करने का आधार| दूसरी ओर ब्रितानी भारतीय महिलाओं की शोचनीय दशा के प्रति सहानुभूति दिखाकर अपने शासन को तर्क संगत साबित कर रहे थे| हालांकि ऐसा भी नहीं था कि भारतीय महिलाओं की दशा ख़राब नहीं थी| लेकिन दिक्कत यह थी कि यहाँ महिलाएं दोनों तरफ के पुरुषों के लिए अपने शासन अपने संस्कृति और सभ्यता को श्रेष्ठ और सभ्य साबित करने का जरिया बन कर रह जाती है| दोनों ओर से महिलाओं का दोहन किया जा रहा था| जिससे महिला-प्रश्न का अलग-अलग बेबुनियादी मसलों में उलझ कर रह जाता है| यहाँ पर कर्तव्य निभाने की बात हो, स्वीकार और इंकार करने की बात हो सब कुछ महिलओं को ही निभाना था| यहाँ पर पुरुष एक हुक्मरान की हैसियत में सामने आता है|

क्या बात सिर्फ इतनी भर थी कि भारतीय समाज सुधारक चूँकि भौतिक क्षेत्र में पश्चिम का मुकाबला नहीं कर सकते थे अत: उन्होंने अध्यात्मिक श्रेष्ठता के दावे किये? इस प्रक्रिया में भारतीय स्त्रियों का प्रतीकात्मक आदर्शीकरण किया गया और परिणामस्वरुप एक नई पितृसत्ता का जन्म हुआ? या बात ये थी कि भारतीय पुरुषों के लिए शिक्षित महिलाएं; सार्वजनिक क्षेत्र में जगह बनाती हुई महिलाएं; महिला संगठनों से अपनी आवाज उठाती हुई

महिलाएं; पितृसत्तात्मक वर्चस्व को चुनौती देने लगी थी? पुरुषों के उस उस जन्मजात अधिकार को उनकी हैसियत को, जो उन्हें जेंडर विभेदीकरण के आधार पर मिला हुआ था, उसमें हस्तक्षेप करने लगी थी, जिसके कारण महिलाओं के चरित्र का आदर्शीकरण करना पड़ा|

इस आदर्शीकरण की प्रक्रिया में पहले से ही विभिन्न वर्गों और जातियों में बंटी महिलाओं को अलग तरह के खांचों में विभाजित कर दिया गया| एक तो प्राचीन भारतीय महिला के मिथकीय और आदर्श चरित्र के अनुसार चलने वाली महिलाएं, जो घर-परिवार को प्राथमिकता देती हो और दूसरी ओर 'एक बुरी स्त्री' का मिथक खड़ा किया गया|

उस दौर के प्रगतिशील कहे जाने वाले रचनाकर भी शिक्षित और आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ी; पुरुषों के साथ नि:संकोच बात करने वाली एवं स्वतंत्र विचारों वाली महिला का चित्रण 'तितली' की तरह स्वछन्द विचरण करने वाली, चारित्रिक रूप से हीन महिला के रूप में कर रहे थे| पितृसत्तात्मक वर्चस्व और पुरुषों में आई असुरक्षा की भावना का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि अपने समय के सबसे गंभीर लेखक माने जाने वाले प्रेमचन्द 'गोदान' जैसी अपनी कालजयी माने जाने वाली रचना में शिक्षिता मालती का चित्रण एक स्वछंद स्त्री के रूप में करते है| इस सोच की विडम्बना यह है कि वो मालती को एक आदर्श भारयीय नारी के रूप में परिवर्तित कर देते है|

पढ़ी-लिखी और राजनीतिक पदों पर कार्यरत महिलाओं की संख्या कम होने के बावजूद भारतीय पुरुष इस बात के अंदेशे से भी डरे हुए थे कि उनके घर की महिलाएं शिक्षित और आजाद खयालों वाली महिलाओं से प्रभावित तो नहीं हो रही है| इसी तरह के अंदेशों से ग्रसित एक पुरुष का पत्र विजयलक्ष्मी पंडित के पास आया था; कि किस तरह से उसकी पत्नी उनसे प्रभावित थी| इसका असर यह है कि वो अब अपने पति से सवाल जवाब कर रही थी; इस तर्क पर कि अब स्त्रियाँ भी पुरुषों से किसी तरह कम नहीं है; कि अब वो भी पढ़-लिख कर निर्भर हो सकती है| उसने क्रोध भरे लहजे में विजयलक्ष्मी पंडित की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि-

"श्रीमती जी.. आपके जैसी स्त्रियाँ ही समाज में गड़बड़ी पैदा करती है और अनेक भारतीय घरों में कलह की जिम्मेदार है| जब से आप प्रान्त की मंत्रिणी बन गयी है, तभी से बहुत-सी स्त्रियों के मन में असंतोष पैदा हो गया है| स्त्री का स्थान घर पर है सार्वजनिक मंच पर नहीं| पुरुष जीवन के कार्यों के अपनाने के कारण बहुत बुरा असर पढ़ रहा है| मैं विवाहित व्यक्ति हूँ और गत दस वर्षों से मेरी स्त्री ने सदैव मेरी आज्ञाओं का पालन किया है| अभी हाल में उसका मिज़ाज बदल गया है| अत: जब कभी हममें मतभेद पैदा होता है वह मेरी बात ध्यान से सुनती भी नहीं, और कहती है, मैं तुम्हारी ज़र खरीद गुलाम नहीं हूँ| अगर तुम्हें मेरे तरीके पसंद नहीं है तो मैं विजयलक्ष्मी पंडित के पास चली जाउंगी| वो स्त्रियों के लिए सब कुछ कर रही है| और वो मेरी सहायता भी जरूर करेंगी| यदि कभी मेरी स्त्री मेरे पास से गयी तो इसकी सारी जिम्मेदारी आपकी होगी|"[81]

इस पत्र के अंदाज और लहजे से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि किस तरह से भारतीय पुरुष महिलाओं के बढ़ते कदम और उनकी चेतना से असुरक्षित महसूस कर रहे थे| यह असुरक्षा की भावना किसी भौतिक या आध्यात्मिक श्रेष्ठता के भाव से नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक वर्चस्व की उस भावना से आता है जहाँ पुरुष अपने आप को सर्वे-सर्वा समझता है| उसकी नजर में स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना तो दूर की बात है, मतभेद होने पर सवाल-जबाब करने का अधिकार भी उसके पास नहीं है| भारतीय पुरुष इस बात से डरा हुआ था कि कही स्त्रियाँ उनके वर्चस्ववादी रवैयों के खिलाफ विद्रोह न कर दे|

पुरुषों में यह प्रवृति पनप रही थी कि सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय महिलाएं घर-परिवार तोड़ने वाली होती है, जिससे उनके घर की महिलाएं भी प्रभावित हो सकती है|

'नई पितृसत्ता' का जन्म सिर्फ पश्चिम और पूर्व के से ही नहीं होता है, पुरुषों की उन पितृसत्तात्मक सोच से भी होता है, जिसमें वह यह मानकर चलता है कि स्त्रियों की शोभा घर की चारदीवारी के अन्दर ही है-

[81] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 236

"मैं उन लोगों मे से हूँ जिनका विश्वास है कि स्त्री का कर्तव्य घर के अन्दर रहना है..लेकिन जब वो राजनीति में पुरुषों से प्रतियोगिता करने उतरती है तो यह स्वाभाविक है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए वह प्रयत्न करती है उसी को हानि पहुँचाती है..आप ऐसी दर्जनों स्त्रियों के लिए बुरा उदहारण है, जो अब तक अपने घरों में शांति के साथ रह रही थी..| मेरी सत्रह वर्ष की एक लड़की है वह अत्यंत योग्य व्यक्ति से भी विवाह करने से इंकार करती है| अपनी माँ के प्रर्थनाओं पर वो कहती है – 'समय बदल गया है, स्त्री का एक उद्देश्य है| मैं पढ़ूगी ताकि अपने देश के लिए कुछ कर सकू| मैं अपने को बंधन में न बधुंगी'| चूँकि आपकी तस्वीर उसके कमरे के प्रत्येक कोने से झांकती है| इसलिए हमारा यह पुछना स्वाभाविक है कि उसे ये विचार कहाँ से मिले|"[82]

पुरुषों में यह भय और असुरक्षा की भावना कहाँ से आ रही थी? क्या यह भय और असुरक्षा की भावना राष्ट्र की बेहतरी की चिंता से उपजी है, या इस भावना से कि भारतीय पुरुष को पारिवारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में युरोपवालों से श्रेष्ठ दिखाना है इसलिए या जेंडर भिन्नता से, जिसमें पुरुष इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि वह पुरुष है| और आज जबकि यहाँ से अंग्रेज चले गए है तो पुरुष श्रेष्ठता का दंभ कहा से आता है? तो क्या यह भय और असुरक्षा की भावना उस पितृसत्तात्मक वर्चस्व में आये उस सेंध से उपजी है जो अभी तक अभेद्य था? जिस पर महिलाएं सवाल नहीं उठा सकती थी? जाहिर है कि यह सोच, किसी एक आधार पर नहीं टिकी है| भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में पितृसत्ता भिन्न-भिन्न आधार खोज ही लेता है| अगर उसे यह लगता है कि उसके राजनीतिक, वर्गीय, जातीय हित खतरे में है तो वह उसे सम्प्रदायिक रंग दे देता है और ये खेल महिलाओं को आगे रख कर और भी आसानी से खेला जाता है वैसे ही जब उसे यह लगता है कि उसकी पितृसत्तात्मक हित खतरे में है तो वह राजनीतिक, धार्मिक-सम्प्रदायिक भावना के आधार पर महिलाओं की पराधीनता का आदर्शीकरण करता है||

[82] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 236

जाहिर है कि महिलाएं अब अपनी बेहतरी के लिए आवाज उठाने लगी थी| उनमें चेतना का संचार होने लगा था, जिसकी कल्पना कुछ वर्ष पहले नहीं की जा सकती थी| पत्रियों में यह कहने का 'जरखरीद गुलाम नहीं है', बेटियों का यह कहना की वो 'शादी के बंधन में न बंधकर पढ़-लिख कर कुछ करना चाहती है'| इस चेतना का आना, उस समाज में, जहाँ बिना शादीशुदा लड़कियों की कल्पना करना आज भी बहुत बड़ा मसला है| लेकिन अब स्थिति पहले की अपेक्षा बदली हुई नजर आती है| यहाँ तक कि-

"पत्नीत्व की अनिवार्यता से विद्रोह करके अनेक सुक्षिशित स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन में प्रवेश ही नहीं करना चाहती, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि उनके सहयोगी उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक क्षण भी सहन न कर सकेंगे| इस धरना के लिए प्रमाणों की भी कमी नहीं रही|"[83]

भारतीय पुरुषों की मानसिकता को महादेवी वर्मा उजागर करते हुए कहती है कि-

"प्रत्येक भारतीय पुरुष चाहे वह जितना सुशिक्षित हो, अपने पुराने संस्कारों से इतना दूर नहीं हो सका है कि अपनी पत्नी को अपनी प्रदर्शनी न समझे| उसकी विद्या, उसकी बुद्धि, उसका कला-कौशल और उसका सौन्दर्य सब उसकी आत्मश्लाघा के सदगान मात्र हैं| जब कभी वह सजीव प्रदर्शन की प्रतिमा अपना भिन्न व्यक्तित्व प्रगट करना चाहती है, अपनी भिन्न रूचि या अपना भिन्न विचार प्रगट करती है, तो वह पहले क्षुब्ध, फिर असंतुष्ट हुए बिना नहीं रहता, कभी भारतीय पत्नी देश के लिए गरिमा की वस्तु रही होगी, परन्तु आज तो विडम्बना मात्र है| यदि समाज उसकी स्थिति को न समझेगा तो अपनी दशा के प्रति असंतोष उसे वह करने पर बाध्य करेगा जिससे उसकी शेष महिमा भी नष्ट हो जावें|"[84]

जाहिर है कि बहुत हद तक पुरुषों की रूढ़िवादी और पितृसत्तात्मक मानसिकता भी महिलाओं के सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने के विरोध का कारण है| चूँकि वो खुले तौर पर इसका विरोध नहीं कर सकते थे, लिहाजा उस पर नैतिक दबाव बनाने पर ज्यादा जोड़ देते

[83] महादेव वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 73-74
[84] महादेव वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 74

थे| इससे उनकी सुधारक छवि भी बनी रहती थी और महिलाओं के तरफ से सीधे प्रतिरोध की गुंजाइस भी कम हो जाती थी|

दूसरी बात यह है के उस समय किसी भी तरह की बदलाव की मांग इस आधार पर की जा रही थी कि यह देश के हित में कितना सही और गलत है| पुरुष समाज सुधारकों के लिए देश की महानता इस बात पर निर्भर करता था, विशेष रूप से महिलाओं के संदर्भ में, कि मातृत्व की भूमिका वो कितनी जिम्मेदारी के साथ निभाती हैं| लेकिन महिलाओं के लिए देश की बेहतरी का सवाल उनकी शिक्षा-दीक्षा और आत्मनिर्भर बनने के साथ भी जुड़ा हुआ था|

इसी असुरक्षा की भवना से उपजा हुआ डर है पतिव्रता धर्म| पुरुष अभी भी पतिव्रता धर्म को जायज ठहरा रहा था जबकि हम देखते है कि १९वी शताब्दी के अंतिम दौर की महिला रचनाकारों और नेत्रियों ने पतिव्रता धर्म की कड़ी मुखालफत की है| २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी हिंदी क्षेत्र के रचनाकार पतिव्रता धर्म को बेबुनियाद दलीलों द्वारा सही ठहरा रहे थे| 'सीमंतिनी उपदेश'(१८८५) की लेखिका ने पतिव्रता धर्म को पुरुषों का 'मतलबी धर्म' कहके आलोचना किया है ताराबाई शिंदे और पं. रमाबाई ने भी अपनी रचना क्रमश: 'स्त्री-पुरुष तुलना और 'हिन्दू स्त्री का जीवन' में पुरुषों की स्वार्थपरता और धार्मिक मूल्यों के नाम पर स्त्रियों के शोषण को स्थायी मानने वाली प्रथाओं की आलोचना की है| लेकिन पुरुषों के लिए पतिव्रता धर्म का महत्व अभी भी निर्विवाद बना हुआ था| पतिव्रता धर्म की आलोचना करते हुए 'सीमंतनी उपदेश' की अनाम लेखिका ने लिखा हैं कि-

"यह पतिव्रता धर्म नहीं, खुद-मतलबी-धर्म है| बेवकूफ से जो कहो करता है| और जिस तरह कहो मानता है| तिस पर पतिव्रता धर्म के वाइस इन्हें किसी तरह का इंकार नहीं क्योंकि इस धर्म का मतलब यही है- खाविंद जो कहे मानना| अगर कहे कुएँ में गिरो फ़ौरन गिर पड़े|

..अगर कहे मेरे फलाने दोस्त से बच्चा पैदा करो, तो फ़ौरन चली जावे चाहे अपना धर्म टूटे|"[85]

जबकि 'पतिसेवा' शीर्षक लेख में अयोध्याप्रसाद हरिऔध पतिव्रता धर्म को बेबुनियाद दलीलों द्वारा जायज ठहरा रहे थे| इसे एक सामान्य सेवा भाव की तरह परिभाषित कर रहे थे; इस आधार पर की सेवा भाव तो भारतीय संस्कृति का अंग रहा है| वो लिखते है कि-

"सेवा भाव आर्य संस्कृति का एक अंग है| इसलिए चाहे रामायण-महाभारत में देखिये चाहे पुराण-उपपुराण में पति की सेवा करना स्त्री का धर्म बताया गया है| इसका कारण यह है कि सेवा प्रवृति स्त्रियों में स्वभाविक होती है| वह उद्धार ह्रदया और दयाशीला होती है| दूसरे का दुःख देखकर द्रवीभूत होना उसका प्रधान गुण है| उनमें सहनशीलता भी अधिक होती है| सेवा के लिए यह उनका प्रधान गुण है|"[86]

इस तरह के दलीलों से स्त्रैण भूमिकाओं को परिभाषित करने के दो तरह से फायदे है- एक तो इस तरह की व्याख्या से आप स्त्री विरोधी होने से बच जाते है तो दूसरी ओर अपने वर्चस्व को भी न्यायसंगत ठहराने में सफल ही जाते है और तीसरा यह होता है कि विरोध की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है|

अगर सेवा भाव आर्य संस्कृति का अंग है तो फिर तो सेवा करना पुरुषों का भी उतना ही कर्तव्य है जितना की महिलाओं का? लेकिन पुरुष इस कर्तव्य से भी बच जाता है क्योंकि उनके अनुसार सेवा भाव महिलाओं में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है| स्त्रियों में सेवा की भावना इसलिए भी रहती है क्योंकि

"सन्तान को नौ मास गर्भ में धारण करके उसे जन्म देना और आत्मोसर्ग कर चिरकाल तक तन्मयता से उसकी सेवा करना माता का ही काम है|"[87]

---

[85] एक अज्ञात हिन्दू औरत् सीमन्तनी उपदेश, (सम्पादक) डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, पहला मूल संस्करण 1 फरवरी 1882, संस्करण 2006

[86] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठा142

[87] वही, पृष्ठ 142,

साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के दौर में इस तरह की दलीलों का क्या आधार था? यह बेबुनियाद दलील किस तरह की मनोभावना से संचालित थी? क्या यह दलीले राष्ट्रवादी विचारधारा से आती है या पश्चिमी सभ्यता बनाम भारतीय सभ्यता के श्रेष्ठता मिशन के तौर पर आता है या समाज में गहरे बैठा स्त्री-पुरुष भिन्नता के फलस्वरूप?

यह सही है कि 'राष्ट्रवाद और जेंडर' एक दूसरे से आभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है| राष्ट्रवाद के संदर्भ के बिना जेंडर असमानता को पूरी जटिलताओं में नहीं समझा जा सकता है| स्त्रियों की पराधीनता को समझाने के लिए विशेष रूप से राष्ट्रवाद के दौर में, महिलाओं की स्थिति को समझने के लिए जेंडर के साथ राष्ट्रवाद के सम्बन्धों को समझाना जरूरी है|

राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचार है जबकि पितृसत्ता का अस्तित्व इससे पहले भी मौजूद था| जाहिर है कि 'नई राष्ट्रवादी राजनीति में 'महिला सुधार' के नाम पर महिलाओं की पराधीनता को मजबूत करने वाली परम्पराओं का जब महिमामंडन किया जा रहा था, इसकी जड़ें पुरुषों का पितृसतात्मक मानसिकता के ज्यादा करीब थी| पुरुषों में असुरक्षा की भावना उन अधिकारों की रोशनी में देखने पर साफ-साफ दिखाई देती है, जो पुरुष होने की वजह से पुरुषों को मिली हुई है| पुरुषों को मिली विशेषाधिकारों में हस्तक्षेप के कारण भी पुरुष महिलाओं के सन्दर्भ में इस तरह की बेबुनियाद दलीले दे कर अपने वर्चस्व को बचाने की कोशिश में भी लगा हुआ था| यहाँ तक कि भारत का जातिवादी चरित्र भी महिलाओं को मल्कियत मानने की मानसिकता पर ज्यादा टिका हुआ है|

महिला विरोधी प्रथाओं और मूल्यों को इतने सुनियोजित तरीके से महिमामंडन करने की जरूरत क्यों पड़ी? इसे हरिऔध जी के इस कथन से बखूबी समझा जा सकता है-

"आज पति सेवा के साथ गृहसेवा से भी नाक-भौं चढ़ायी जाती है उसका भी बायकाट किया जा रहा है| क्यों? इसलिए कि जब पतिसेवा ही इष्ट नहीं है, तो गृहसेवा के जंजाल में कौन पड़े| कौन आग के सामने बैठ कर अपने रूप में आंच आने दे, कौन धुंए में बैठ कर अपनी आखें फोड़े, कौन फुल से कोमल हाथों से गर्म-गर्म बर्तनों को पकड़े, कौन चौके में बैठे, कौन

तहरदार साड़ियों को मैली होने दे| यह सब काम तो लौंडियों के है, गृहस्वामिनी की नहीं| रसोई अच्छी न बने तो मेरी बला से, पतिदेव आधे पेट खाकर उठ आवें तो उठ आवें, उनको सैर-सपाटे क्लबों से छुट्टी कहाँ जो वो इन पचड़ों में पड़े? पाश्चत्य शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव है|"[88]

इन दावों में कितनी सचाई है कि स्त्रियाँ घर के कामों में दिलचस्पी नहीं ले रही थी? सम्भव है कि जब महिलाओं की सक्रियता सार्वजनिक क्षेत्रों में बढ़ रहा होगा, तो घरेलू काम भी प्रभावित होने से नहीं बचा होगा| महिला आन्दोलन में महिलाओं की सक्रियता इस कदर बढ़ रही थी कि -

"आर्य समाज की महिला उपदेशिकाओं में से एक माई भगवती ने हरियाणा में एक विशाल जनसभा सम्बोधित किया था जबकि आम उपदेशिकाओं ने आमतौर पर घर के भीतर ही प्रवचन किये| उनके भाषण के अक्षरक्ष: रपट दैनिक ट्रिब्यून में प्रकाशित हुई जिसमें कहा गया कि हरियाणा की स्त्रियों पर इस भाषण का जबरजस्त प्रभाव पड़ा: एक संवाददाता ने कहा कि माई भगवती के उपदेश के पश्चात् हरियाणा के किसी भी घर में अच्छी तरह पका हुआ भोजन पा लेना कठिन हो गया है| लोग बदहजमी की डर से हरियाणा में ठहरने से कतराते है|"[89]

संयुक्त प्रान्त में १९२० से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक का समय इस लिहाज से महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण रहा है क्योंकि उस समय स्वतंत्रता आन्दोलन का समय था और भारी संख्या में महिलाएं इसमे शिरकत कर रही थीं| हिंदी की लेखिकाएं स्वतंत्रता- आन्दोलन में विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय थी| सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उर्मिला देवी शास्त्री इत्यादि हिंदी की लेखिकाएं आन्दोलन के दौरान जेल भी गयी| जाहिर है कि आन्दोलन में महिलाओं की बढ़ती हुई संख्या और सक्रियता ने घरेलु कामों को प्रभावित किया होगा साथ ही शिक्षा के प्रति बढ़ते हुए रुझानों ने महिलाओं में चेतना का संचार किया और वो भी अपने व्यक्तित्व

[88] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठा144
[89] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 39

के प्रति जागरूक होने लगी, जिससे पुरुषो के परंपरागत वर्चस्व प्रभावित होने से अछूता नहीं रहा होगा| ऐसी स्थिति स्त्रियों को निश्चय ही पुरुषों की आलोचना का सामना करना पड़ता होगा, जो विभिन्न आधारों और सन्दर्भों के शक्ल में बाहर आया|

इसमें से सबसे आसान दलील भारतीय महिलाओं पर पाश्चत्य शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव बताना, भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अपमान करने के रूप में परिभाषित करना ज्यादा मुनासिब था| इससे स्त्रियों के प्रति उनकी असमानता की भावना प्रगट होने का खतरा नहीं होता था| इस तरह की दलीलों से महिलाओं पर आसानी से दबाव बनाया जा सकता था| राष्ट्र के नाम पर; पश्चिमी प्रभाव के नाम पर और प्राचीन भारतीय आदर्श के नाम पर महिलाओं को आगे बढ़ने से रोका गया| यह काफी कारगर भी साबित हुआ|

राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न विभिन्न विचारधाराओं के टकराहट के फलस्वरूप एक विचारधारा के रूप में मजबूती से अपना पैठ नहीं बना पाता है| जाहिर है कि कोई एक परिस्थिति पूरी तरह से किसी भी आन्दोलन को प्रभावित करने की जिम्मेदार नहीं हो सकती| बहुत-सी परिस्थितियां जब आपस में टकराती है तो एक जटिल संरचना को जन्म देती है| स्वतंत्रता-आन्दोलन के दौरान ऐसी बहुत-सी विचारधराओं का जन्म होता है, विशेष रूप से बढ़ता हुआ हिन्दू राष्ट्रवाद, महिलाओं की अधीनीकरण को और भी बढ़ावा देता है| इससे भारतीय महिला-आन्दोलन को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है| उन चुनौतियों का सामना करना उतना आसान भी नहीं था| भारतीय महिलाओं को उन्हीं जटिल विरोधाभासों से गुजरकर अपना रास्ता तय करना था| स्वतंत्रता- आन्दोलन और क्रांतिकारी गतिविधियों में भी महिलाएं भाग ले रही थीं| इस दौर में बहुत-सी राष्ट्रवादी कार्यकर्ती /कवयित्रियों सामने आती है|

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि महिला–प्रश्न का महत्व कम हो गया था लेकिन यह जरूर था कि अब महिला-प्रश्न विभिन्न विचाधाराओं की चपेट में जरूर आ गया था| एक तो पहले से चली आ रही महिला विरोधी शक्तियां अभी ख़त्म भी नहीं हुई थी, तब तक दूसरी

शक्तियाँ विरोध में आकर खड़ी हो जाती थी| १९२० के बाद उभरा सम्प्रदायिक और हिन्दू राष्ट्रवाद ने तो महिला-आन्दोलन को बुरी तरह से प्रभावित किया|

लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इससे सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की गतिविधियाँ रूक गयी थी, बल्कि देखा जाये तो यही वो दौर था जब महिलाएं विभिन्न मोर्चों पर एक साथ लड़ती हुई नजर आ रही थीं| हिंदी क्षेत्र में तो यह दौर महिलाओं के लिहाज से और भी मुनासिब साबित हुआ क्योंकि यही वो दौर था जब महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय होती है| जैसा कि यह जाहिर है कि हिंदी क्षेत्र में और क्षेत्रों, (बंगाल, महाराष्ट्र) की अपेक्षा बाद में तथाकथित नवाजागरण की शुरुवात होती है| ऐसी स्थिति में संयुक्त प्रान्त में महिला-आन्दोलन की शुरुआत और महिलाओं की सक्रियता इसी दौर में शुरू होती है| अत: यह कहा जाना कि 'राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न सार्वजनिक बहसों की विषय सूची से लगभग गायब हो चुका था', इतिहासकारों की यह स्थापना भले ही बंगाल के सन्दर्भ में सही साबित हो लेकिन हिंदी क्षेत्र के सन्दर्भ में यह व्याख्या सही नहीं बैठती, क्योंकि यह वो समय था जब हिंदी क्षेत्र की महिलाएं सामाजिक कार्यो, साहित्यिक गतिविधियों, विभिन्न सामाजिक जातीय संगठनों और उपनिवेश विरोधी आंदोलनों में बड़ी संख्या में भाग ले रही थीं| कुछ महिलाएं राजनीतिक पदों पर कार्यरत थी| इनसे आम महिलाएं भी प्रेरणा प्राप्त कर रही थी| 'विजयलक्ष्मी पंडित को जो पत्र' लिखा गया था उससे साफ जाहिर है कि बेटियों और पत्नियों का मिजाज अब किस तरह से बदल रहा था; महिलाओं में आई चेतना और आत्मविश्वास ने पुरुषों में असुरक्षा की भावना को जाहिराना तौर पर बढ़ा दिया होगा| यह जरूर था कि महिलाओं की लड़ाई अब कठिन हो गयी थी क्योकि बड़ते हुए सम्प्रदायिक और हिन्दू राष्ट्रवाद ने मिलकर पितृसत्ता को और भी मजबूत किया, जिसने परंपरागत मूल्यों और रूढ़ियों को सम्प्रदायिक और राष्ट्रवाद के चासनी में छानकर पेश किया, इससे महिलाएं एक नये वाकजाल में फंसती हुई चली गयी|

इस नए पितृसत्ता का सामना महिलाएं किस तरह करें ? एक तो उन पर इतना दबाव होगा कि वो पुराने मूल्यों को पूरी तरह से छोड़ भी नहीं सकती थी और आधुनिक विचारों से पूरी

तरह असम्पृक्त भी नहीं रह सकती थी| जाहिर है कि ऐसी स्थिति में वो दोनों में सामंजस्य बैठा कर चलती| सामंजस्यता बठाने की कोशिश में उन्हें विभिन्न विरोधाभासों से होकर गुजरना पड़ता होगा| यही कारण है कि वो राष्ट्रीय विचारधाराओं के सन्दर्भ में अपने अधिकारों को भी पाने की कोशिश करती हुई नजर आती है| सबसे बड़ा बदलाव यह आता है कि अब वो अपने आप को एक 'नागरिक' के तौर पर परिभाषित करती है|

महिलाओं के संदर्भ में राष्ट्रवाद को कैसे परिभाषित करें? तब जब कि यह माना जाता है कि 'राष्ट्रवाद' महिलाओं के लिए एक दमनकारी संस्था के रूप में सामने आता है| तो क्या स्वतंत्रता-आन्दोलन के दौर में भी 'राष्ट्रवाद' महिलाओं के लिए प्रतिकूल साबित होता है? हम यह तो नहीं कह सकते है कि 'राष्ट्रवाद ने महिला-आन्दोलन को नकारात्मक रूप से प्रभावित नहीं किया; न ही पुरुषों ने राष्ट्रवाद को अपने हित में और महिलाओं के विरोध में इस्तेमाल नहीं किया लेकिन यह भी सच है कि इसे महिलाओं ने अपनी बेहतरी के लिए भी इस्तेमाल किया| नए अध्ययन में 'नारीवादियों ने यह साबित किया है कि किस तरह से साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन में महिलओं ने राष्ट्रवाद को अपनी बेहतरी के लिए इस्तेमाल किया' लेकिन सवाल यह है कि क्या महिलओं के सन्दर्भ में भी राष्टवाद के इस्तेमाल को उसी तरह से परिभाषित किया जाना चाहिए जिस तरह से जातीय और सम्प्रदायिक संगठन राष्ट्रवाद को आधार बनाकर अपने राजनीतिक-सम्प्रदायिक हितों का पिष्ट-पोषण कर रहे थे? राष्ट्रवाद के मूल्यांकन का आधार पुरुष रचनाकारों/समाज सुधारकों और महिला रचनाकारों/कवयित्रियों के सन्दर्भ में एक ही तरह का होना चाहिये? मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि राष्ट्रवादी कवियों और तोरन देवी शुक्ल 'लली', राजदेवी कुंवर, और सुभद्राकुमारी चौहान इत्यादि कवयित्रियों की राष्ट्रीय भावना से युक्त कविताओं का मूल्यांकन कैसे किया जाए? इसके अलावा हिन्दू राष्ट्रवादियों की राष्ट्रीय भावनाओं का मूल्यांकन कैसे किया जाए? यह इस लिए जरूरी है ताकि राष्ट्रीय भावना के सच्चे सरोकारों को पहचाना जा सकें|

जैसे-जैसे उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन तेज होता है, सम्प्रदायिक, जातीय और वर्गीय शक्तियां तेजी से अपना पैर ज़माने की कोशिश करती है| हांलाकि इस तरह के 'संगठन और

विभाजनकारी शक्तियां' सुधारवाद के दौर से ही अस्तित्व में थी, लेकिन राष्ट्रवाद के युग में इन शक्तियों ने और भी जोर पकड़ना शुरू कर दिया| इन बदलते सरोकारों में महिलाएं अपने हितों को किस तरह से सुरक्षित रखने की कोशिश करती है? बदलते हुए राजनीतिक हितों की टकराहट में महिलाएं सार्वजनिक और पारिवारिक दुनिया को किस तरह से परिभाषित कर रही थीं?

2.7 महिला सेक्सुअलिटी का सवाल:

साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के दौर में जिस तरह से प्रतीकात्मक आदर्शीकरण द्वारा महिला आन्दोलन को प्रभावित और महिलाओं को गुमराह किया जा रहा था; उनकी सेक्सुअलिटी को नैतिकतावादी और शुद्धतावादी दलीलों द्वारा जिस तरह से दबाने की कोशिश की जा रही थी, उसमें राष्ट्रवादी और पितृसत्तात्मक मानसिकता ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया| पितृसत्ता और राष्ट्रवाद दोनों ही एक दूसरे के पूरक बनकर स्त्रियों की अधीनता को मजबूत करने में सहायक सिद्ध हुए, लेकिन इसके साथ ही रूढ़िवादियों विशेषकर हिन्दू राष्ट्रवादियों ने 'विक्टोरियाई युग' की अतिनैतिकतावादी विचारधारा को आधार बनाकर भी अपनी स्त्री-विरोधी मान्यताओं को न्यायसंगत ठहराते थे| रूढ़िवादियों ने 'विक्टोरियाई आदर्शों' को भारतीय स्त्रियों के समक्ष एक बेहतर उदहारण के रूप में पेश किया| समाज सुधारक/साहित्यकार भारतीय महिलाओं को इस दलील के आधार पर, पितृसत्तात्मक मूल्यों को अपनाने की नसीहते दिया करते थे कि अगर अंगरेजो के देश में, जिसे इतना आधुनिक माना जाता है, स्वयं महारानी विक्टोरिया परिवार और पति को इतना महत्व देती है तथा पति की सेवा जिम्मेदारीपूर्वक निभाती है, तो भारतीय महिलाओं को तो और भी जिम्मेदारी से अपने पति की सेवा करनी चाहिए- 'श्रीमती राजराजेश्वरी विक्टोरिया की पतिपरायणता, सरलता और विनयशीलता विश्वविदित है |'[90]

[90] संजय गर्ग, (संपादित) स्त्री संघर्ष का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 143

हम देखते है कि किस तरह से पुरुष रचनाकार और समाज सुधारक एक तरफ तो भारतीय स्त्री बनाम पश्चिमी स्त्री को आमने–सामने ला कर खड़ा करते है और दूसरी तरफ 'विक्टोरियाई शुद्धतावाद से भारतीय स्त्रियों को प्रेरणा लेने की सलाह भी दे रहे थे; भारतीय स्त्रियों के आदर्श चरित्र का हवाला देकर और पश्चिमी महिलाओं का चरित्र हनन करके अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता का दावा भी कर रहे थे; साथ ही पढ़ी-लिखी चेतना संपन्न, सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्यरत भारतीय महिलाओं का चरित्रहनन इस आधार पर कर रहे थे क्योंकि उनकी नजर में यह यूरोपियन स्त्रियों का नक़ल है| उनकी नजर में चूँकि पश्चिमी महिलाएं उच्छृंखल और चरित्रहीन होती है, जिसकी नक़ल भारतीय महिलाओं को नहीं करना चाहिये|

इस तरह का परस्पर विरोधाभासी दलीलों द्वारा वो अपने विचारों को पुष्ट करने से भी नहीं कतराते थे| इसके साथ ही एक सवाल यह भी है कि क्या 'विक्टोरियाई युग' **वाकय** अतिनैतिकतावादी विचारों का दौर था? जहाँ स्त्री की सेक्सुअलिटी को पूर्णतया दबाया गया था? क्या यहाँ स्त्री की सेक्सुअलिटी के लिए कोई जगह नहीं थी?

"अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'हिस्ट्री आव सेक्सुअलिटी' में उन्होंने (मिशेल फूको) ने दिखाया है कि पश्चिमी सभ्यता के जिस युग को सेक्सुअलिटी के लिहाज से रूढ़िवादी, निषेधात्मक या दमनकारी माना जाता था, उन्हीं में सेक्स सम्बन्धी विचार विमर्शोत्तेजन के दौर से गुजरा| अंग्रेजों की रानी विक्टोरिया के नाम से प्रचलित 'विक्टोरियाई युग' अपने अतिनैतिकतावाद या शुद्धतावाद के लिए मशहूर है| लेकिन इसी युग ने अपूर्व ढंग से यौन-विमर्श को प्रोत्साहित किया; इसके उद्भव के नए सन्दर्भ स्थापित किये, उसके विकास की व्यापक प्रकियओं को जन्म दिया| जाहिर है की यौन दमन का दावा एकतरफा और एकायामी होता है, जबकि समाज का इतिहास बहुयामी होने के कारण इसमें अनेक पहलू शामिल होते है"[91]

[91] मेरी ई. जॉन और जानकी नायर.(संपादित) कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक: आधुनिक भारत में सेक्सुअलिटी के सरोकार अनुवाद : अभय कुमार दुबे वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008,. पृष्ठ 10

इतिहासकारों और नारीवादी इतिहासकारों ने यह स्थापित किया है कि 'राष्ट्रवाद के युग में भारतीय स्त्रियों की सेक्सुअलिटी का दमन किया गया है| इस सम्बन्ध में पार्थ चटर्जी ने लिखा है कि-

"वास्तव में स्त्री की देवी वाली या माता वाली छवि ने घर से बाहर की दुनिया में उसकी लैंगिकता (सेक्सुअलिटी) को ही मिटा दिया"[92]

कहीं यह विचार मात्र एकतरफा तो नहीं है? या जिस तरह से अतिशुद्धतावादी विक्टोरियायी युग में भी यौन-विमर्श अनेक प्रक्रियाओं से हो कर गुजरा और यौन- विमर्श को प्रोत्साहन भी मिला, क्या भारतीय राष्ट्रवाद के युग में भी ऐसी कोई धारा थी जो स्त्री सेक्सुअलिटी को या यौन-विमर्श को प्रोत्साहित करती हो?

चारू गुप्ता ने अपने अध्यायन में दिखाया है कि किस तरह से उस दौर की 'हिंदी पत्रिकाओं में यौन-क्षमता को बढ़ाने वाले विज्ञापन छापा जाता था|' लेकिन यह विज्ञापन सिर्फ पुरुषों की सेक्सुअलिटी को ध्यान में रख कर ही तैयार किया जाता था| चारू गुप्ता भी पार्थ चटर्जी के इस बात से पूरी तरह सहमत है की राष्ट्रवाद के युग में स्त्री सेक्सुअलिटी का दमन किया गया|

दूसरी तरफ यह भी जाहिर है कि न केवल महिलाओं की सेक्सुअलिटी का दमन किया गया बल्कि पुरुषों से भी यह अपेक्षा की जा रही थी कि वो भी अपनी सेक्सुअलिटी को नियंत्रित रखें| यही कारण है कि उस दौर में युवकों के लिए ब्रह्मचर्य की महत्ता बताई जा रही थी| उस दौर के साहित्य में देखा जा सकता है कि किस तरह से युवक 'ब्रम्हचर्य की मर्यादा को बलपूर्वक और नैतिक दबाव में निभाने की कोशिश करते है, लेकिन अंतर ये था कि इस मर्यादा को तोड़ने के बावजूद जहाँ पुरषों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता था, वही महिलाओं को 'नैतिक भर्त्सना और सामाजिक अवहेलना का शिकार' होना पड़ता था|'[93]

---

[92] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (संपा. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 69

[93] जयशंकर प्रसाद, कंकाल

महिला सेक्सुअलिटी पर नियंत्रण करने के कारणों का अध्ययन करते हुए तमार मेयर ने डरन के हवाले से यह लिखा है कि-

"उपनिवेशवाद के दौरान महसूस की गयी शक्तिहीनता के कारण भारतीय पुरुषों ने अपने राष्ट्र और अपने शरीरों की पहले से कही ज्यादा तीक्ष्ण चेतना विकसित की| और जैसे ही अंगरेजों ने भारतीय पुरुषों के पुरुषत्व को चुनौती दी, उन्होंने अपने शरीरों और भारतीय औरतों के शरीरों पर नियंत्रण को मजबूत किया| यह सब शरीर सौष्ठव और ब्रम्हचर्य तथा भारतीय औरतों की यौनिकता पर नियंत्रण के ज़रिये हुआ| बहुत से भारतीय पुरुषों का पुरुषत्व बोध औरतों के स्त्रीत्व, नम्रता और धार्मिकता की सुरक्षा पर तेजी से निर्भर होने लगा| इसकी एक बड़ी वजह यह थी कि राष्ट्र और पुरुषत्व के बीच के जुड़ाओं के इर्द-गिर्द बना राष्ट्रवादी तर्क-विमर्श विदेशियों के हमले से औरतों, खासकर उनकी यौनिकता को सुरक्षित रखने पर अपने आप को केन्द्रित कर रहा था|"[94]

स्त्री-यौनिकता पर नियंत्रण का विमर्श साम्राज्यवादियों के उस स्थापना से निकलता है जहाँ वो भारतीय पुरुषों के पुरुषत्व को चुनौती देते है| यहाँ भी भारतीय पुरुष अपने पुरुषत्व को अपने बल पर नहीं बल्कि महिलाओं की सेक्सुअलिटी को नियंत्रित करके ही साबित करने की कोशिश करता है|

जैसे से राष्ट्रवाद की अवधारणा १९वीं सदी की देन है वैसे ही सेक्सुअलिटी की अवधारणा का विकास १९वीं शताब्दी में पश्चिम में हुआ| साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के दौर में भारतीय पुरुष पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को महिलाओं पर हुई सेक्सुअल आक्रमण का जिम्मेदार ठहराते थे, आज भी जब महिलाओं पर यौन-हिंसा होती है तो, यह कहकर न्यायसंगत ठराया जाता है कि इसका कारण महिलाओं का पश्चमी पहनावा है| जबकि आज भारतीय समाज साम्राज्यवादी शासन से मुक्त है| इस प्रवृति को किस तरह से परिभाषित किया जाए? उपनिवेशवादी दौर में भारतीय पुरुषों में आया पुरुषत्व बोध का अहसास भी

[94] तमार मेयर, राष्ट्रवाद की जेंडर विडम्बनाएँ : विचार-विमर्श की ओर, (संपा. जेंडर और शिक्षा रीडर, भाग दो) प्रकाशन: निरंतर, नई दिल्ली, पहला संस्करण फरवरी 2001, पृ. 188

साम्राज्यवादियों के विचारों के फलस्वरूप आया विचार था| ऐसी स्थिति में यह मान कर चला जा रहा है कि भारतीय पुरुषों द्वारा भारतीय महिलाओं पर किया गया यौन-नियंत्रण साम्राज्यवादी विचारकों की देन है| जबकि हम देखते है कि भारतीय समाज इससे पहले भी स्त्रियों की सेक्सुअलिटी को नियंत्रण में ही रखता था| ऐसा भी नहीं था कि इससे पहले वह स्त्रियों के यौन-मुखरता के पक्ष में था| स्त्रियों को पहले भी यौन–नियंत्रण का सामना करना पड़ता था| उसका आधार क्या होता था| जाहिर है कि पुरुष वर्चस्व का होना; समाज का पितृसतात्मक होना इसका मुख्य कारण था| भारत में जातियों का वर्चस्व भी महिलाओं के दमन पर टिका हुआ है| (सिर्फ इसी के नहीं) सेक्सुअलिटी विमर्श भारतीय पुरुषों के हक़ में साबित हुआ| एक तो यह साम्राज्यवादियों के समाने उनका पक्ष रखने का पुख्ता आधार प्रदान करता है, गुलाम होते हुए भी उन्हें अपनी शक्ति और पुरुषत्व का अहसास बना रहता है| दूसरा, उन्हें भारतीय महिलाओं पर नियंत्रण रखने का भी पुख्ता आधार मिल जाता है| क्योंकि जहाँ पर देश और जाति की बात आती है वहां महिलाओं को चुप करना बहुत ही आसान हो जाता है|

भारतीय संदर्भ में जहाँ तक सेक्सुअलिटी का सवाल है; १९वीं शताब्दी में जब सामाजिक सुधार आन्दोलन की शुरुआत होती है, उस समय स्त्रियों की सेक्सुअलिटी को प्रजननकारी भूमिका में ही देखा गया| महिलाओं की स्वतंत्र इच्छा या जरूरत के रूप में उनकी सेक्सुअलिटी को कभी देखा ही नहीं गया| जहाँ तक स्वतंत्रता–आन्दोलन के दौरान स्त्री सेक्सुअलिटी की बात है तो घर के बाहर स्त्री की सेक्सुअलिटी के लिए कोई जगह न के बराबर ही थी| ..गाँधी जी तो स्त्रियों और पुरुषों दोनों के संदर्भ में सेक्सुअलिटी पर नियंत्रण को नैतिक दृष्टि से बेहद पवित्र मानते थें| राष्ट्र और नस्ल की श्रेष्ठता के लिए भी सेक्सुअलिटी पर नियंत्रण को आवश्यक माना गया–'ताकि महतर शारीरिक और राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए देह के भीतर जीवनदायी और शक्ति वर्धक वीर्य का संरक्षक हो सकें.'

उपनिवेश विरोधी आन्दोलन में राष्ट्र की बेहतरी के लिए; राष्ट्रीय निर्माण को ध्यान में रखते हुए गाँधी जी ने ब्रम्हचर्य को आवश्यक धारणा के रूप में स्थापित किया| स्त्री की सेक्सुअलिटी को नियंत्रित करने के निम्न आधार ज्यादा कारीगर साबित हुआ –

स्त्री को मात्र 'प्रजननकर्ता' के रूप में देखा गया, इससे मातृत्व की अवधारण को बल मिला, यहाँ स्त्री के मातृत्व को तभी सम्मानित और स्वीकार्य माना जाता था ,जब वह वैध तरीके से इसे अंजाम देती थी| अगर सामाजिक नियम कायदों के बाहर वह मातृत्व को अंजाम देती थी तो उसे सामाजिक अवहेलना का पात्र बनना पड़ता था| जयशंकर प्रसाद रचित उपन्यास तितली की नायिका को देखा जा सकता है कि उसे किस तरह से सामाजिक बहिष्कार और गुमनाम जिन्दगी जीना पड़ा, जब वो वैवाहिक जीवन के बाहर माँ बनती है| यहाँ तक की उसका प्रेमी भी उसे छोड़ कर इसीलिए जाता है क्योंकि उसे लगता है की उसका बच्चा अवैध तरीके से पैदा होगा| ऐसी स्थिति में समाज को वह किस तरह से सामना कर पाउँगा| जाहिर है कि मातृत्व का तभी तक सम्मान है जब वो वैध तरीके से अंजाम दिया जाए| महिलाओं के लिए मातृत्व का मायने क्या थे ?

-जैसा कि उन विधावाओं को विशेष रूप से आदर्श हिन्दू विधवा के रूप में महिमामंडित किया गया जो ब्रम्हचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी| विधवाओं को ब्रम्हचर्यपूर्वक रहने के लिए प्रोत्साहित किया गया| शायद विधवा पुनर्विवाह के असफल होने के प्रमुख कारणों में विधवाओं को ब्रम्हचर्य पूर्वक रहने का नैतिक दबाव और उसका महिमामंडन करना तथा सामाजिक रूप से स्वीकृति न मिलना भी रहा है|

-पतिव्रता धर्म का महिममंडन करके भी स्त्री की सेक्सुअलिटी को नियंत्रित किया गया| भारतीय धर्मशास्त्रों में पतिव्रता धर्म का महत्व तो पहले से ही स्थापित था, लेकिन आधुनिक भारत में 'आदर्श के रूप में अक्षत–यौनि स्त्री तो खासतौर से नहीं उभरी, स्त्री का पतिव्रता

स्वरूप उभरा ताकि उसकी अतृप्त यौन कामनाओं के डरावने पहलुओं को घर की सीमा में कैद किया जा सके|'[95]

भारतीय समाज में पतिव्रता धर्म कोई नयी स्थापना नहीं थी, लेकिन यह समाज सुधारकों के लिए इस लिहाज से महत्वपूर्ण साबित हुआ कि वह महिलाओं की सेक्सुअलिटी और शिक्षा/सार्वजनिक क्षेत्र में पहलकदमी पर नियंत्रण रख सकें|

पार्थ चटर्जी के अलावा सुष्मिता सेन ने भी यह दिखाया है कि 'मातृत्व एक ऐसा कारक बन गया जिसके आस-पास हिन्दू मध्य वर्ग महिला की पहचान केन्द्रित थी|' मातृत्व के रूप में स्त्रियों की पहचान ने निश्चय ही महिलाओं की सेक्सुअलिटी को नियंत्रित किया| जहाँ तक बाहर की दुनिया में भारतीय स्त्रियों की सेक्सुअलिटी को ख़त्म कर देने का सवाल है, तो भारतीय समाज में पहले से ही यह सीमा रेखा तय थी| क्योंकि एक भारतीय स्त्री को पत्नी की भूमिका से बाहर सेक्सुअलिटी की कल्पना भी नहीं कर सकती| अपनी सेक्सुअल इच्छाओं को पूरा करने के लिए महिलाओं को पत्नी की भूमिका में आना पहली शर्त थी| इससे इत्तर वह सेक्सुअल संबंध बनाती है, तो पहले भी उसे सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था आज की तारीख़ में भी इसकी अनिवार्यता ख़त्म नहीं हुई है, भले ही बदलते हुए परिवेश में उसके स्वरुप में काफी कुछ बदलाव आ चुका है|

दूसरी तरफ एक पत्नी के रूप में भी सेक्सुअलिटी से जुड़े तमाम तरह की मांगों में उसकी अपनी इच्छा का कोई विशिष्ठ स्थान नहीं प्राप्त है| सेक्सुअल इच्छाओं का आदान–प्रदान भी पुरुषों की इच्छाओं पर ज्यादा निर्भर करता है| ऐसी स्थिति में तो स्त्रियों की सेक्सुअलिटी 'मातृत्व' की रूढ़ छवि निर्माण के पहले से ही मौजूद थी| लेकिन उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन के दौर में मातृत्व की छवि निर्माण ने भारतीय स्त्रियों को सेक्सुअलिटी के प्रति विशेष रूप से सतर्क बना दिया| 'मातृत्व' विमर्श भारतीय पुरुषों के लिए भारतीय स्त्रियों को उनकी सेक्सुअलिटी पर नियंत्रण से कुछ ज्यादा ही काम का साबित हुआ|

---

[95] मेरी ई. जॉन और जानकी नायर.(संपादित) कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक: आधुनिक भारत में सेक्सुअलिटी के सरोकार अनुवाद : अभय कुमार दुबे वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008,. पृष्ठ 20

सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों के बाहर आने का सवाल उनकी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से विशेष रूप से जुड़ा हुआ था| अगर महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में बिना विरोध के निकलने में कामयाब हो जाती है, तो जाहिर है की ऐसी स्थिति में पारिवारिक क्षेत्र की स्थिति उलट हो जाती| इसमें स्त्रियो की शिक्षा और आत्मनिर्भर बनने का सवाल भी विशेष रूप से सम्बन्धित है| चूँकि स्त्री शिक्षा और उनकी आत्मनिर्भरता के सवाल को समाज सुधारक सीधे तौर पर आसानी से चुनौती नहीं दे सकते थें| इससे अच्छा और आसन तरीका क्या हो सकता था कि महिलाओं के लिए मातृत्व को आदर्श और सम्मानित बनाकर पेश किया जाए ताकि भावनात्मक रूप से दबाव में आकर महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी स्थिति को मजबूत न बना सकें| मातृत्व विमर्श ने भारतीय महिलाओं को शिक्षित बनने, सामाजिक कार्यों में भाग लेने, बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आने और उनके व्यक्तित्व निर्माण के अवसर को ही खत्म कर दिया| आज के दौर में भी कितनी ही महिलाओ को अपनी नौकरी इसलिए छोड़नी पड़ती है क्योंकि उन्हें घर परिवार उसमें भी विशेष रूप से बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी सिर्फ उन्हें ही निभानी पड़ती है|

एक बार स्त्री माता के रूप में जब स्थापित हो गयी तो उसका यह नैतिक कर्तव्य बन जाता है कि वह सब कामों को दरकिनार करके पूरा समय बच्चों को दे; अपने व्यक्तित्व के निर्माण पर नहीं बल्कि बच्चें के व्यक्तित्व निर्माण पर ध्यान दे| अगर वो ऐसा नहीं करती है तो एक बुरी माता के रूप में उसकी नैतिक भर्त्सना करना कोई बड़ी बात नहीं है| अत: मातृत्व की छवि ने स्त्रियों की सेक्सुअलिटी को ही नहीं उसके वजुद को ही पंगु बना दिया|

ऐसा नहीं है कि महिलाओं ने अपने व्यक्तित्व निर्माण के लिए कोशिश करना छोड़ दिया लेकिन नैतिक दबाव इतना बनाया गया था कि वो मातृत्व या स्त्रैण भूमिकाओं का खुलकर प्रतिकार भी नहीं कर सकती थी| तब तो ये और भी मुश्किल होता होगा जब मातृत्व देश के भावी संतान के निर्माण के लिए आवश्यक हो| चाहे नैतिक दबाव का सवाल हो या मातृत्व को स्त्री के लिए अनिवार्य शर्त माने जाने का सवाल, महिलाएं मातृत्व से इंकार नहीं कर रही थी लेकिन वो इसके लिए भी तैयार नहीं थी की वो अपने व्यक्तित्व को अनदेखा करें| इन

सबके बीच वो अपने लिए भी जगह बनाने की कोशिश जारी रखती है, और यही जद्दोजहद उन्हें पुरुषों की मातृत्व संबधी सोच से अलग करती है| इसे हम महादेवी वर्मा के मातृत्व सम्बधी सोच और उनके व्यक्तिगत जीवन से बखूबी समझ सकते हैं| मदादेवी वर्मा २०वीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण हिंदी लेखिका के तौर पर शुमार की जाती है| इसके अलावा उनकी एक व्यक्तिगत शख्सियत यह भी थी कि उन्होनें अपने वैवाहिक जीवन से इंकार करके अकेले रहने का फैसला किया| महादेवी वर्मा पत्नीत्व की भूमिका से खुद को अलग तो करती है लेकिन उनकी नजर में स्त्री का मातृत्व स्वरूप अभी भी गौरवपूर्ण बना हुआ था|

'उसके मातृत्व के गुण को अक्षुण्ण रखते हुए ही उसे नवीन युग की संदेश–वाहिका बना सकने में समर्थ हो'[96] कह रही है| और यही इंकार- बोध महिला लेखिकाओं को पुरुषों से अलग करता है|

देवी के रूप में स्त्री की प्रतिष्ठा का जहाँ तक सवाल है, महादेवी वर्मा इससे प्रभावित तो है लेकिन वो इसकी विडम्बना को भी अच्छी तरह से समझती है| उनके विचार से-

"नारी मानवी नहीं देवी है और देवताओं को महिषी के लिए आवश्यक सुविधाओं का करना ही क्या| नारी के देवत्व की कैसी विडम्बना है"[97]

महादेवी वर्मा देवी की छवि की वास्तविक विडम्बना से अनजान नहीं हैं| वो मानती है की देवी की छवि ने स्त्रियों के वास्तविक मानवी जरूरतों को पृष्ठभूमि में डाल दिया|

उपनिवेश विरोधी आन्दोलान में, क्रांतिकारी आन्दोलन में, सार्वजनिक क्षेत्र के विभि गतिविधियों में महिलाओं की सक्रियता से पारिवारिक क्षेत्र निश्चय ही पहले जैसा नहीं रह गया होगा| जो समाज विधवा विवाह, पर्दा उन्मूलन, विवाह की आयु को लेकर इतना असमंजस की स्थिति में हो वो स्त्रियों को सार्वजनिक मंचो पर किस तरह से स्वीकार करता होगा, इसका अंदाजा लगाना कठिन नहीं है| घर से बाहर जाती हुई महिलाओं पर यौन-

[96] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 43
[97] वही, पृष्ठ 35

नियंत्रण करना लाजिमी था| पुरुष अब शोषण की भूमिका में नहीं बल्कि स्त्रियों के उद्धारक की भूमिका में आ गया था| उसे अपनी इस छवि को भी बनाये रखने की जरूरत थी| पुरुषत्व बोध, राष्ट्रवाद इत्यादि अवधारणा उसके हक़ में साबित हुआ और वो महिलाओं पर जबरदस्ती करने से बच गया दूसरी तरफ महिलाओं के तरफ से भी इसकी विरोध की गुंजाइस जाती रही|

हम देखते है कि किस तरह से बहुत सारी महिलाएं भी भारतीय संस्कृति के नाम पर अपनी ही पराधीनता को मजबूत कर रही थी, बजाय इसके की वो इसका प्रतिकार करती| "महिलओं की मुक्ति और स्वमुक्ति, दोनों की परियोजना के रूप में (और इसलिए स्त्री-पुरुष, दोनों की भागीदारी की मांग करने वाली परियोजना के रूप में) सुधारों की यही विशेष राष्ट्रवादी धारणा इस बात की व्याख्या भी करता है कि पहली पीढ़ी की शिक्षित महिलाओं ने खुद ही 'नई स्त्री' की राष्ट्रवादी धारणा को इतने मनोयोग से प्रचारित क्यों किया| उदारवादी वृति के हाल के इतिहासकार १९वीं सदी की महिला लेखिकाओं के उद्गारों पर अकसर हैरान होते रहे हैं; इनमें मध्यवर्गीय परिवारों की वे महिलाएं भी थी जो सुधार आंदोलनों में आगे-आगे थीं और तथाकथित स्त्रैण सदगुणों के महत्व का औचित्य सिद्ध करती थीं| दूसरी 'महिलाओं ने भी शिक्षित स्त्रियों के लिए सतीत्व, आत्मविश्वास, अधीनता, समर्पण, दयालुता, धैर्य और प्रेम जैसे स्त्रैण गुणों के विकास करने की आवश्यकता बताई है|'[98] स्वयं महिलाएं ही इस स्त्रैण गुणों का समर्थन क्यों कर रही थी? पार्थ चटर्जी का कहना है कि "स्त्रैण के इन दावों (और इसलिए एक नई पितृसत्तावादी व्यवस्था के स्वीकार) को जिस वैचारिक दृष्टिकोण के सहारे अनिवार्य बना दिया वह समस्या के राष्ट्रवादी समाधान से ही उपजता था|"[99]

हिंदी- क्षेत्र में भी हम देखते है कि किस तरह लेखिकाएं स्त्रैण भूमिकाओं का समर्थन कर रही थी| हिंदी की शुरूवाती दौर की रचनाकार राजेंद्र बाला घोष का विचार भी इस पक्ष में था

[98] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (संपा. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 67

[99] वही, पृष्ठ 67

की महिलाओं को स्त्रैण गुणों का पालन करना चाहिए| १९२० के दशक के बाद की लेखिकाएं भी महिलाओं में स्त्रीत्व और मातृत्व के गुणों का होना अनिवार्य/स्वाभाविक मान कर चल रही थी| इसके पीछे यह भी धारणा काम कर रही थी कि महिलाओं में सेवा भाव, समर्पण, सहन करने की क्षमता इत्यादि स्वाभाविक गुण होते है| महिलाओं में स्त्रैण गुणों का समर्थन सिर्फ राष्ट्रवादी समाधान से ही नहीं आया बल्कि इस धारणा ने इसे और पुष्ट किया कि ये महिलाओं में प्राकृतिक रूप से विद्यमान है जो इसे पुरुषों से अलग करती है| महादेवी वर्मा का यह कहना कि-

"नारी का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परन्तु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम-घृणादि भाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं| इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पाकर समाज के उन आभावों की पूर्ति करता रहता है जिनकी पूर्ति पुरुष–स्वभाव द्वारा सम्भव नहीं| इन दोनों प्रकृतियों में उतना ही अंतर है जितना विधुत और झड़ी में| एक से शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, बड़े–बड़े कार्य किये जा सकते है, परन्तु प्यास नहीं बुझाई जा सकती| दूसरी से शांति मिलती है, परन्तु पशुबल की उत्पत्ति सम्भव नहीं| दोनों के व्यक्तित्व अपनी पूर्णता में समाज के एक ऐसे रिक्त स्थान को भर देते हैं जिससे विभिन्न सामाजिक संबंधों में सामंजस्य उत्पन्न होकर उन्हें पूर्ण कर देता है|"[100]

'स्त्री के व्यक्तित्व में कोमलता और सहानुभूति के साथ साहस तथा विवेक का एक ऐसा सामंजस्य होना आवश्यक है जिससे हृदय के सहज स्नेह की अजस्त्र वर्षा करते हुए भी वह किसी अन्याय को प्रश्रय न देकर उसके प्रतीकार में तत्पर रह सके|'[101]

[100] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहबाद, संस्करण 2012 पृष्ठ 10-11
[101] वही, पृष्ठ 17

महात्मा गाँधी तो महिलाओं में सहन करने, त्याग करने की भावना के आधार पर ही स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने का समर्थन करते है| इस सम्बन्ध में जर्मेन ग्रीयर का मानना है कि-

"स्त्रीत्व की भ्रामक/ कृत्रिम परिकल्पना को मनोविश्लेषकों ने स्थापित किया और इसे ज्यादा तर्क संगत बनाने के लिए इसे वैज्ञानिक सिद्धन्त के बरक्स माना गया...मनोविश्लेषण को आध्यात्मिकता के रूप में देखा जाना ही शायद ठीक रहेगा लेकिन आमतौर पर उसका विज्ञान के रूप में सम्मान किया जाता है|"[102]

पार्थ चटर्जी राष्ट्रवादी दौर में महिला-प्रश्न के कम होते हुए महत्व की व्याख्या राष्ट्रवाद के समाधान में देखते है| उनके अनुसार

"राष्ट्रवाद ने अपनी एतिहासिक परियोजना के अनुरूप महिला–प्रश्न का समाधान जिस प्रकार से करने का प्रयत्न किया...इसका सम्बन्ध उस प्रश्न के एक पहलू से है जो प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक था, जो राजसत्ता के साथ सम्बन्धों को लेकर था| जैसा कि हमने देखा है, राष्ट्रवाद ने अपनी आत्मनिष्ठा को संस्कृति के आध्यात्मिक क्षेत्र में स्थापित किया जहाँ वो ख़ुद को पश्चिम से क्षेष्ठ और इस कारण अविजित और स्वतंत्र समझता था| इन क्षेत्र में औपनिवेशिक सत्ता की दखलंदाजी उसे गवारा नहीं थी|"[103]

जहाँ तक आध्यात्मिक क्षेत्र, जिसका सम्बन्ध घर की महिलाओं से था, का है हम जानते है कि इस दखलंदाजी को तभी तक बर्दाश्त नहीं किया जा रहा था जब तक इसका सम्बन्ध पुरुषों की बेहतरी से होता था लेकिन जैसे ही महिलाएं पुरुषों को मिली उनके पितृसत्तात्मक अधिकारों को चुनौती देती थी वो अपने घरेलू मामलों में भी औपनिवेशिक प्रशासन से यह उम्मीद करते थे कि प्रशासन उनके हक़ में फैसला दे और ऐसा होता भी था| रूख्माबाई के केस में हम देख सकते है कि तरह हिंदी क्षेत्र के साहित्यकार इस बात से परेशान थे कि

---

[102] जर्मेन ग्रीयर, बधिया स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृष्ठ 85-86

[103] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (संपा. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 70

भारतीय महिलाओं में पतिव्रता धर्म की अब कदर नहीं रही| वो इस बात से परेशान थे कि कही महिलाएं उनका नक़ल न करने लगे| पतिव्रता धर्म पर खतरे की बात कहा से उपजती है? क्या सिर्फ राष्ट्रवादी समाधान से ही यह चिंता और महिलाओं की नैतिक भर्त्सना की जा रही थी या इस चिंता में जेंडरगत विषमता भी हावी था; कि कही महिलाएं नियंत्रण से बाहर तो नहीं हो रही है; कि कही मौका मिलते ही महिलाएं महिला धर्म को ताक पर रखकर चारित्रिक रूप से भ्रष्ट तो नहीं हो जाएँगी? क्योंकि जिस तरह से हिन्दुओं के लिए धर्म की पवित्रता निर्विवाद थी उसी तरह से स्त्रियों की पवित्रता भी, जिसमें बाहरी दखलंदाजी बिल्कुल ही बर्दाश्त नहीं किया जा सकता है| इस सम्बन्ध में वीर भारत तलवार का यह विचार उल्लेखनीय हैं कि-

"भारतीयों के लिए स्त्रियाँ वैसा ही पवित्र मामला था, जैसा उनका धर्म|"[104]

हिंदी क्षेत्र के हिंदी साहित्यकार और समाज सुधारक ही नहीं बल्कि मुस्लिम लेखक और समाज सुधारक भी महिला-प्रश्न का समाधान राष्ट्रवादी राजनीति की समस्या से उपजे समाधान से कहीं ज्यादा पितृसत्तात्मक समस्या से उपजे समाधानों के जरिये करना चाहते थे| उनकी दृष्टि में महिलाओं को अगर ज्यादा छुट दे दी जाएँगी तो वह व्यभिचारिणी बनने में ज्यादा देर नहीं करेगी| पुरुषों का यह मानना था कि महिलाएं तभी तक पतिव्रता धर्म को मानती है या परिवार के प्रति ईमानदार रह सकती है, जब तक उन पर नियंत्रण रखा जाता है| इस सम्बन्ध में वीर भारत तलवार का कहना हैं कि-

"वो दरअसल स्त्री के शरीर पर, उसकी यौन इच्छा पर, पुरुष के नियंत्रण को पूरी तरह से बनाये रखने की चिंता थी| इन लोगों के सामने समस्या यह थी कि अनपढ़ और जाहिल घरेलू स्त्रियाँ मौका मिलते ही व्यभिचार कर बैठती हैं| विधवा समस्या पर 'भ्रूणहत्या' लेख में भारतेंदु ने यही लिखा था कि स्त्री सती तभी तक है जब तक मौका नहीं मिला| यहीं बात डप्टी नजीर अहमद ने मिरत-उल-उरुस में कहा है – 'हमारी औरतों में हया,पर्दादारी, नेकी,

[104] वीर भारत तलवार, रस्साकसी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 35

जो कुछ समझो, खुदा के फ़जल-ओ-करम से बहुत है| मगर बुरा मानो या भला मानो, अभी तक है मज़बूरी की| यानी मजहब और मुल्की रिवाज और मर्दों की हुकूमत ने औरतों को जबरदस्ती नेक बना रखा है|"[105]

प्रतापनारायण मिश्र ने भी "अपने एक लेख 'पतिव्रता' में आश्चर्यजनक ढंग से अपने समय में पतिव्रता स्त्रियों के आकाल पड़ जाने की शिकायत की है ..पुरुष कैसा ही कुकर्मी और कर्कश हो,पर स्त्री सच्ची पतिव्रता हो तो पुरुष निर्लज्ज व्यभिचारी न रहेगा|"[106]

ये इत्तेफाक नहीं था कि हिंदी के समाज सुधारक और रचनाकार सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगने के बावजूद अभी भी सती का महिमागान कर रहे थे| यही नहीं प्रतापनरायण मिश्र तो यहाँ तक कहते है कि -

"पर हाय! एक वह दिन थे जब हमारे यहाँ सतीत्व उस पराकष्ठा को पहुंचाहुआ था कि जीते जल जाना रिवाज हो गया था, और एक यह दिन है कि पतिव्रता ढूंढे मिलना कठिन है| हम यह तो नहीं कह सकते है कि सारी स्त्रियाँ रुक्ष्माबाई की साथिन हो रही है, पर इसमे संदेह नहीं कि पति के सुख दुःख में अपना सचमुच दुःख सुख समझाने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह निभाने वाली स्त्रियाँ भी हजारों में दस नहीं तो पांच हो तो हों"[107]

जाहिर है कि यह चिंता और महिलाओं को नियंत्रण में रखने की जदोजहद सिर्फ समस्या के राष्ट्रवादी समाधान में खोजने पर ही पूरा नहीं हो जाता, इसे समस्या के पितृसत्तात्मक समाधान में भी खोजने की जरूरत है| हिंदी के शुरुआती दौर के लेखक और समाज सुधारक ही नहीं 20वीं शताब्दी के साहित्यकार भी इस बात को लेकर चिंता ग्रस्त थे कि महिलाओं

---

[105] वीर भारत तलवार, रस्साकसी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 193

[106] वही, पृष्ठ 191

[107] वही, पृष्ठ 190

पर किस तरह से नियंत्रण रखा जाए कि वो पतिव्रता धर्म और स्त्रैण गुणों को निभाने में किसी तरह का विरोध न करें|

"१९वीं सदी के अंतिम भाग में 'स्त्री मुक्ति' का प्रश्न राष्ट्रवादी आलोचना की सार्वजनिक कार्यसूची से गायब होता क्यों दिखाई देता है, इसका कारण यह नहीं है कि राजनीतिक सत्ता से सम्बंधित अधिक भावनात्मक प्रश्नों ने उसे पीछे ढकेल दिया| बल्कि इसका कारण महिला-प्रश्न को औपनिवेशिक राजसत्ता के साथ राजनीति विचार-विमर्श का प्रश्न बनाने से राष्ट्रवाद के इंकार में निहित है.. सीधा-सादा ऐतिहासिक तथ्य यह है कि औपनिवेशिक अंतिम चरण में जनता का जो भाग व्यवहार में 'राष्ट्र' की हैसियत रखता था, उससे आनेवाली मध्यवर्गीय स्त्रियों का जीवन ऐन राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौर में ही सबसे अधिक तेजी से बदला–इतनी तेजी से कि पिछले सौ वर्षों में प्रत्येक पीढ़ी की स्त्रियाँ बड़ी सचाई के साथ कह सकती थीं कि उनका जीवन पिछली पीढ़ियों के जीवन से स्पष्ट रूप से भिन्न था| औपनिवेशिक काल में ये परिवर्तन अधिकतर राजनीतिक आन्दोलन के दायरे में बाहर घटित हुए- एक ऐसे क्षेत्र में जिसमें राष्ट्र अपने को तब भी स्वतंत्र समझता था"[108]

अगर हम हिंदी- क्षेत्र में महिला-प्रश्न की स्थिति पर बात करें तो २०वीं शताब्दी में ही महिलाएं विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय होती है| इस लिहाज से यहीं वो दौर था जब स्वयं महिलाएं अपनी समस्याओं को लेकर आती है; घर-परिवार और समाज में अपनी स्थिति के बारे में खुलकर बात करती है| इस दौर में हम देखते है कि कैसे महिलाएं राजनीतिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करती हुई नजर आती हैं|

२०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिंदी क्षेत्र में महिला-प्रश्न एक भिन्न संदर्भ में सामने आता है| इस समय तक हिंदी-क्षेत्र भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साधनों से अंजान नहीं रहता–

[108] पार्थ चटर्जी, राष्ट्र और उसकी महिलाएँ (संपा. शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय, निम्नवर्गीय प्रसंग-2) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2002, पहली आवृति 2010, पृष्ठ 71-72

"बढ़ते अवसर और साधन सम्पति के इजाफे, नये विचार, प्रिंट मिडिया और डाक सेवा और पुराने संबंधों में नई जान के कारण आतंरिक गठबन्ध और संगठन बनाने के रास्ते साफ हुए"[109]

'नये आर्थिक संरचनाओं ने इसमें भी बढ़ते भाषाई (हिन्दू-उर्दू) विवाद ने तथा मुस्लिम पुनरुथान के विकास' ने एक नये तरह के सामाजिक-आर्थिक संरचना को जन्म दिया| इन परिवर्तनों ने एक नये हिन्दू पहचान की राजनीति को मजबूत करने में काफी मदद की, जिसके कारण सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति शुरू होती है| इन सब के बीच महिलाएं एक महत्वपूर्ण आधारस्तम्भ की तरह आती है, जिसे आधार बनाकर हिन्दू पुनरुथानवादियों ने महिला-प्रश्न को सम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए इस्तेमाल किया| चारू गुप्ता का कहना हैं कि-

"ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक ताकतों द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा बनाये रखने, सामाजिक विभेद मजबूत करने और जाति विशेषताओं पर जोर देने के लिए महिलाएं एक सशक्त माध्यम थी"[110] यही नहीं उन्होंने महिलाओं के उन समस्याओं में भी बदलाव की वकालत की जिसमें कुछ वर्षों पहले उसमें बदलाव की स्थिति उन्हें स्वीकार भी नहीं थी| विधवा- पुनर्विवाह उनमें से एक था, जिसके पक्ष में हिंदी क्षेत्र के समाज सुधारक और साहित्यकार पहले बोलने और लिखने से कतराते थे लेकिन हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायिककरण के बढ़ते हुए माहौल में हिदू पुनरुथानवादी इसलिए विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में राजी होने लगे थे क्योंकि उनकी नजर में मुस्लिम हिन्दू विधवाओं को बहला फुसलाकर, धर्म परिवर्तन करके शादी कर लेते थे|

इस तरह हम देखते हैं कि स्त्रियों पर हो रहे परम्परावादी हमलों को मात्र साम्राज्यवाद विरोध के प्रतिरोध स्वरूप उपजे राष्ट्रवादी विचार के आलोक में ही नहीं देख सकते है| महिलाओं की स्त्रैण भूमिकाओं को महिमामंडित करने, भारतीय बनाम पश्चिमी स्त्री की

---

[109] चारु गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता, संस्करण 2012, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पृष्ठ 24

[110] चारु गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता, संस्करण 2012, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पृष्ठ 29

मिथकीय अवधारणाओं को भारतीय पितृसत्तात्मक संरचना के आलोक में 'स्त्री-प्रश्न को देखने की जरूरत है| इसे नारीवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में बेहतर तरीके से समझा जा सकता है|

तृतीय अध्याय

स्त्री-गद्य-लेखन का स्वरूप

3.1 स्त्री-शिक्षा का अंतर्द्वन्द्व

3.2 विधवा पुनर्विवाह का द्वन्द्व और स्त्री-लेखन

3.2.1 विधवा पुनर्विवाह और वेश्योद्धार की स्थिति

3.2.2 स्त्री-प्रश्न और समाज सुधारकों की स्थिति

3.3 कुलीन और इज्जतदार घर की बहुएं तथा मृत्स्त्रीक विवाह

3.4 लेखिकाओं की नज़र में मातृत्व के मायने

3.5 व्यक्तिगत पहचान की छटपटाहट और स्त्री-लेखन

3.6 वैवाहिक जीवन की त्रासदी और प्रेम

3.6.1 प्रेम और विवाह

3.6.2 प्रेम की मिथकीय अवधारणा

3.6.3 प्रेम, विवाह और मित्रता

3.6.4 प्रेम: स्वाभाविक और भावनात्मक एहसास

3.6.5 प्रेम: फैंटेसी या हकीकत

3.7 निम्नवर्गीय महिलाओं की समस्याएं और पितृसत्तात्मक समाज

3.8 स्वतन्त्रता आन्दोलन 'कारागार' और स्त्रियाँ

3.8.1 जातिगत भेदभाव, सम्प्रदायिकता और स्त्री

3.9 'प्रेमचन्द घर में' और स्त्री

3.10 स्त्री और 'रंगीन पर्दा'

3.10.1 शिक्षित स्त्रियों के प्रति लोगों की मानसिकता

3.10.2 देशसेवा और स्त्री

3.10.3 पति-पत्नी और मध्यवर्गीय परिवार

3.10.4 भारत विभाजन और स्त्रियाँ

3.10.5 समाज का यथार्थ और भावुकता

3.11 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरती स्त्रियों की परेशानियाँ

भूमिका

स्वतन्त्रता आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी बहुत महत्वपूर्ण थी, लेकिन नेत्रियों और लेखिकाओं के इस संघर्ष के दौरान कौन-सा नारीवादी विमर्श प्रकाश में आया, जो 19वीं शताब्दी के महिला आंदोलन से, जो पुरुषों के नेतृत्व में लड़ा जा रहा था, उन्हें अलग करता है| यह जाहिर है कि पुरुष समाज सुधारक और साहित्यकारों के नेतृत्व में चल रहा महिला-प्रश्न साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी विमर्शों के आपसी टकराहट के फलस्वरुप अपना आकार ग्रहण कर रहा था| चाहे राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी का सवाल हो या महिलाओं की समस्याओं के समाधान के सुधार की बात| इसका निर्णय उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी हित के बरक्स ही किया जा रहा था| महिलाओं के संघर्ष की एक बहुआयामी पक्ष यह था कि उनका संघर्ष विभिन्न मोर्चों पर जारी था| औपनिवेशिक शासन के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष न केवल साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ था, बल्कि इनका संघर्ष भारतीय सामाजिक प्रथाओं के भी विरोध में लड़ा जा रहा था| बाल विवाह, स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा जैसे विभिन्न मुद्दों पर भारतीय महिलाएं संघर्षरत थीं| लेकिन तीस, चालीस और पचास के दशक में महिला साहित्यकार भारतीय कुलीनता के बरक्स प्रेम-विवाह, मैत्री और खासकर स्त्रियों के व्यक्तित्व की लड़ाई अपने साथ लेकर आती हैं|

स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को सिर्फ उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन के संदर्भ में देखने से महिलाओं के स्वतंत्र संघर्ष की अनदेखी होगी| अतः उपनिवेश विरोधी आंदोलन के दौरान उठे महिला-प्रश्न को सैद्धांतिक/विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य में भी देखने की आवश्यकता है| यह विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य उनके लेखन की रचनाशीलता से आता है, जिनमें काफी मात्रा में उनकी साहित्यिक रचनाओं का योगदान हैं| महिलाओं में आई विचारधारात्मक चेतना को उनकी साहित्यिक रचनाओं में देखा जा सकता है| महिलाओं का संघर्ष इस मायने में पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों से अलग था क्योंकि महिलाएं स्त्री- को सिर्फ सार्वजनिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं देख रही थी बल्कि इसे

परिवार के उस दायरे तक लाती है जहां से उनकी अधीनता की शुरुआत होती है| पुरुष समाज सुधारक और साहित्यकार महिलाओं की पारिवारिक समस्याओं को घरेलू क्षेत्र की समस्या बताकर बाहरी तत्वों के हस्तक्षेप से इनकार कर रहे थें| महिलाओं के लिए महिला-प्रश्न में सुधार का मतलब सिर्फ बाहरी या भीतरी सुधार से नहीं रह गया था बल्कि वह अब अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में सुधार की गुंजाइश भी खोजने लगी थी|

हालांकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि महिला लेखन पारंपरिक विचारों से, मूल्यों से अभी तक प्रभावित था| इसका मतलब यह नहीं है कि महिलाएं विचारधारात्मक रूप से कमजोर थीं| यह जरूर है कि व्यावहारिक स्वतंत्रता के मामले में या निर्णय लेने के मामले में अभी भी महिलाएं कश्मकश की स्थिति में थी| लेकिन वह निर्णय लेने की स्थिति में अब आ चुकी थी| इसीलिए महिलाओं के संघर्ष को एक विचारधारात्मक संदर्भ में परिभाषित करने की जरूरत है ताकि उनके संघर्ष को सही तरह से समझा जा सकें| यह इसलिए भी जरूरी है ताकि लेखिकाओं के विचारधारात्मक संघर्ष को, स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को सिर्फ आंदोलन में उनके योगदान के संदर्भ में ही नहीं बल्कि उनके विचारों के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकें| पुरुष समाज सुधारकों के नेतृत्व में चल रहे महिला आंदोलन में पुरुषों की भूमिका एक उद्धारक की थी| उपनिवेश विरोधी आंदोलन में महिलाओं के उद्धार का सवाल ब्रिटिश शासन और उपनिवेश विरोधियों के बीच हुए संघर्ष का परिणाम था| यह संघर्ष सिर्फ राजनीतिक सत्ता के बरक्स ही नहीं लड़ा जा रहा था, यह संघर्ष सांस्कृतिक-सामाजिक पहचान के बरक्स भी लड़ा जा रहा था| यह संघर्ष पश्चिमी और पूर्वी, भारतीय और यूरोपीय सांस्कृतिक पहचान की भी एक लड़ाई के रूप में सामने आता है| भारतीय संदर्भ में इस पहचान की आधारशिला भारतीय महिलाएं बनती है| महिलाएं यहां सांस्कृतिक पहचान के रूप में सामने आती हैं|

उपनिवेश विरोधी आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में ही भारतीय महिलाओं की लड़ाई लड़ी जा रही थी| महिलाओं के सुधार से जुड़े जितने भी सामाजिक सुधार की बात की जा रही थी उसका संबंध उपनिवेश विरोधी आंदोलन से सीधे जुड़ा हुआ था, लेकिन जो बात ध्यान देने की है वह था- महिलाओं के नेतृत्व में लड़ा जा रहा विचारधारात्मक संघर्ष| यह संघर्ष उनके लेखन

के जरिए सामने आता है| हालांकि यह भी स्पष्ट है कि व्यावहारिक और वैचारिक रूप से उनके विचारों में काफी अंतर था| विचारधारात्मक लड़ाई के मतलब यह नहीं होता कि समाज के स्तर और व्यक्ति के स्तर पर इनकी व्यावहारिक स्वीकृति मिल गई हो| सुधार के शुरुआती दौर में महिलाओं से संबंधित जिन मुद्दों पर विचार विमर्श किया जा रहा था, स्वतंत्रता प्राप्ति तक बहुत कुछ मामलों में स्त्रियों में विचार के स्तर पर विचारधारात्मक बदलाव की आहट सुनाई पड़ने लगी थी| यह बदलाव भारतीय समाज में आई सामाजिक-सांस्कृतिक और शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरुप पढ़ी-लिखी शिक्षित लेखिकाओं की चेतना से आया था|

तीस चालीस और पचास के दशक में महिला-प्रश्न का दायरा सामाजिक रूढ़ियों, प्रथाओं से होते हुए महिलाओं के व्यक्तिगत पहंचान से आकर जुड़ता है| अब महिलाएं उन समस्याओं पर बात कर रही थी, जिन समस्याओं का संबंध उनके व्यक्तित्व की पहचान से था| विचारधारात्मक रूप से महिलाओं को शिक्षित होने का अधिकार मिल चुका था| उच्च मध्यम वर्गीय घरों की महिलाओं का समय अब अखबार के पन्ने पलटते हुए व्यतीत होने लगा था| लेकिन अभी भी व्यक्तिगत जीवन से जुड़े फैसले करने के लिए वह स्वतंत्र नहीं थी| इसका कारण कोई पश्चिमी-यूरोपीय स्त्री का डर नहीं था बल्कि ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज का होना था, जिसका कारण था- भारतीय समाज को लेकर महिलाएं एक स्वतंत्र विचार की मालकिन तो थी, लेकिन उनकी स्थिति अभी भी स्वतंत्र निर्णय लेने की नहीं थी| यह स्वतंत्र जीने का संघर्ष ही उनकी रचनाओं का विषय बन कर आता है| बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी क्षेत्र में सामाजिक आंदोलनों में जिन मुद्दों को उठाया जा रहा था उससे अलग जिन संघर्षों एवं समस्याओं को महिलाएं उठा रही थी, वह समस्या सामाजिक समस्याओं के समाधान से ही उपजा था| इन सामाजिक समस्याओं में शिक्षा का सवाल बेहद अहम मुद्दा था| महिला शिक्षा का सवाल न केवल यूरोपीय संस्कृति के बरक्स महत्वपूर्ण हो चुका था, बल्कि पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय पुरुषों के लिए भी महिलाओं का शिक्षित होना जरूरी हो गया था| इस शिक्षा के समाधान से जो समस्या आती है, वह है- स्वतंत्र निर्णय लेने की समस्या| अब मध्यवर्गीय महिलाएं पढ़ लिख रही थी| उनकी जिंदगी मात्र घर के काम करते हुए

व्यतीत नहीं हो रहा था| मानसिक स्तर पर उनमें विचार-विमर्श करने की गुंजाइश पैदा हो चुकी थी| उसका यह विचार-विमर्श महिला शिक्षा से शुरू होकर व्यक्तिगत स्तर पर पहचान की छटपटाहट और उनके भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में उभर कर सामने आता है| इस अध्याय में महिलाओं की बदलती हुई आकांक्षाओं और संघर्षों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है| इस अध्याय में महिला-प्रश्नों के समाधान से उपजे सवाल का अध्ययन किया गया है|

3.1 स्त्री–शिक्षा का अंतर्द्वंद :

उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी आंदोलन में स्त्री-शिक्षा एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में सामने आया| स्त्रियों की शिक्षा को लेकर तरह-तरह के विरोधात्मक विचार देखने को मिलते हैं| सुधारकों के बीच स्त्री-शिक्षा को लेकर इस बात पर ज्यादा बहस हो रहा था कि स्त्रियों को किस तरह की शिक्षा दी जाए| उनमें से अधिकांश समाज सुधारकों में इस बात पर सहमति थी कि स्त्रियों को उतनी ही शिक्षा की जरूरत है, जिससे घर-परिवार और बदलते हुए सामाजिक-राजनीतिक माहौल में वह स्वयं को ढाल सकें| साथ ही उभरते हुए भारतीय मध्यवर्गीय बौद्धिक जनों की मानसिक इच्छाओं की तुष्टि कर सके|

हिंदी क्षेत्र में भी स्त्रियों की शिक्षा को लेकर काफी विरोधाभास देखने को मिलता है| स्त्री-शिक्षा इतना महत्वपूर्ण कैसे हो गया? बीसवीं सदी के दौरान हिंदी पत्र- पत्रिकाओं में स्त्रियों की शिक्षा विषयक बहुत से लेख देखने को मिलते हैं| चूकी 20वीं शताब्दी के दौरान स्त्रियों द्वारा स्थापित पत्र-पत्रिकाओं के आने से और उसमें भी विशेष रूप से स्त्रियों की समस्याओं को, स्त्रियों द्वारा उठाए जाने की वजह से स्त्रियों की समस्या खुलकर सामने आई|

समाज सुधारको के लिए स्त्रियों को शिक्षित करना इसलिए जरूरी नहीं था कि वह उनके व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को वाणी देना चाहते थे, बल्कि स्त्रियों का अनपढ़ होना, पुरुषों के लिए भी व्यक्तिगत समस्या बन चुकी थी| जैसा कि प्रो. वीर भारत तलवार का कहना है कि-

“बदलते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में शिक्षित पुरुष और अशिक्षित स्त्री के बीच की खाई ने सामाजिक और पारिवारिक ढांचे में संकट पैदा कर दिया था| बदलती हुई सामाजिक

राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में यह अलगाव एक अंतर्विरोध में बदलता गया| शिक्षित पुरुष अपनी अशिक्षित स्त्रियों के साथ निबाह न कर पाते थे|"[111]

अभी तक इस बात पर बहस हो रही थी कि स्त्रियों को शिक्षा दी जाए कि नहीं दी जाए और अगर दी जाए तो उन्हें किस तरह की शिक्षा दी जाए| लेकिन अब एक और समस्या जुड़ गई थी कि अब अशिक्षित स्त्रियों के साथ किस तरह से निर्वाह किया जाए| बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक, इस तरह की समस्याओं के उदाहरण हमें उस समय के साहित्य में आसानी से देखने को मिल जाते हैं| स्त्रियों ने अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति का कारण जहां अपनी अशिक्षा को ठहराया और स्त्रियों को शिक्षित होने के लिए प्रेरित किया, वहीं पुरुषों के लिए स्त्रियों का अनपढ़ होना, उनकी तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक हैसियत के खिलाफ था| साहित्य में इसके विभिन्न विरोधाभासों को लेखिकाओं ने उसके अंतर्द्वंद्व के साथ उजागर किया है|

सत्यवती मलिक की कहानी संग्रह 'दिन रात' में संकलित 'दृष्टि' इसी तरह की समस्याओं पर केंद्रित कहानी है| इस कहानी का प्रकाशन वर्ष 1942 ई. है| समस्या यह थी कि अशिक्षित स्त्रियों के साथ निर्वाह कैसे किया जाए| इससे अनपढ़ स्त्रियों के सामने एक और समस्या ने जन्म ले लिया| उन लड़कियों के लिए अनपढ़ होना और भी कष्टदायी हो गया, जिनका विवाह तो पहले बचपन में ही किया गया था, लेकिन नवजागरण से प्रभावित होकर उनके पति पढ़-लिख गए थे| 'दृष्टि'(1942) कहानी की लेखिका सत्यवती इस समस्या का यथार्थ चित्रण करती हैं-

"उसकी सगाई बचपन में ही उसके माता-पिता द्वारा एक गांव में कर दी गई है, लड़की बहुत ही कम पढ़ी लिखी है|"[112]

इस वजह से अविनाश इस विवाह से खुश नहीं था वह आज एक इंजीनियर की हैसियत रखता है और उसकी पत्नी अनपढ़ और गँवार है। 'अविनाश को तो एक ऐसी पत्नी चाहिए जो

---

[111] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 136-137

[112] सत्यवती मलिक, दिन-रात, अतरचंद कपूर एंड संस, दिल्ली, 1955, पृष्ठ 70

कम से कम अंग्रेजी बोलना और ठीक से कपड़े पहनना तो आना ही चाहिए ताकि अविनाश सरीखे व्यक्ति के साथ वह उच्च वर्ग की पार्टियों तथा सभा सोसायटियों आदि में भली-भांति आ जा सके|'[113]

खैर, अविनाश अपनी अनपढ़ पत्नी को लाता है और अपने दोस्त विनोद के पास उसे सभ्यता एवं रहन-सहन आदि सीखने के लिए भेज देता है| लेकिन उसकी पत्नी आधुनिक सभ्यता के गुणों को आत्मसात नहीं कर पाती है| अविनाश के तमाम कोशिशों के बावजूद वो खुद को नहीं बदल पाती| शायद यह उसका मूक विद्रोह हो| अविनाश अपनी पत्नी को शिक्षित करने के लिए किसी भी तरह की कमी नहीं की, लेकिन वही 'ढाक के तीन पात'| अविनाश को उससे एक लड़की भी पैदा होती है| उसे भी वो अपनी आत्मीयता और प्यार नही दे पाता| आखिर अविनाश कब तक इस 'जाहिल' और 'गवार' लकड़ी के साथ अपना निर्वाह करता, उसने दूसरी शादी कर ली| यह घटना सिर्फ कहानियों में ही घटित नहीं हो रही थी, बल्कि असल जिन्दगी में भी अगर पत्नी गँवार, कर्कश और बदसूरत निकली तो मर्द दूसरी शादी बेझिझक कर सकता था| शिवरानी देवी अपनी रचना 'प्रेमचंद घर में' लिखती हैं कि किस तरह प्रेमचंद अपनी पहली पत्नी को छोड़ने का कारण उसका बदसूरत होना तथा कर्कश होना बताते हैं-

"वह बदसूरत तो थी ही| उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थी| यह इन्सान को और भी दूर कर देता है|"[114]

अविनाश अपनी बेटी को भी, इस डर से की कहीं वो अपनी माँ की तरह गँवार और जाहिल न रह जाये, उसे भी आधुनिक रहन-सहन में ढलने के लिए अपने दोस्त के साथ ही भेज देता है|

यहाँ पर पढ़ी-लिखी स्त्री का मतलब यह नहीं है कि वो नौकरीपेशा हो| अपने पति के साथ सभा-सोसाइटियों में, आधुनिक, सभ्य बीबी बनने का दिखावा कर सके, मात्र इसी की

---

[113] वही, पृष्ठ 71

[114] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 26

जरूरत थी| यह समस्या आज भी बरक़रार है| पुरुषों को पढ़ी-लिखी फैशनेबल पत्नी तो चाहिए, लेकिन घर के कामों में भी निपुण होना अनिवार्य थी| यही कारण है कि आज भी हमारा समाज लड़कियों को उतना ही पढ़ना चाहता है ,जिससे उनकी शादी में किसी तरह की दिक्कत न हो| उस दौर में पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय परिवार में यह समस्या आम हो चुकी थी| इस वजह से लकड़ियों को किस तरह की उपेक्षा और परित्यक्ता के तकलीफ से गुजरना पड़ता था| इसे महिला-लेखन में देखा जा सकता है| अनपढ़ स्त्रियां, जो आधुनिक सभ्यता को आत्मसात नहीं कर पा रही थी, उनके लिए जिन्दगी और भी कठिन हो गयी थी|

लेकिन यह समस्या सिर्फ अनपढ़ स्त्रियों के साथ ही नहीं थी, पढ़ी-लिखी स्त्रियों के साथ भी यही समस्या आड़े आ रही थी| पुरुषों को यह डर था कि कहीं आधुनिक विचारों से लैस महिलाएं भारतीय महिला के दायरे से बाहर तो नहीं जा रही हैं| लिहाजा उन पर भारतीय महिला के आदर्शों के साथ रहने का नैतिक दबाव भी डाला जा रहा था| पढ़ी-लिखी महिलाओं को भी चारित्रिक रूप से अच्छा नहीं समझा जा रहा था| दोनों ही स्थितियों में स्त्रियां तनावपूर्ण जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त थीं| पढ़ी-लिखी स्त्रियों को भी परम्परागत नियमों और मूल्यों के अनुसार खुद को संयमित रखने का दवाब था| उससे यह अपेक्षा की जा रही थी कि वो भारतीय महिला की गरिमा को भी बनाये रखे| पुरुषों की इस अपेक्षा और स्त्रियों की इस कश्मकश को लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है | अगर पत्नी अनपढ़ और गवार है तो भी उसके साथ निर्वाह करना मानसिक रूप से तकलीफ देह है और अगर पत्नी आधुनिक विचारों वाली पढ़ी-लिखी है तो भी उसके साथ रहना मुश्किल है| उन्हें भारतीय स्त्रियों का 'मेम साहब' बनने का भी डर सता रहा था| पुरुष साहित्यकारों ने आधुनिक पढ़ी-लिखी स्त्रियों को चारित्रिक रूप से उत्छृंखल और 'तितली' के समान दिखाया है| प्रेमचंद अपने उपन्यास 'गोदान' में मालती का चित्रण इसी तरह से करते हैं, लेकिन महिला लेखन में स्त्रियों को उत्छृंखल या तितली की तरह नहीं, बल्कि पुरुषों की संकुचित मानसिकता को दिखाने का प्रयास किया गया है| लेखिकाओं ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह पुरुषों की इस मानसिकता के कारण महिलाओं को मानसिक तनाव से गुजरना पड़ता है| महिला रचनाकार बड़ी सहानुभूति के साथ स्त्रियों की कश्मकश को अपनी

रचनाओं के जरिये सामने लाती हैं| सुभद्रा कुमारी चौहान अपनी रचना 'दुनिया' में एक पढ़ी-लिखी स्त्री के प्रति पुरुषों की क्या मानसिकता हो सकती है उसे बखूबी दिखाने की कोशिश की हैं| अपनी रचना 'अंगूठी की खोज' में भी सुभद्राकुमारी ने यह दिखाया है कि किस तरह से पुरुष पात्र योगेश अपनी अनपढ़ पत्नी से खुश नहीं था| इसी तरह लेखिका ने 'कान के बूंदे में' भी यह दिखाया है कि किस तरह से 'वकील साहब' को अपनी पढ़ी-लिखी पत्नी पसंद नहीं आती है क्योंकि पढ़ी-लिखी पत्नी के साथ-साथ उन्हें 'सुशील, लज्जाशील, सीधी तरह आँख उठाकर बात नहीं करने वाली'[115] स्त्री चाहिए|

मध्यवर्गीय महिलाओं के सामने अब समस्या यह थी कि उन्हें भारतीय स्त्री की परंपरागत भूमिकाओं, बहू और पत्नी की भूमिका को बनाकर रखना था| अब उनके सामने नैतिकता का सवाल भी आ गया था| पढ़ी-लिखी स्त्रियों पर यह नैतिक दबाव डाला जा रहा था कि वह पढ़-लिख तो गई हैं, लेकिन उन्हें अपने घर-परिवार, सास-ससुर, पति तथा समाज के प्रति परंपरागत कर्तव्य को बड़ी सुगमता और शालीनता से, बिना किसी तरह का प्रतिरोध किये सावधानी के साथ निभाना है| महिला-लेखन के उदाहरण से इसे भली-भांति समझा जा सकता है कि पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय स्त्रियां किस तरह से नैतिक और चारित्रिक उपेक्षा की शिकार हो रही थी| तेजरानी पाठक की कहानी 'अपना घर' में भी यह दिखाया गया है कि (एकादशी 1931) पढ़ी-लिखी लड़कियों को किस तरह के नैतिक दबाव का सामना करना पड़ रहा था| इस कहानी में यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि अगर लड़की पढ़ी-लिखी है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह आजाद खयालात की भी हो जाए| बल्कि उसे और ज्यादा, कुलीन और इज्जतदार घर की बहू -बेटी और पत्नी के आदर्श को निभाने की कोशिश करनी चाहिए| परंपरागत, कुछ हद तक रूढ़िवादी कर्तव्यों में किसी भी तरह की बदलाव की गुंजाइश नहीं थी| उसे और भी शालीनता और तत्परता के साथ अच्छी बहू के कर्तव्य को निभाना चाहिए| ऐसा नहीं है कि यह सब कर्तव्य पहले नहीं निभाना पड़ता था, लेकिन अगर आप अनपढ़ और गँवार है, तो उस हालत में प्रतिरोध की गुंजाइश बनी हुई थी । लेकिन

[115] सुभद्रा कुमारी चौहान, सीधे-सादे चित्र, हंस प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण सितम्बर 1983, पृष्ठ 252

अगर आप पढ़ी-लिखी हैं तो आपको बड़ी शालीनता से, किसी भी तरह का प्रतिवाद किये बगैर स्त्रैण भूमिकाओं को निभाने का दबाव कुछ ज्यादा ही रहता है ।

'अपना घर' कहानी में ससुराल जाते समय अपनी बेटी प्रतिमा को नसीहते देते हुए उसकी माँ कहती है कि-

"बेटी! तुम पढ़ी-लिखी स्वयं समझदार हो दोनों घरों की शान अब तुम्हारे पैरों तले दबी है।"[116]

प्रतिमा की सास का स्वभाव अच्छा तो रहता है, लेकिन परंपरागत सास से ज्यादा नहीं| प्रतिमा की सास बहुधा प्रतिमा को डांटती तथा गालियां देती रहती थी| एकाध बार तो मार भी दिया किंतु प्रतिमा के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलता था| क्योंकि उसे अपनी मां के अंतिम शब्द याद थे कि –

"वह पढ़ी- लिखी थी| दोनों घरों की शान उसके पैरों तले दबी थी| उस शान में बट्टा लगा कर वह पढ़ी-लिखी लड़कियों के नाम में धब्बा लगाना नहीं चाहती थी"[117]

प्रतिमा यहां उन पढ़ी-लिखी लड़कियों की प्रतिनिधित्व कर रही है, जिसे हर हालत में परिवार की मर्यादा को निभाना है, ताकि पढ़ी-लिखी लड़कियों की नैतिकता पर किसी भी तरह की आंच ना आए| प्रतिमा जैसी लड़कियों को सिर्फ अपने घर तक की इस मर्यादा को नहीं बनाए रखना था| उसे तो पास- पड़ोस में भी बड़ी सावधानी और संभल कर जवाब-तलब करना था| बड़ी सावधानी और सलीके से बातचीत भी करनी है, चाहे सामने वाला किसी भी लहजे में, बात क्यों न कर रहा हो| 'चंपा की मां को कुछ उत्तर नहीं दिया| उसने चुप रहना ही ठीक समझा,बहु है और वह भी ऐसी वैसी नहीं पढ़ी- लिखी बहू, जिसकी मामूली से मामूली बात को भी संसार टीका टिप्पणी करके विकट रूप देने के पीछे पड़ा रहता है|'[118]

---

[116] तेजरानी पाठक, एकादशी (अपना घर) प्रकाशक, चाँद प्रेस, लिमिटेड, इलाहबाद, संस्करण 1947, पृष्ठ 81

[117] वही, पृष्ठ 83

[118] वही, पृष्ठ 85

उस दौर की पढ़ी-लिखी लड़कियों का इमेज कैसा था? चंपा की मां के शब्दों से समझा जा सकता है –

"तुम नहीं जानती कि पढ़ी -लिखी बहू बड़ी बेढब होती है| मुंह की मीठी पेट की काली"[119] पढ़ी-लिखी लड़कियां हो या कोई भी औरत उसे नीचा दिखाना हो या उसके साहस को तोड़ना हो तो सबसे आसान तरीका, जिसे पितृसत्ता ने ईजाद किया है, वह है- औरत की चारित्रिक छवि को धूमिल कर देना| जब पड़ोस की चंपा की मां किसी भी तरह प्रतिमा की सहनशीलता को नहीं डिगा पाती है, तो वह उसके ऊपर चारित्रिक पतनशीलता का आरोप लगाती है, ताकि वह उसकी सास को उसके प्रति भड़का सके। चम्पा की माँ प्रतिमा की सास से कहती है कि –

"दोपहर को जब तुम सो जाती हो रोज बुलाकी कोई ना कोई चीज लेकर आता है| तुम्हारे सामने तो तुम्हारी बहू, बुलाकी के आगे हाथ भर लंबा घूंघट निकाले रहती है| लेकिन दोपहर को दोनों खूब हंस हंस कर बातें करते हैं|"[120]

किसी लड़की के चरित्र को लांछित करने के लिए इतना ही काफी है कि कोई लड़की किसी पुरुष से हंस- हंस कर बातें कर लेती हो| प्रतिमा अपनी सास की सभी तरह की ज्यादतियों को बर्दाश्त करती है| चूँकि वह पढ़ी लिखी बहू है| अतः जाहिर है कि वह अपने पति से भी इस बारे में कुछ नहीं कह सकती थी| यहां तक कि उसकी सास उसे शारीरिक रूप से भी प्रताड़ित करने से नहीं चुकती| प्रतिमा के पति को जब इन सब बातों की खबर होती है तो वह अपनी मां से अलग रहने का निर्णय लेता है, लेकिन प्रतिमा किसी भी हालत में अपने सास से पृथक रहना नहीं चाहती| प्रतिमा अपने सास के पैरों से लिपट कर बोली –'मेरा घर तो यही है|'

इस तरह प्रतिमा की सहनशीलता और समझदारी से यह घर टूटने से बच जाता है और प्रतिमा की सास को भी अपनी गलती का एहसास होता है| और वह कहती है कि –

---

[119] वही, पृष्ठ 87

[120] वही, पृष्ठ 89

"ईश्वर करें ऐसी पढ़ी लिखी बहू सबको मिले|"[121]

पढ़ी लिखी मध्यवर्गीय स्त्रियों के साथ एक और समस्या जुड़ गई थी| वह यह कि उसे समाज में तथाकथित अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था चारित्रिक रुप से उसे और सबके लिए आसानी से उपलब्ध होने वाली स्त्री के रूप में देखा जाता था| उसकी व्यावहारिकता को भी लोग उसकी चारित्रिक कमतरी से जोड़कर देखते थे| सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानी 'दुनिया' से यह समझा जा सकता है कि किस तरह से एक पढ़ी-लिखी, सभा सोसायटियों में जाने वाली, सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने वाली, सक्रिय महिलाओं के किरदार को शक की निगाह से देखा जाता है| सार्वजनिक मंच पर स्त्रियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करानी शुरू कर दी थी| गांधी के राजनीतिक क्षेत्र में आगमन के कारण सिर्फ पढ़ी-लिखी स्त्रियां ही सार्वजनिक जीवन में भाग नहीं ले रही थी, बल्कि आम स्त्रियों को भी सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करने का मौका मिलने लगा था| 20 वीं सदी के दूसरे दशक के बाद स्त्रियों को सार्वजनिक मंच पर आना काफी आसान हो गया था| वह इस बात को भी समझने लगी थी कि घर की चारदीवारी के बाहर भी एक दुनिया है |गांधी के प्रभाव से उन्हें अपने घर परिवार वालों के विरोधों का सामना भी नहीं करना पड़ रहा था| चूँकि गांधी की छवि नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से आदर्श महापुरुष की थी, इससे परंपरागत हिंदू परिवार भी अपने स्त्रियों को घर से बाहर निकालने की अनुमति दे देता था। हालांकि इसमें घर के पुरुषों की स्वीकृति का सवाल अभी भी बना हुआ था| लेकिन समस्या तब उत्पन्न हुई जब आधुनिक पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय स्त्रियों के सामाजिक राजनीतिक कार्यों की वजह से पुरुषों से मिलना जुलना पड़ता था| इस तरह की औरतों को तथाकथित 'अच्छी' निगाह से नहीं देखा जाता था| इस मानसिकता को सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानी 'दुनिया' से अच्छी तरह से समझा जा सकता है|

पढ़ी-लिखी स्त्रियों के चारित्रिक रहन-सहन के बारे में पुरुष रचनाकार भी आश्वस्त नहीं थे| उन्हें पढ़ी-लिखी लड़कियां सचमुच में 'तितली' के समान लगती थी, लेकिन लेखिकाएं यह दिखाने की कोशिश कर रही थी कि पढ़ी-लिखी स्त्रियों की छवि धूमिल की जा रही है|

[121] तेज तेजरानी पाठक, एकादशी (अपना घर) प्रकाशक, चाँद प्रेस, लिमिटेड, इलाहबाद, संस्करण 1947, पृष्ठ 97

बावजूद इसके कि पुरुषों की ओछी मानसिकता दिखलाया जाये| महिला रचनाकार स्त्रियों के चरित्र पर सवाल उठाने की प्रवृत्ति को लेकर पुरुषों की मानसिकता पर सवाल खड़ा कर रही थी कि पुरुष वर्चस्ववादी समाज पढ़ी-लिखी स्त्रियों को बुरी मानसिकता से देखते हैं जिसके कारण स्त्रियों को मानसिक रूप से प्रताड़ित होना पड़ता है|

जिस अंदाज में पुरुष रचनाकार पढ़ी लिखी स्त्री को दिखा रहे थे इसको कैसे देखा जाए? क्या इसे एक स्त्री और पुरुष के नजरिए के फर्क के रूप में देखा जाये? स्त्रियों के लिए घर से बाहर निकलना, सामाजिक-राजनीतिक कार्यों में भाग लेना, जहां उनके लिए एक प्रकाशमय जीवन की तरफ बढ़ना था, वहीं पुरुषों की नजर में उनके पारिवारिक जिम्मेदारियों से भागना था जिसे वो पारिवारिक मान-मर्यादा और भारतीयता के आवरण में लपेटकर पेश किया करते थे| उन्हें इस बात की भी चिंता थी कि कहीं पारिवारिक जिम्मेदारियों के प्रति स्त्रिया बेपरवाह ना हो जाए| इन सभी दबाव की वजह से स्वयं स्त्रियों को पश्चिमी सभ्यता से अलग दिखने का दबाव था| कहा जाता है कि जब 'हरदेवी' के नेतृत्व में हरियाणा की महिलाओं ने सार्वजनिक गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया तो, किसी के घर में बढ़िया से पका पकाया खाना नहीं मिल पाता था|' पुरुष अपने परिवारिक वर्चस्व में किसी तरह की कमी करने के पक्ष में नहीं थे| इस वजह से स्त्रियों को दोहरी भूमिका निभाना पड़ता था| एक ओर परिवार की परंपरागत जिम्मेदारियों को निभाना था तो दूसरी ओर उन्हें सार्वजनिक मंच पर तथाकथित इज्जतदार महिला की छवि को भी बेदाग रखना था| इस कश्मकश को स्त्री-लेखन में उनके सारे अंतर्विरोधों के साथ देखा जा सकता है|

इस तरह हम देखते हैं कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक से स्त्रियों को विशेषकर उच्च मध्यवर्गीय स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने और सामाजिक राजनीतिक मंच पर आने की इजाजत मिल तो रही थी, अपनी संघर्षशीलता से स्त्रियां विभिन्न क्षेत्रों में स्वयं को साबित भी कर रही थी लेकिन इसके साथ ही उन्हें नई चुनौतियों के लिए भी तैयार होना था| नयी समस्याओं का भी सामना करना था| अभी एक समस्या खत्म नहीं हुई की उन्हें दूसरी समस्याओं से भी रूबरू होना पड़ रहा था।

पितृसत्तात्मक समाज की सहूलियत के लिए परंपरागत मूल्यों में किसी भी तरह का उथल - पुथल ना हो और महिलाएं पितृसत्तात्मक समाज के घेरे को पार न करें, यह पुरुषों के हित में था| लेकिन पुरुष यह भी चाहता था कि उनकी घर की महिलाएं आधुनिक रहन – सहन के अनुसार खुद को अपडेट भी रखे| स्त्रियां भी कूपमंडूक बन कर नहीं रह सकती थी| आधुनिक समाज की मांग भी यही थी| एक बार घर की चारदीवारी से बाहर आ चुकी महिलाओं के लिए पीछे मुड़कर देखना आसान नहीं था| फिर भी मानसिक अंतर्द्वंद्वों को सहते हुए वह दोहरी भूमिका निभाने के लिए मजबूर थी| उन्हें पितृसत्तात्मक घेरे में रहकर ही अपने लिए जगह बनानी थी| इन तमाम पुरानी समस्याओं और नई चुनौतियों का सामना करती हुई स्त्रियां आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील थी| यह संघर्षशीलता ही उनके जागरूक होने का प्रमाण था| स्पष्ट है कि किसी भी अधिकार को प्राप्त करना है तो तरह -तरह की चुनौतियों का सामना करना ही पड़ता है| आपको कोई सीधा-सादा रास्ता नहीं मिल सकता, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए| यही चुनौतियां बीसवीं सदी की स्त्रियों के सामने थी| आज के नारीवाद के सामने भी यह समस्या कुछ परिवर्तनों के साथ बनी हुई है|

3.2 विधवा पुनर्विवाह का द्वन्द्व और स्त्री- :

एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में विधवा पुनर्विवाह का मुद्दा १९वीं शताब्दी का एक अहम् मुद्दा था| यह मुद्दा २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ख़त्म तो नहीं हुआ था लेकिन यह जरुर है कि संयुक्त-प्रान्त में इसे उस तरह से गंभीर विचार-विमर्श का मुद्दा नहीं बनाया गया,जिस तरह से बंगाल में ईश्वरचंद विद्यासागर के नेतृत्व में यह लम्बे समय तक स्त्री मुक्ति के संदर्भ में देखा जा रहा था| ईश्वरचंद विद्यासागर के तमाम कोशिशों के बाद विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में कानून बना तो सही, लेकिन विधवा पुनर्विवाह को लेकर उस समय सक्रिय विभिन्न पुरुष समाज सुधारकों विशेषकर संयुक्त प्रान्त के समाजसुधारक/साहित्यकार गम्भीर और संवेदनशील नजर नहीं आ रहे थे| विधवाओं की समस्या को उनकी दयनीय और शोचनीय दशा को ध्यान में रख कर नहीं, बल्कि वे अपने सामाजिक-धार्मिक और पितृसतात्मक समाज

को ध्यान में रख कर समाधान के पक्ष में थे| जिसके कारण विधवाओं की दशा में सुधार के बजाय अंतर्विरोध ज्यादा ही पैदा हो गया|

जहाँ तक संयुक्त प्रान्त में विधवा विवाह के पक्ष में आवाज उठाने की बात है-

"आर्यसमाज और कायस्थ महासभा के कुछ उत्साही सुधारकों को छोड़कर किसी ने इसके पक्ष में प्रभावशाली आवाज नहीं उठाई| रुढ़िवादी ही नहीं सुधार के नाम पर बनी कुछ संस्थाएं भी विधवा विवाह का विरोध करती थी| क्षत्रियों में सुधार के लिए बनी 'क्षत्री हितकारी सभा' की पत्रिका में इस विषय पर लिखते हुए मुंशी वीरसिंह वर्मा ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि "विधवा विवाह महा अनर्थकारी है और इससे अधर्म बढ़ेगा|"[122]

उत्तर भारत में दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज का विशेष प्रभाव था लेकिन दयानंद सरस्वती ने भी अपने ग्रन्थ-

"सत्यार्थ प्रकाश में बाल विधवाओं (अक्षत योनि) के पुनर्विवाह को शास्त्र सम्मत बताया, पर शारीरिक संपर्क कर चुकी (क्षत योनि) द्विज जाति की विधवाओं के विवाह को अनुचित ठहराया| हाँ शुद्र स्त्री पर कोई पाबंदी नहीं लगाई| द्विजों की क्षत योनि विधवाओं के लिए पुराणी वैदिक नियोग प्रथा का विस्तार करने को मान्यता दी|"[123]

आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माता कहे जाने वाले भारतेंदु और भारतेंदु मंडल के समाज सुधारक/साहित्यकार भी विधवा विवाह के पक्ष में नहीं थे| भारतेंदु मंडल के ही साहित्यकार प्रतापनारायण मिश्र :

"बाल विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थक थे, लेकिन युवा विधवाओं के विवाह के समर्थक नहीं थे| यही नहीं वो विधवाओं पर लगे तरह-तरह के कठोर बन्धनों का भी समर्थन करते थे|"[124]

---

[122] वीर भारत तलवार, रस्साकसी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 176
[123] वही, पृष्ठ 179
[124] वीर भारत तलवार, रस्साकसी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 177

हिंदी नवजागरण के पुरोधा कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र का विचार विधवा विवाह के सन्दर्भ में काफी दुविधा भरा था| यहाँ तक कि उनके द्वारा विशेष रूप से स्त्रियों के लिए निकाली गयी 'बालाबोधिनी' (1874) पत्रिका में भी विधवा विवाह के पक्ष या विपक्ष में भी कुछ नहीं लिखा गया है| जबकि बंगाल में विद्यासागर पूरी ताकत से विधवा विवाह के पक्ष में खड़े रहे| महाराष्ट्र में भी विधवा विवाह चर्चा का विषय बना रहा| यही नहीं लगभग उसी दौरान महाराष्ट्र की ताराबाई शिंदे, पंडिता रमाबाई और संयुक्त प्रांत में सीमंतनी उपदेश की लेखिका महिलाओं की विभिन्न समस्याओं के साथ ही विधवाओं की समस्या से भी दो चार हो रही थीं|

एकाध लेखों में किसी समस्या के सन्दर्भ में विधवाओं के बारे में बात उठाई जरूर गयी है, लेकिन स्वतंत्र और गंभीर तरीके से विधवाओं के बारे में बात करने से हिंदी के साहित्यकार अगंभीर ही दिखे| भारतेंदु अपने लेख 'भ्रूणहत्या' में लगे हाथ विधवाओं की समस्या पर भी बात कर लेते है| इस सम्बन्ध में वीर भारत तलवार लिखते हैं कि-

"स्त्री की कामचेष्टा को मुख्य तर्क बनाकर, इसे शास्त्रों से प्रमाणित कर भारतेंदु ने विधवा विवाह को भ्रूणहत्या रोकने का एकमात्र उपाय बताया|" विधवाओं की तकलीफों को नजरअंदाज करते हुए वे यहाँ तक कहते है कि "जिस स्त्री को ऐसी देखो व जिसका गौना न हुआ हो, वा जिसमे तनिक भी कामचेष्टा संदेह हो, उसको चटपट किसी के माथे मढो|"[125]

इस तरह की दलील और विचार कोई असंवेदनशील व्यक्ति ही दे सकता है, जिसे विधवाओं की समस्याओं का, उनकी सामाजिक अवहेलना का तथा शारीरिक-मानसिक प्रताड़ना का जरा भी इल्म ना हो|

संयुक्त प्रान्त में विधवा विवाह के सम्बन्ध में चाहे आर्य समाज के विचारों का सवाल हो या आधुनिक हिंदी नवजागरण के निर्माता माने जाने वाले भारतेंदु हरिश्चन्द्र, किसी ने विधवाओं /स्त्रियों की समस्या को गंभीरता से नहीं लिया| अगर लिया भी तो इसका सम्बन्ध स्त्रियों के

[125] वही, पृष्ठ 180

दुःख दर्द और तकलीफ से नहीं बल्कि पुरुषों के पितृसतात्मक हितों, धार्मिक सांप्रदायिक और राष्ट्रीय हितों से ही ज्यादा था| पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्रियों की समस्याओं से उबारने की अपेक्षा उनकी समस्याओं को और भी उलझाने का काम किया है| यही नहीं जिस तरह से ये समाज सुधारक/साहित्यकार स्त्रियों पर नैतिक/धार्मिक मूल्यों के साथ रहने का दबाव बना रहे थे, उससे महिलाओ के नेतृत्व में चला महिला आन्दोलन भी काफी गुमराह हुआ| महिलाओं पर पहले से ही सामाजिक और धार्मिक दबाव कम नहीं थे, उन पर नैतिक दबाव भी बनाया गया और यह काम राष्ट्रीय हित के नाम पर,जो प्रकारान्तर से पुरुषों का ही हित था, किया गया|

इसे हम महिला आन्दोलन की नेत्रियों और हिंदी की लेखिकाओं के विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी विचारों के आलोक में बखूबी देख सकते हैं| विधवा विवाह के सम्बन्ध में हिंदी की लेखिकाओं का क्या विचार था? उनका विचार पुरुष समाज सुधारकों/साहित्यकारों से किस तरह और क्यों प्रभावित था या कि उनका विचार किस तरह से पुरुष समाज सुधारकों/साहित्यकारों से इत्तेफाक रखता था? इसे महिला लेखन के आलोक में देखने का प्रयास किया जायेगा|

विधवा विवाह के सन्दर्भ में स्त्री आन्दोलन की नेत्रियों / लेखिकाओ का क्या विचार था? विधवाओं की समस्या को वो किस तरह से दूर करने के पक्ष में थी, इसके बारे में प्रो. वीर भारत तलवार का कहना है कि-

“स्त्रियों ने विधवाओं के फिर से विवाह करने की बात साफ-साफ और सीधे ढंग से नहीं कही| विधवाओं के जीवन के एकाकीपन और उदासी को दूर करने के लिए उन्होंने तरह- तरह की व्यस्तताओं और जीवन में रचनात्मक कामों को करने का इंतजाम करने पर ही जोर दिया| विधवा आश्रमों को कायम कर विधवाओं को नए- नए हुनर सिखाने और उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाने जैसे कार्यक्रमों में उत्साह दिखलाया गया| लेकिन विधवाओं को फिर से ब्याहने की

मांग उनके लेखों में नहीं मिलते|..स्त्रियों के बजाय उस समय के पुरुषों के लेखों में विधवा विवाह की खुली जोरदार वकालत मिलती है|"[126]

यह सही है कि जिस उत्साह और अधिकार से महिला आन्दोलन की नेत्रियाँ /लेखिकाएं स्त्रियों की और समस्याओं बाल- विवाह, स्त्री शिक्षा, पर्दा प्रथा इत्यादि की मांग जोर-शोर से कर रही थी, उतने ही अधिकार और आत्मविश्वास से विधवा विवाह की मांग नहीं कर पा रही थी| इसका क्या कारण हो सकता है?

विधवाओं के सन्दर्भ में महिला नेत्रियों/ लेखिकाओं के लेखन में एक बात जो नोट करने वाली है, जो पुरुष समाज सुधारकों/साहित्यकारों के लेखन से उन्हें अलग करती है, वो है- विधवाओं की समस्या को उनके मानसिक शारीरिक प्रताड़ना, दुःख दर्द और तकलीफ को जिस तरह से लेखिकाओं ने अपने लेखन में दिखाया है, पुरुष लेखकों की रचनाओं में उसका अभाव देखने को मिलता है| पुरुष समाज सुधारकों/साहित्यकारों ने विधवाओं के कष्टपूर्ण और दुःख भारी जिन्दगी पर सहानुभूति प्रगट करने की बजाय उसका महिमा मंडन ही किया है| उन्हें मानसिक-शारीरिक अभावों में जीने की मज़बूरी को पुरुष साहित्यकारों ने तपस्या के समान श्रेष्ठ माना है| जबकि हकीकत यह है कि विधवाओं को जबरजस्ती कष्टपूर्ण जिन्दगी जीने के लिए बाध्य किया जाता है, न कि वो अपनी मर्जी से इतना मानसिक-शारीरिक प्रताड़ना और सामाजिक बहिष्कार का सामना करती हैं|

अपने समय के बेहद गंभीर माने जाने वाले साहित्यकार प्रेमचंद भी विधवाओं की कष्टपूर्ण जीवन का महिमा मंडन करने से नहीं चुकते| प्रेमचंद भी विधवाओं की समस्याओं पर बहुत कुछ लिखा है, लेकिन अपनी कहानी 'तथ्य' में वे एक ऐसे तथ्य की प्रतिष्ठा करते हैं, जिसे विधवाओं के प्रति अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता है| 'तथ्य' कहानी की नायिका पूर्णिमा विधवा होने के बाद स्वयं को इतनी कठोर अनुशासन के तहत ढाल लेती है कि एक सामान्य मनुष्य के लिए वह बहुत ही कष्टदायी है| एक विधवा स्त्री

[126] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृष्ठ 113

कठोर अनुशासन के साथ अपना जीवन-यापन करती है; इसे उसकी दयनीयता और उसके प्रति करुणा या सहानुभूति का भाव प्रकट न करके उसके कष्टपूर्ण ज़िन्दगी को सारतत्व की तरह तरह करना और झूठे नियम कानूनों के प्रति क्षोभ प्रकट न करके उसके प्रति झूठा सम्मान प्रदर्शित करना, वैधव्य की कठोरता को महिमामंडित करने और उसे समर्थन देने के सिवाय क्या हो सकता है? वैधव्य के कठोर नियम-कायदों को पूरी तरह से आत्मसात कर चुकी पूर्णिमा को महिमामंडित करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं कि-

"पूर्णिमा के इस विरत आत्मसंयम और तपस्वियों के से आचरण के सामने उसकी समस्त वासनाओं और प्रेम के उमंगों का नाश हो गया था और उसके जीवन का यह नया तथ्य आकर उपस्थित हो गया था कि मन में मिट्टी को देवता बनाने की शक्ति हो तो मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति है| पूर्णिमा उसी घृणित मनुष्य को देवता बनाकर उसकी पूजा कर रही थी| उसने शांत भाव से कहा- तपस्विनी को हम जैसे स्वार्थी लोग कैसे समझ सकते है, मौसी? हम लोगो का कर्तव्य इसके चरणों में सिर झुकाना है, इसे समझना नहीं|"[127]

1856 ई. में विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में कानून तो पारित हो गया लेकिन सचाई यह थी कि ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलते है जिसमें संतोषजनक रूप से विधवाओं का विवाह हुआ हो| जैसा कि राधा कुमार लिखती हैं कि-

"1890 के दशक में यह तथ्य सामने आया कि विधवा पुनर्विवाह कानून बनाने के बाद विगत 40 वर्षों में कुल पांच सौ विधवा पुनर्विवाह हुए"[128]

जाहिर है कि विधवा पुनर्विवाह की स्थिति उत्साह जनक नहीं थी| शायद इसीलिए 'समाज सुधारकों ने खुद इसे एक 'मुर्दा पत्र' की संज्ञा दी|'[129]

---

[127] प्रेमचंद, तथ्य (प्रेमचंद की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 2) सुमित्र प्रकाशन, इलाहबाद, नवां संस्करण 2013, पृष्ठ 843

[128] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800 -1990, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011, पृष्ठ 49

[129] वही, पृष्ठ 48

विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में सर्वसम्मति नहीं हो पायी थी| 20वीं शताब्दी तक भी विधवा विवाह के पक्ष में सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल पा रही थी| इस सवाल पर कि विधवाओं का विवाह होना चाहिए या नहीं, बहुत-सी जटिलताएं और अंतर्विरोध देखने को मिलता है| समाज सुधारकों और रूढ़िवादियों दोनों ने ही विधवा विवाह को जटिल बना दिया| 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका ने भी विधवा विवाह का समर्थन तो किया है | लेकिन वो भी ये ठीक मानती थी कि अगर विधवाएं विवाह न करे तो ही अच्छा है| इसका कारण बताते हुए वो कहती हैं कि-

"मगर आज कल के जमाने में जो औरत एक के मरने से दूसरी शादी नहीं करती बेशक आराम में रहती है, उनकी बनिस्पत जो शादी कर मर-पीट और बहुत बातों से पछताती हैं|"[130]

शायद इसलिए कि एक तो विधवाओं को आसानी से कोई स्वीकार नहीं कर रहा था और अगर कोई उनसे विवाह करने के लिए राजी हो भी रहा था तो तरह- तरह के मानसिक विरोधों का सामना करना पड़ रहा था | आखिर वो कौन सी समस्याएं थी जो विधवा विवाह के रास्ते में रूकावटे डाल रही थी?

सबसे पहला कारण तो यह था कि समाज सुधारक सुधार तो करना चाहते थे, लेकिन उनके अन्दर पितृसत्तात्मक विधि-निषेध इतना हावी था कि वे उससे बाहर निकल ही नहीं पा रहे थे या कि उससे बाहर निकलना ही नहीं चाहते थे| पितृसत्तात्मक मूल्यों को बचाने की जदद्दोजहद में विधवा विवाह को और भी जटिल बना दिया गया| रुढ़िवादयों की तरह समाज सुधारक भी स्त्रियों को स्वतंत्र करने की बजाय उसे एक ऐसा सुरक्षित माहौल देना चाहते थे जहाँ से स्त्रियों के यौन गतिविधियों को और भी नियंत्रित किया जा सके| इसे हम दयानंद सरस्वती इत्यादि समाज सुधारकों के बाल-विधवा और क्षत-योनि विधवा के विवाह के सम्बन्ध में दिए गए दलीलों से बखूबी समझ सकते हैं| यह सारा विचार यौन नियंत्रण के पितृसत्तावादी वर्चस्व से आता है| जहाँ पर स्त्री पर यौन नियंत्रण के जरिये ना केवल पुरुष अपने सत्ता को बनाये रख सकता है, बल्कि परिवार जैसी संस्था के साथ ही जातिगत वर्चस्व

[130] डा. धर्मवीर, (संपादक) एक अज्ञात हिन्दू औरत, सीमन्तनी उपदेश,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 77

को भी बरक़रार रखा जाता है| यही नहीं स्त्रियों पर नियंत्रण के द्वारा ही भारतीय ब्राह्मणवादी पितृसत्ता सांप्रदायिकता के घिनौने खेल को भी बड़ी आसानी से अंजाम देता है|

दूसरी बात यह थी कि स्त्रियों पर नियंत्रण रखना पहले की तरह आसान नहीं था, क्योंकि अब पुरुष शोषित की भूमिका से बाहर निकल कर स्त्री उद्धारक और समाज सुधारक की भूमिका में आ खड़ा हुआ था| ऐसी स्थिति में स्त्रियों को डांट-फटकार कर जबरदस्ती नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता था; उनके ऊपर स्थाई दबाव नहीं बनाया जा सकता था| अत: सबसे आसान तरीका यही था कि नैतिक दबाव के जरिये उन पर नियंत्रण रखा जाए| शायद यही कारण है कि महिला आन्दोलन की नेत्रियाँ /लेखिकाएं और स्त्री समस्याओं की तरह विधवा विवाह पर खुल कर आवाज नहीं उठा पाती हैं| विधवाओं से सम्बंधित उनकी जो भी रचनाएँ मिलती है उनमें न केवल लेखिकाओं पर बल्कि स्त्री चरित्रों पर भी एक तरह के नैतिक दबाव को महसूस किया जा सकता है|

दूसरी समस्या सामाजिक स्वीकृति की थी| भारतीय समाज में स्त्रियों की यौन पवित्रता को लेकर जिस हद तक स्वीकृति देखने को मिलती है, उससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि महिलाओं के बारे में समाज की सोच कितना संकुचित होगा| जिस समाज में विवाह के लिए लड़कियां आसानी से मिल जाती है, जहाँ पर बूढ़े पुरुषों की शादी भी बच्चियों के साथ बड़ी आसानी से कर दी जाती है, वह समाज क्यों चाहेगा कि उसकी शादी किसी विधवा से हो| जिस समाज में दहेज़ की वजह से लड़कियों की शादी करना कितना महंगा सौदा होता है, वह समाज युवा विधवा से शादी करने के लिए किस तरह से तैयार हो सकता था| यही कारण रहा होगा कि लोग विधवाओं से शादी करने से कतराते थे जिसके कारण विधवा विवाह बुरी तरह से विफल हो जाता है|

ऐसा नहीं है कि संयुक्त प्रान्त की नेत्रियां/लेखिकाएं विधवाओं की समस्याओं को नहीं उठाती हैं| इन लेखिकाओं ने विधवा विवाह करवाने की अपेक्षा विधवाओं की शोचनीय स्थितियों के बारे में ज्यादा विचार किया है| विधवा विवाह को लेकर जो मुश्किलें आ रही थीं, उन मुश्किलों पर लेखिकाओं ने ज्यादा ध्यान दिया है बनिस्पत विधवा विवाह करवाने के| भले

ही कानून विधवा विवाह के पक्ष में था लेकिन व्यवहारिक कठिनाईयां अभी भी बनी हुई थीं| लेखिकाओं ने उन समस्याओं और कठिनाईयों को विचार-विमर्श का विषय बनाया है, जो विधवा विवाह के सामने आ रही थीं| विधवाओं और विधवाओं से विवाह करने वालों के सामने जो सामाजिक और नैतिक समस्याएं आ रही थी उन अंतर्द्वन्द्व को लेखिकाओं ने दिखाने की कोशिश की है| विधवाओं को जिस तरह की सामाजिक अवहेलना का पात्र समझा जाता है उस पर लेखिकाओं का ध्यान ज्यादा है| विधवा विवाह के सफल न होने का एक सबसे बड़ा कारण शायद यह भी रहा है कि विवाह करने वालो को सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था|

शिवरानी देवी ने अपनी कहानी 'नर्स' में एक बाल-विधवा क्षमा की कहानी के माध्यम से विधवा विवाह में आ रही कठिनाईयों और समस्याओं का जिक्र किया है| क्षमा के पिता उमानाथ के बाल-विवाह सम्बन्धी विचारों और उनके व्यावहारिक अंतर्द्वन्द्व पर व्यंग करते हुए शिवरानी देवी लिखती हैं कि-

"विचार नए रखते हैं; पर चलते है पुरानी लकीर पर समाज की जिन बुराईयों को रोते हैं, वही बुराईयां करते हैं| वह बाल-विवाह के विरोधी थे, पर जब एक अच्छे कुल का लड़का मिल गया और रमा (उनकी पत्नी) ने जोड़ लगाया तो क्षमा का ग्यारह की अवस्था में विवाह कर दिया; पर जब गौना होने के पहले ही क्षमा विधवा हो गई तो बाल-विधवा विवाह के समर्थक होने पर भी पंडित जी उसका विवाह न कर सके|"[131]

खैर, पंडित उमानाथ अपनी इकलौती बेटी क्षमा का दुख देखकर किसी तरह विवाह करने के लिए राजी भी होते है तो लड़का इस शर्त पर राजी होता है कि 'उसे विलायत जाने के लिए पांच हजार रूपये दिये जाएँ' अपना घर बेचकर भी पंडित उमानाथ शादी के लिए राजी तो होते है लेकिन क्षमा ऐसे दहेज़ के लालची और स्वार्थी व्यक्ति से विवाह के लिए राजी नहीं होती है| क्षमा यह निश्चय करती है कि-

[131] शिवरानी देवी, कौमुदी, सरस्वती प्रेस बनारस, प्रथम संस्करण, 1937, पृष्ठ 88-89

"वह अब किसी पुरुष की लौंडी न बनेगी,स्वयं अपनी स्वामिनी बनेगी|"[132]

क्षमा पढ़-लिख कर अध्यापिका बनना चाहती थी, लेकिन पिता की अचानक मौत की वजह उसे नर्स बनाना पड़ता है| हालांकि उस समय नर्स बनाना सामाजिक रूप से मर्यादित और गरिमा पूर्ण पेशा नहीं माना जाता था| अपने कार्य के दौरान क्षमा को उसी व्यक्ति से भेट होती है जो क्षमा से विवाह करने के लिए रुपये की शर्त रखी थी| बावजूद क्षमा उस मरीज की बड़ी लगन से सेवा करती है| अन्तत: जटाशंकर क्षमा से माफ़ी मांगता है और उसके साथ शादी करने का प्रस्ताव रखता है|

लेखिका विधवा विवाह के पक्ष में तो है लेकिन इस शर्त के साथ कि कोई सच्चे मन से विधवाओं को अपनाने के लिए तैयार हो न कि स्वार्थवश अपना मतलब साधने के लिए| क्योंकि शिवरानी देवी को इस बात का अच्छी तरह से अंदाजा है कि अगर आपसी प्रेम और बिना शर्त के विवाह ना हो तो लड़की को काफी परेशानियों से गुजरना पड़ता है| विधवा विवाह को खुलकर समर्थन ना देने के पीछे यह भी एक वजह हो सकता है| शायद लेखिकाओं की भी यह शर्त थी कि विधवाओं कों बिना शर्त सम्मानपूर्वक अपनाया जाए| आप अंदाजा लगा सकते हैं कि जिस समाज में लड़कियों का जन्म लेना और उनकी शादी करना मुश्किल भरा काम है उस समाज में विधवाओं के साथ विवाह करना तो और भी मुश्किल था| शिवरानी देवी की ही एक और कहानी है 'करनी का फल' इस कहानी में बाल विधवा का पुनर्विवाह करवाने का कोई जिक्र नहीं आया है, बल्कि विधवा होते हुए भी वह अपने आदर्श की रक्षा किस तरह से करती है इसका वर्णन किया गया है| ऐसा लगता है कि विधवा लड़कियों की शादी करवाने से ज्यादा चिंता इस बात की है कि उसे एक आदर्श और मर्यादित स्त्री किस तरह साबित किया जाए| समाज सुधारकों की तरह लेखिकाओं को भी इस बात की ज्यादा फ़िक्र थी कि विधवा स्त्री भी अपने सतीत्व की रक्षा जी जान से कर सकती है|

आखिर क्या कारण है कि विधवाओं की समस्याओं और उनकी भावनाओं पर बात करने से ज्यादा विधावाओं को पवित्र और अपने मरे हुए पति के प्रति वफादार दिखाया जा रहा था|

[132] वही, पृष्ठ 91

जैसा कि यह जाहिर है कि किस तरह से समाज सुधारक विधवाओं के तथाकथित व्यभिचार से डरे हुए थे| वो विधवाओं की शादी के पक्ष में इसलिए थे क्योंकि उन्हें डर था कि इससे समाज में व्यभिचार फैलेगा| वो कामचेष्टा से पीड़ित महिलाओं के दुबारा शादी के पक्ष में थे| यह दलील कि 'जिन स्त्रियों में काम की अधिकता है उन्हें किसी के माथे मढ़ो' कितना अव्यावहारिक और औरतों को जलील करने वाला नजरिया है| पुरुषों के इस तरह की दलीले और नजरिया निश्चय ही महिलाओं पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाने का काम किया होगा| जिसके कारण स्वयं महिलाएं भी विधवा विवाह का खुलकर जोरदार तरीके से वकालत नहीं कर रही थी, उल्टे वह आदर्श हिन्दू विधवा का चरित्र निर्माण कर रही थीं| शायद इस कारण भी लेखिकाओं पर यह दबाव बना और विधवा पुनर्विवाह के लिए आवाज उठाने की बजाय वो चारित्रिक रूप से श्रेष्ठ विधवाओं को अपनी रचनाओं में जगह देती हैं|

लेखिकाओं की दूसरी सीमा यह है कि वह विधवाओं को प्रेम करते हुए भी चित्रित करती हैं| दूसरे पुरुष के साथ उनके अन्तरंग संबंधों को भी दिखाती हैं, लेकिन सामाजिक स्वीकृति न मिलने की वजह से उन प्रेम सम्बन्धों का अंत अत्यंत कारुणिक और दुखांत होता है| शिवरानी देवी अपनी कहानी 'विधवा' में बाल विधवा सुखिया को जमींदार ब्रजेशचंद के साथ प्रेम संबंध दिखाती है| ब्रजेशचन्द शादी शुदा है| एक दिन आचानक गाँव वालों को यह पता चलता है कि सुखिया गर्भ से है| पंचायत में सुखिया से उसके होने वाले बच्चे के बाप के बारे में पूछा जाता है, लेकिन सुखिया किसी का नाम नहीं लेती है| उसे बहुत ही मानसिक और शारीरिक रूप से प्रताड़ित होना पड़ता है| अन्ततः ब्रजेशचंद सुखिया के तकलीफ को देख नहीं पाता और वह भरी पंचायत में यह स्वीकार करता है कि-

"अब तक कायरता और झूठे अभिमान में पड़ कर मैंने इस देवी के साथ जो पशुता की है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ| आज से यह देवी मेरी स्त्री है और इसका बालक मेरा पुत्र| समाज मेरा

जो बहिष्कार करना चाहे वो करे.. मैं तुम से विवाह करूँगा और तुम्हे उसी आदर से रखूँगा, जैसे ललिता रहती है|"[133]

लेकिन इतनी उपेक्षा और अपमान ने सुखिया के जीने की सारी इच्छाओं को मार दिया था| अब 'सुखदा देवी के प्राण निकल चुके थे'

इसी तरह तेजरानी पाठक का उपन्यास 'हृदय का कांटा' में भी बाल विधवा मालती का प्रेम सम्बन्ध अपनी बहन के पति के साथ रहता है, लेकिन अंतत: दोनों को ही बहुत सी परेशानियों का सामना करना पड़ता है| दोनों का साथ छूट जाता है| यहाँ एक बात ध्यान देने वाली यह है की पुरुष चाहे जितना ही दोषी क्यों न हो, उसके लिए वापस आने के दरवाजे हमेशा ही खुला रहता है, लेकिन एक स्त्री एक बार समाज की मर्यादा के खिलाफ जाती है तो उसके लिए वापस आने के सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं और यही हाल मालती के साथ भी होता है| पुरुष जहाँ फिर से अपने परिवार में वापस आ जाता है| उसकी पत्नी उसे स्वीकार कर लेती है, वहीं मालती के लिए इसकी कोई गुंजाइश नहीं बचती|

ऐसा भी नहीं था कि लेखिकाएं विधवा विवाह के पक्ष में अपना समर्थन नहीं दे रही थी| इसका कोई एक पक्ष नहीं था| ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं हैं, जहाँ लेखिकाएं विधवा विवाह के पक्ष में भी खुलकर सामने आती हैं|

कमला देवी चौधरानी अपनी कहानी 'स्वप्न' (कहानी संग्रह 'पिकनिक' में सकलित) में न केवल एक क्रान्तिकारी कदम उठाती है, बल्कि मनुष्य की प्राकृतिक इच्छाओं और स्त्री-पुरुष संबंधों की हकीकत को भी स्वीकृति दिलाती है| 'स्वप्न' कहानी की नायिका सुरीला विधवा है| उसके पिता अपनी बेटी को एक महात्मा के आश्रम में रखते हैं| आश्रम के ही एक लड़के के साथ सुरीला को प्रेम हो जाता है| वह लड़का भी सुरीला को पसंद करता है| अंतत: कुछ विरोधों के बाद आश्रम का महंत उन दोनों को शादी की स्वीकृति दे देता है|

[133] शिवरानी देवी, कौमुदी, सरस्वती प्रेस बनारस, प्रथम संस्करण, 1937, पृष्ठ 54-55

सुभद्रा कुमारी चौहान की विधवाओं से सम्बंधित कहानियाँ है- 'किस्मत', 'दृष्टिकोण', 'कल्याणी' और 'असमंजस'| इन कहानियों में सुभद्रा कुमारी चौहान विधवाओं की कष्टपूर्ण और उनकी उपेक्षित जिंदगी के आगे नहीं बढ़ पाती हैं| यहाँ तक कि 'असमंजस' कहानी में ऐसी परिस्थितियां बनती हैं कि विधवा कुसुम का पुनर्विवाह मुमकिन दिखाई देता है, लेकिन न केवल इस कहानी की नायिका आदर्श के नाम पर शादी करने से इंकार कर देती है, बल्कि लेखिका भी अंत तक विधवा विवाह को लेकर असमंजस में पड़ी रहती हैं|

3.2.1 विधवा पुनर्विवाह और वेश्योद्धार की स्थिति :

'विधवा पुनर्विवाह की मांग लेखिकाएं खुलकर क्यों नहीं कर रही थी?' जहाँ तक इस सवाल का जवाब है, तो ऐसा नहीं है कि लेखिकाएं विधवा विवाह की मांग खुलकर नहीं उठा रह थी| लेखिकाओं कि मांग यह थी कि अगर विधवाओं को सम्मानपूर्ण और प्रेमपूर्ण कोई अपनाने के लिए तैयार है तो विधवाएं प्रसन्नतापूर्वक विवाह जरूर करतीं| विधवा विवाह या वेश्योद्धार, दोनों के पक्ष में लोग भाषण जरूर दे रहे थे, लेकिन जब विधवाओं और वेश्याओं यहाँ तक की वेश्याओं की बेटी को अपनाने की बात आती है तो कोई भी अपनाने के लिए तैयार नहीं होता| विधवाओं से वे लोग विवाह करने के लिए तैयार हो रहे थे जिन्हें दहेज की जरूरत थी| शिवरानी देवी की कहानी 'नर्स' में लड़का विधवा नायिका से इसलिए शादी करना चाहता है कि वो अपने बाप की इकलौती बेटी है और उसे विलायत जाने के लिए पैसे की जरूरत है | इसी तरह विधवाओं से वो लोग विवाह करने के लिए राजी होते है जिनको समाज से बहिष्कृत कर दिया गया है या वे लोग जो बूढ़े हो चुके है| विधवाओं से सम्मान पूर्वक कोई भी शादी करने के लिए तैयार नहीं होता है |

इस दौर की नेत्रियाँ और लेखिकाएं विधवा विवाह की मांग के साथ ही इस बात की ज्यादा जिक्र करती हैं कि विधवाओं और वेश्याओं तथा वेश्याओं की बेटियों के उद्धार के सामने किस तरह की दिक्कते आती हैं | इस तरह के विवाह किस तरह से विधवाओं के लिए और भी शोचनीय हो जाती है | उनकी स्थिति में किसी तरह का फर्क नहीं दिखाई देता | लेखिकाएं

विधवाओं के सम्मानजनक विवाह के पक्ष में है और यह तभी संभव हो सकता है जब कोई उनके साथ प्रेम पूर्वक विवाह करने के लिए तैयार हो|

इसके साथ ही साथ लेखिकाओं ने यह भी दिखाया है कि किस तरह से वेश्याओं की बेटी के साथ प्रेम विवाह करने के बाद भी अंतत: उनकी बेटियों का हाल और भी बुरी परिस्थिति में चला जाता है| उन्हें आत्महत्या तक करनी पड़ती है, क्योंकि उन्हें पग- पग पर अपनी पवित्रता का सबूत देना पड़ता है| विधवाओं और वेश्याओं के लिए समाज की मुख्यधारा में आने का कोई मार्ग नहीं है | सामाजिक अवहेलना की शिकार ये महिलाएं अगर खुद को इस यातना भरी जिन्दगी से मुक्त भी करना चाहती हैं, तो अंतत: समाज सेविका के रूप में या सुधार आश्रमों में ही उन्हें जगह मिल पाती है | सुधार गृहों में रह रही वेश्याओं की बेटियों का आगे क्या होगा इसका पता किसी को नहीं है |

लेखिकाओं की रचनाओं में आई विधवाएं और वेश्याएँ समाज सेविका के रूप में अपनी जिंदगी को सार्थक बनाने का प्रयास करती हैं | 'हृदय का कांटा' उपन्यास की, विधवा से बनी वेश्या पात्र कल्पना हो, प्रेमचंद की उपन्यास सेवासदन की पात्र सुमन हो, सेवासदन में सुमन की देखभाल में रह रही वेश्याओं की लड़कियां हो, 'सम्मोहिता' की कुंतला या शिवानी ये सभी उपेक्षित महिलाएं आश्रमों में अपना मुक्ति देखती हैं, लेकिन समाज की मुख्यधारा में पवित्र जीवन बिताने के बाद भी उनके लिए कोई जगह नहीं है| समाज उन पर तरस खा सकता है, लेकिन उन्हें सम्मानपूर्वक जिन्दगी जीने का अधिकार कभी नहीं दे सकता| अवैध सम्बन्ध बनाने; नशाखोरी करने; वेश्यागमन करने के बावजूद पुरुष अपनी जिन्दगी में वापस आ सकता है | मुख्यधारा के समाज में उसके लिए फिर भी जगह बनी रहती है या एक साथ वो दोनों ही स्थितियों में रह सकता है | पुरुषों के लिए हमेशा ही यह गुंजाइश बनी रहती है| यहाँ तक कि उनकी पत्नियां ही उन्हें अपनी सहनशीलता से सही मार्ग पर लाने का काम करती हैं | इतना ही नहीं यदि वो सही मायने में हिन्दू स्त्री हैं; पतिव्रता हैं, तो उसका पति जरूर सुधर जायेगा, लेकिन स्त्रियों के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है | उसके सुधर जाने के बाद भी समाज या परिवार उसे वापस अपने घरों में नहीं रखता, लेकिन पुरुष चाहे बिगड़ा

हो या सुधरा, हर हालत में समाज की मुख्यधारा में उसके लिए जगह है| 'ह्रदय का कांटा' का पुरुष पात्र अंतत: एक सुखी पारिवारिक जिंदगी बिताने में कामयाब रहता है | उसकी पत्नी भी उसके साथ रहने के लिए तैयार रहती है, लेकिन कल्पना के लिए वापस आना, किसी भी सूरत में संभव नहीं है | चाहे इला हो, या सुलेखा या प्रतिमा ये ऐसी स्त्री पात्र हैं जो अपने पति की उपेक्षा की शिकार होते हुए भी अपने पति के प्रति बेहद ईमानदार रहती है और अपने प्यार, सेवाभाव, त्याग और पतिव्रता के बल पर अपने पति को पाने में सफल होती हैं |

हिंदी क्षेत्र में विधवाओं के पुनर्विवाह की मांग उस तरह से नहीं उठाया गया है जिस तरह से बंगाल में विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह विवाह को स्थापित करने के लिए सामाजिक और क़ानूनी लड़ाई लड़ी| आधुनिक हिंदी के जनक कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने तो 'बालाबोधिनी' पत्रिका में, जिसे हिंदी की पहली स्त्री पत्रिका माना जाता है, में भी विधवा विवाह के सवाल को नहीं उठाया | जबकि सुधार आन्दोलन के दौर में विधवाओं की समस्या बहुत बड़ी समस्या थी| जहाँ तक 20वीं शताब्दी में विधवाओं की समस्या और उनके पुनर्विवाह को उठाने का सवाल है, तो विद्यासागर की तरह ऐसा कोई समाज सुधारक नहीं हुआ जो विधवा पुनर्विवाह के लिए जमीनी स्तर पर सुधार का प्रयास किया हो| हिंदी क्षेत्र के समाज सुधारक और साहित्यकार भी विधवाओं की समस्या को बहुत गंभीरता से नहीं लेते थें, बकायदा वो विधवाओं के कष्टपूर्ण जीवन का महिमामंडन ही करते थें| वे विधवाओं की बुनियादी समस्याओं पर बात करने की बजाय इस बात के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जोर डाला कि विधवा का त्यागमय जीवन जीना ही धार्मिक और नैतिक रूप से श्रेयस्कर है| वे हमेशा विधवाओं को ही यह सीख देते रहें कि उन्हें किस तरह रहना चाहिए| समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने समाज और पुरुषों को कभी प्रोत्साहित नहीं किया कि विधवाओं से शादी करने के लिए आगे आये| उन्होंने अपनी सारी उर्जा यह बताने में लगा दी कि विधवाओं को समाज सेवा के कार्यों में हाथ बटाना चाहिए; उन्हें विधवा आश्रम में रहना चाहिय बजाय इसके कि उन्हें विधवाओं को उनका हक़ दिलाने में लगाते| विधवाओं को धर्म के नाम पर प्रताड़ित तो किया ही जाता था साथ ही साथ उन्हें सम्पति से भी पूरी तरह

बेदखल कर दिया गया था| परिवार के लोग विधवाओं की सम्पति पर अपना हक़ तो जमाये ही रखते थे और तो और उल्टा उन्हें अपने ऊपर बोझ भी समझते थें| विधवाओं को उनके घरों में उनका हक़ दिलवाने की बात न उठा कर उनके लिए आश्रम बनवाने की बात उठाई जा रही थी| विधवाओं को विवाह करने और उनके साथ विवाह करने के लिए आगे आने की बजाय किस विधवा का विवाह होना चाहिए और किस विधवा का विवाह नहीं होना चाहिए जैसे बेबुनियादी सवालों में समाज सुधारक उलझे रहे और महिला आन्दोलन की नेत्रियों को भी बौद्धिक रूप से गुमराह किया, क्योंकि महिलाओं की समस्याओं में सुधार की बात पहले पहल पुरुष समाज सुधारकों ने ही उठाया था | समाज सुधारकों ने विधवाओं की नैतिक संकोच को कम करने या तोड़ने की बजाय उन पर नैतिक रूप से और दबाव डालने की ही कोशिश की| दयानंद सरस्वती द्वारा उनकी यौनिक पवित्रता को आधार बनाकर विवाह करने की इजाज़त देना भी विधवाओं के हित में अच्छा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अगर कोई विधवाओं से शादी करने के बारे में सोचता भी होगा तो वे बाल विधवाओं को ही प्राथमिकता देते होंगे|

महिला–लेखन में विधवाओं की समस्याओं को किस तरह से देखा गया है ? क्या महिलाएं विधवा विवाह के लिए खुलकर सामने आई ? क्या लेखिकाओं ने भी विधवा द्वारा मजबूरन त्यागमय जीवन जीने की मज़बूरी का वैसा ही महिमामंडन किया जैसा कि पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने किया है ? समाज और परिवार में विधवाओं की क्या हैसियत थी? उन्हें किस तरह से कठोर संयम से रहने के लिए मजबूर किया जाता था? महिला–लेखन में समाज और परिवार का विधवाओं के प्रति निर्दयता और क्रूरता दिखाया गया है| विधवाओं की इच्छाओं और आकंक्षाओं को महसूस करने की बात तो अलग है उनके साथ तो इंसानी सलूक भी नहीं किया जाता था| उन्हें बुनियादी जरूरतों का उपयोग करने की भी छुट नहीं थी| विधवा जीवन का जो कठोर संयम है उसे पुरुष लखकों ने त्याग और बलिदान के रूप में महिमामंडन किया है, लेकिन महिला-लेखन में विधवा जीवन की कठोर संयम और उनके ऊपर तरह-तरह के लगाये गए पाबंदियों को दिखाने का प्रयास किया गया| लेखिकाओं

ने विधवाओं की दयनीयता को त्याग और बलिदान के रूप में नहीं बल्कि को समाज द्वारा जबरन थोपी गयी क्रूरता और ज्यादती के रूप में दिखाया है|

विधवाओं पर जिस तरह से कठोर प्रतिबन्ध लगाया गया है, उसे इस दौर की लखिकाओं ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है| सुभद्राकुमारी चौहान (दृष्टिकोण, असमंजस), शिवरानी देवी (नर्स, सुखिया), महादेवी वर्मा, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा इत्यादि लेखिकाओं ने विधवा जीवन की त्रासदी, कठोर संयम और उन पर लगी तरह–तरह की पाबंदियों को सामने लाने का प्रयास किया है| सुधार के नाम पर उनके साथ किस तरह का शोषण किया जाता है; उनके उद्धार के लिए आगे आया पुरुष किस तरह से अपनी ही स्वार्थपूर्ति करता है, महिला लेखन में इसका पर्दाफाश करने की कोशिश की गयी है |

'भाभी' (अतीत के चलचित्र) में महादेवी वर्मा ने विधवाओं के ऊपर किस तरह से कड़ी निगरानी रखी जाती है इसका बहुत ही वास्तविक और कारुणिक चित्र खींचा है| कुलीन घर की विधवाओं को किस तरह से घर की चारदीवारी में कैद करके रखा जाता था| एक मासूम बाल विधवा को भी किस तरह से झरोखे से झाँकने पर भी पाबंदी थी जबकि उसे विधवा होने का भी मतलब नहीं पता है –

"इसकी निर्लज्जता देखो– ससुर दुकान में गए नहीं कि पर्दे से लगी नहीं!" जिस घर में विधवाओं को रखा जाता था वो घर भी कैसा था| महादेवी वर्मा इसका वरण करते हुए कहती है कि – "न एक भी झरोखा था न रोशनदान, न एक भी नौकर दिखाई देता था, न अतिथि और न कोई पशु रहता था, न पक्षी ...उस समाधि जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी साथी, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के, मानो निरंतर वृद्धा होने की साधना में लीन थी|"[134]

[134] निर्मला जैन (संपादक) महादेवी साहित्य, खंड तीन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979, पृष्ठ 26

यही नहीं विधवाओं के खानपान पर भी किस तरह की पाबंदियां थी और उसे किस तरह से हमेशा शक की निगाह से देखा जाता था, इसका वर्णन करते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं कि- "वह तो विधवा ठहरी! दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिए पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के संयम-प्रधान जीवन से ऊबकर किसी विपरीत दिशा में जा रहा है|"

कितना तनाव पूर्ण जिन्दगी विधवाओं को जीना पड़ता था, इसे हिंदी क्षेत्र की लेखिकाओं ने बखूबी दिखाने का प्रयास किया हैं| जिनको विधवाओं का चारदीवारी में रहना, पाबंदियों में रहना किसी तपस्या से कम नहीं लगता वो विधवाओं की समस्या को कभी देख ही नहीं सकते थें, उनके दर्द को तकलीफ को महसूस करने की बात ही अलग है| शायद कोई अतिसंवेदनशील व्यक्ति ही उसे समझ सकता है| घर के बाहर झाँकने पर किस तरह उन्हें शारीरिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता था, इसे बुढ़ापे में भी चार-चार शादियां करने वाले, बीबी के होते हुए भी तथाकथित 'रखैल' रखने वाले कभी भी नहीं समझ सकते है| महादेवी वर्मा लिखती हैं कि –

"दुकान की ओर जाने का निषेध होने के कारण वह अवकाश का समय उसी टाट के परदे के पास बिता देती थी, जहाँ से कुछ मकानों के पिछवाड़े और एक -दो आते -जाते व्यक्ति ही दिख सकते थे; परन्तु इतना ही उसकी चंचलता का ढिंढोरा पीटने के लिए पर्याप्त था|"[135]

विधवाओं के उद्धार के नाम पर किस तरह से पुरुष अपना स्वार्थसिद्ध करते थे, महादेवी वर्मा ने अपनी रचना 'बिट्टो' में इस मानसिकता का खुलासा किया है –

"वृद्ध जीवन के कम से कम 54 वसंत और पतझड़ देख चुके होंगे–दो अर्धांगिनियाँ मानो उनके जीवन की द्रुत गति से पग न मिला सकने के कारण ही उसका संग छोड़ गई हैं | उनसे मिले

[135] निर्मला जैन (संपादित) महादेवी साहित्य, (भाभी) खंड तीन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979, पृष्ठ 26

उपहार स्वरूप दो पुत्रों में से एक कलकते में कोई व्यवसाय करता है और.. इस बार उन्होंने एक पैतीस वर्ष की बाल विधवा का उद्धार किया है |"[136]

जो पुरुष विधवाओं का उद्धार कर रहे थे, वास्तव में उनकी हकीकत कुछ और ही थी| शायद इसी कारण लेखिकाएं विधवा विवाह का समर्थन खुलकर नहीं कर पायी| जो लोग अपने घर की विधवाओं का विवाह भी कराना चाहते थे उनके लिए मुश्किल यह था कि कोई ढंग का लड़का विवाह के लिए तैयार ही नहीं होता था या कोई परिवार विधवा से अपने लड़के की शादी के लिए राजी ही नहीं होता था| कोई आसानी से या अच्छा लड़का विधवाओं के साथ विवाह के लिए क्यों तैयार होता जब उन्हें बड़ी आसानी से कुंवारी और कम उम्र लड़कियां दहेज के साथ मिल जाती| पुरुषों की स्वार्थपरता और उनकी मानसिकता तथा इस तरह के उद्धारकों पर व्यंग करते हुए महादेवी वर्मा लिखती हैं कि –

"जिस समाज में 64 वर्ष का व्यक्ति 14 वर्ष की पत्नी चाहता है, वहाँ 32 वर्ष की बिट्टो के पुनर्विवाह की समस्या सुलझा लेना टेढ़ी खीर थी| उसके भाग्य से ही 150 वर्ष की पूर्णांक वाला कोई पुरुष न मिला और उसके जन्म-जन्मान्तर के अखंड पुण्य-फल से 54 वर्ष के बाबा ने उसके उद्धार का बीड़ा उठाया|"[137]

विधवाओं के उद्धार की हकीकत क्या थी? महादेवी वर्मा या इस दौर की और लेखिकाएं अनजान नहीं थी| विधवाओं के दु:ख और पुरुषों की स्वार्थपरता ने महादेवी वर्मा की भाषा को अत्यधिक करुणा मिश्रित व्यंग में परिणत कर दिया है | विधवाओं के साथ किस हद तक अमानवीय व्यवहार किया जाता था, इसे पुरुष समाज सुधारक समझ ही नहीं पायें या समझ कर भी अनजान बने रहे| इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा लिखती हैं कि–

[136] वही, (बिट्टो) पृष्ठ 38-39

[137]निर्मला जैन (संपादक) महादेवी साहित्य, (बिट्टो) खंड तीन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979, पृष्ठ 40

"हमारे यहाँ के पुरुष उसे ठीक रूप में किस अंश तक समझ सकेगा, यह कहना कठिन है| पुरुष बेचारे की उग्र तपस्या और अखंड साधना स्त्री के द्वारा प्राय: भंग होती रही है, इसी से उसने इस मायावी जाति के स्वभाव की व्याख्या करने क लिए पोथे रच डाले हैं|"[138]

विधवाओं के उद्धारक वृद्ध परोपकारियों पर व्यंग करते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं कि –

"बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा को ह्रदय के किसी निभृत कोने में छिपाए हुए है और उसके उद्धार के लिए निरंतर कटिबद्ध वृद्ध परोपकारियों की पुण्यभूमि में और विशेषकर इस जाग्रत युग में कमी नहीं हो सकती |"[139]

विधवा विवाह का इससे बड़ा उपहास और उद्धारकों की उद्धार की हकीकत का इससे बड़ा सवालियाँ निशान और क्या लगाया जा सकता है?

औपनिवेशिक काल में वेश्योद्धार भी स्त्री-प्रश्न का एक महत्वपूर्ण मुद्दा था| वेश्या उद्धार की स्थिति वही थी जो विधावाओं की| दोनों की स्थिति में किसी भी तरह का मूलभूत परिवर्तन देखने को नहीं मिलता और न ही हिंदी क्षेत्र में ऐसा कोई समाज सुधारक या साहित्यकार देखने को मिलता है जिसने वेश्याओं के बारे में गंभीरता पूर्वक सोचा हो| हिंदी की पहली स्त्री पत्रिका मानी जाने वाली बालाबोधिनी में भी वेश्योद्धार से सम्बंधित कुछ नहीं लिखा गया है| प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'सेवासदन' में वेश्या विषय को उठाया जरूर है, लेकिन वेश्याओं के लिए कोई खास समाधान उसमें देखने को नहीं मिलता| जिस तरह से विधवाओं की समस्या का समाधान सेवा आश्रमों में देखा जा रहा था उसी तरह वेश्याओं की समस्या का समाधान आश्रम में ही खोजा रहा था| इसके अलावा समाज में इनके लिए कोई जगह नहीं थी| सेवासदन की सुमन अपना उद्धार वेश्याओं की बेटियों के सेवा के माध्यम से करती है | यहाँ तक कि वेश्याओं की बेटियों को भी कोई अपनाने के लिए तैयार नहीं था|

[138] वही, पृष्ठ 41

[139] वही, पृष्ठ 41

अगर कोई वेश्या की बेटी के साथ समाज की परवाह किये बिना शादी करता भी है तो यह निश्चय है कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा| सुभद्राकुमारी चौहान की कहानी . 'वेश्या की लड़की' एक ऐसी ही लड़की की कहानी है जिससे सभ्य समाज का एक लड़का प्रेम विवाह करता है| लड़की भी खुद को पूरी तरह से हिन्दू नारी के आदर्श के अनुसार ढाल लेती है, लेकिन समाज की नजरों में वो आज भी वेश्या की बेटी है जिसके चरित्र पर विश्वास नहीं किया जा सकता है | नायक भी अंतत: कुसुम के चरित्र को लेकर अविश्वासी हो जाता है और कुसुम अंतत: आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाती है| जिस तरह से विधवाओं के उद्धार करने की कोशिश खोखली साबित होती है उसी तरह वेश्याओं और उनकी बेटियों की उद्धार की कोशिश खोखली साबित होती है| महादेवी वर्मा वेश्योद्धार पर व्यंग करते हुए कहती हैं कि –

"वह पतित कहे जाने वाली माँ की पुत्री है और बिना समाज के प्रवेश पत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मंदिर में प्रवेश करना चाहती है| उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है, जिसे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है, केवल वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है | जिसे समाज ने एक बार कुलबधू की पंक्ति से बाहर कर दिया, उसे जन्म-जन्मान्तर तक अपनी सभी भावी पीढियों के साथ बाहर खड़े रहने को ही जीवन का सबसे बड़ा वरदान समझना चाहिए |"[140]

पुरुष समाज सुधारक विधवाओं और वेश्याओं के लिए आश्रम खोलने के पक्ष में तो था लेकिन जैसे ही कोई वेश्याओं की बेटियों के साथ शादी करके उसे मान मर्यादा की जिंदगी देना चाहता है, समाज उसे दूध की मक्खी की तरह बाहर निकल कर फेंक देता है | उसके साथ सम्मान पूर्वक रहने की बात तो अलग है, समाज उनके साथ इंसानियत का भी व्यवहार नहीं करता है| समाज सुधारक स्त्री उद्धार की जिस मुहीम को चला रहे थे, हिंदी की लेखिकाओं ने स्त्री उद्धार की हकीकत को अपनी रचनाओं के जरिये दिखाने का प्रयास किया है | लेखिकाएं समाज सुधारकों की तरह स्त्रियों की उद्धार का दावा नहीं कर रही थी, बल्कि

[140] निर्मला जैन (संपादक) महादेवी साहित्य, (सबला) खंड तीन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979, पृष्ठ 54

स्त्री उद्धार की सचाई का बयान दे रही थी| महादेवी वर्मा वेश्याओं की बेटियों के प्रति भी समाज किस तरह से कठोर है, उसे व्यक्त करते हुए कहती हैं कि –

"यह अपने विद्रोही पति के साथ सती ही क्यों न हो जावें, परन्तु इसके रक्त के अणु- अणु में व्यक्त मलिन संस्कार कैसे धुल सकेगा? स्वेच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शुद्र की तपस्या के समान ही बेचारे समाज की वर्ण-व्यवस्था का नाश कर रही है, जिसका मस्तक काटने के लिए स्वयं मर्यादा पुरुषोतम दौड़ पड़े थे|"[141]

समाज की इस क्रूरता और झूठे आभिजात्य के गर्व पर महादेवी वर्मा यह सवाल करती हैं कि-

"क्या तुझे आज भी समाज द्वारा मिले भलाई-बुराई के प्रमाण–पत्रों पर आभिजात्य का गर्व है|"[142]

विधवाओं और वेश्याओं के साथ प्यार और मोहब्बत के तो दावे किये जा सकते हैं, लेकिन उनके साथ घर नहीं बसाया जा सकता; उनके साथ समाज के सामने नहीं आया जा सकता था, प्यार चाहे सच्चा हो या दिखावा| वेश्याओं और विधवाओ को पत्नी का दर्जा देने की हिम्मत और समाज के सामने उसे स्वीकार करने का नैतिक बोध किसी में भी नहीं था| 'वो तीन दिन' (चंद्रवती जैन) और 'हृदय का कांटा' (तेजरानी पाठक) इसी तरह की रचना है | सुधार आन्दोलन के दौर में वेश्याएँ भी प्यार पाने और पत्नी बनने का ख्वाब देखने लगी थी| उन्हें लगता था कि जो पुरुष उनसे प्यार और मोहब्बत की बड़ी-बड़ी बातें करता है, उन्हें अपनी पत्नी बनाने का दावा करता है वो हकीकत में वैसा ही होगा| वो नहीं जानती हैं कि वेश्याओं से प्यार का दावा तो किया जा सकता है लेकिन उन्हें कुलबधू के रूप में कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता| प्यार की इसी फैंटेसी की शिकार 'वो तीन दिन' कहानी की वेश्या चंचल भी हो जाती है| चंचल समाज के उस सबसे निचले पायदान से आती है जो शादी

[141] वही, पृष्ठ 55

[142] वही, पृष्ठ 55.

विवाह और महफ़िलों में नाच गा कर तथा अपना शरीर बेचकर जीवन निर्वाह करती है | लेकिन इसे भी सुन्दर सिंह नाम के एक नवजवान से प्रेम हो जाता है और तब से वो –

"अब भी शादियों में जाती थी, गाती थी और रूपये कमाती थी, पर उस के घर पर सुन्दरसिंह का अधिकार था| वहाँ से भौरों की भीड़ अब भगा दी गयी थी|"[143]

सुन्दरसिंह के प्यार में चंचल खुद को पूरी तरह से बदल लेती है| वह सुन्दरसिंह के साथ घर बसाने के लिए भी सोचने लगती है | सुन्दर सिंह चंचल से यह वादा करके कि-

"वह नये शहर में जाते ही एक मकान ठीक करेगा और चंचल को ले जायेगा| वह अब उसके बिना नहीं रह सकता, नहीं जी सकता | कुल तीन दिन की तो बात है"[144]

यह कहकर चला जाता है, लेकिन तीन दिन बीत गए पर सुन्दर न आया,उसे आना ही न था| उसके बावजूद भी उसे यह विश्वास था कि वह जरूर आएगा और वो उसके इंतजार में उन्माद की स्थिति में चली जाती है| वो आज भी उसका इंतजार करती है, लेकिन उसके वो तीन दिन कभी नहीं आये|' वेश्याओं से प्रेम का ढोंग करने और उनके साथ जिन्दगी बिताने का वादा करने वालो की यही सचाई थी|

3.2.2 महिलाओं की समस्या और समाज सुधारकों की हकीकत :

सार्वजनिक क्षेत्र में काम करती हुई महिलाओं के प्रति पुरुषों का नजरिया बहुत ही संकुचित था| यहाँ तक की खुद को समाज सुधारक कहने वाले पुरुष भी महिलाओं के प्रति संकुचित नजरिया रखते थें| 'धवल छत्र की छाया में' (चंद्रवती) पुरुषों की इसी मानसिकता का पर्दाफाश करती हुई रचना है| लेखिका ने बड़े ही व्यंग पूर्ण ढंग से पुरुषों की महिलाओं के घूरने की मानसिकता पर कटाक्ष करते हुए लिखा हैं कि –

[143] चंद्रवती ऋषभ सैन जैन, नींव की ईट,जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर, यू. पी., 1942 पृष्ठ 92
[144] वही, पृष्ठ 94

"इंग्लैण्ड की स्त्रियां चाहे नाजियों के बम्बार्डमेंट से बच जायें और टपाटप ओलों की वृष्टि में खड़े पके खेतों के बचाव का भी चाहे कोई वैज्ञानिक प्रबंध कर दे, पर हिंदुस्तान की स्त्रियां पुरुषों के घूर से नहीं बच सकती! कम से कम अभी तो बहुत दिनों तक|"[145]

यह तो रही सामान्य पुरुषों की मानसिकता की बात, लेकिन खुद को समाज सुधारक बताने वाले सभ्य समाज में प्रतिष्ठित पुरुष भी अपनी ओछी मानसिकता को नियंत्रित नहीं कर पातें थें| यही नहीं उस दौर में शिक्षित और सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं के प्रति पुरुषों का नजरिया काफी संकीर्ण था| उन्हें यह लगता था कि सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाली; पुरुषों के साथ खुलकर बात करने वाली महिलाएं चारित्रिक रूप से दृढ़ नहीं होती हैं| अत: इस तरह की स्त्रियों के साथ पुरुष अपना दिल आसानी से बहला सकता है| इस कहानी में लेखिका एक समाज सुधारक के साथ काम करती है, लेकिन समाज सुधारक महोदय बिना किसी काम के भी लेखिका के घर में आया जाया करते थे| एक दिन कथावाचिका का महोदय जी द्वारा छोड़ी हुई एक चिठ्ठी मिलती है जिसमें कुछ इस तरह लिखा हुआ है, जिससे सुधारक महोदय की स्त्रियों के प्रति संकीर्ण मानसिकता का पता चलता है- "रानी! मैं बूढा हूँ पर मेरे भीतर जवानी का दिल है| तुम मेरे बुढ़ापे को देखकर मेरा अदब करती हो, पर मैं चाहता हूँ कि मेरा दिल देखकर एक बार मुझे प्यार कर लो|

मैं देखता हूँ, रोज तुम अपने जवान देवरों के साथ चुहल करती हो, पर मेरा अनुभव है कि जवान के दिल में हजार उम्मीदें, हजार रंग होते हैं| उस का प्यार दुनिया में हजार जगह बटा रहता है, पर मेरा प्यार तो केवल तुम्हारे ही चरणों में न्योछावर है|

जवान आदमी को रिझाने के लिए, रिझा कर बस में रखने के लिए, हजार तरकीबें करनी पड़ती है, पर मेरे लिए तो तुम्हारी एक चितवन ही काफी है| उसी में मैं सारी उम्र बंधा रहूँगा रानी !"[146]

---

[145] वही, पृष्ठ 143

[146] चंद्रवती ऋषभ सैन जैन, नींव की ईट, जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर, यू. पी., 1942, पृष्ठ 149-150

जो लोग दूसरे घर की स्त्रियों को इज्जत और सम्मान के साथ रखने और उस पर सख्ती न करने की सलाह और मशविरा दिया करते हैं, उन पुरुषों और प्रतिष्ठित समाज सुधारकों का अपने घर की स्त्रियों के प्रति कैसा सलूक और रवैया होता है, इसका पर्दाफाश चंद्रवती जैन ने अपनी कहानी 'जंगू की बात' में रेखांकित किया है| जंगू कथा लेखिका के घर में नौकर का काम करता है| वह अपनी पत्नी को आये दिन मारता-पिटता रहता है इससे तंग आकर कथावाचिका उसे समझाती है कि अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें नौकरी से बाहर कर दूंगी| लेखिका के ही पड़ोस में मि. अरोड़ा रहते हैं| इनकी खासियत बताते हुए लेखिका कुछ इस तरह से लिखती हैं–

"उदार हैं, दानी हैं, एक फैक्टरी के मैनेजर हैं, सुधारक हैं और साल में कही न कही सभापति होते ही रहते हैं|"[147]

जंगू की इस हरकत पर उसे नसीहत देते हुए कहते हैं कि–

"बदमाश, तेरे बाप को वह दुखी करती है तो प्यार से समझा| वह कोई गाय भैस है कि जब चाहा, धमका दी! यह हिंदुस्तान है, और कोई मुल्क होता तो तुझे जेल भिजवा देती और तब तुझे आटे दाल के भाव का पता चलता !"[148]

दूसरे को नसीहत देने वाले और स्त्री के उद्धार करने की बात करने वाले मि. अरोड़ा खुद अपनाई पत्नी के साथ कैसा व्यवहार करते थे? एक दिन जब मि. अरोड़ा की पत्नी बैगन की सब्जी उन्हें खाने के लिए देती है तो मि. अरोड़ा का स्त्रियों के प्रति कैसा व्यवहार है इसका पता चल जाता है-

"खाना खाने बैठे तो हाथ के एक झटके में थाल दूर फेंक दिया और चिल्ला कर बोले- "जब मैं बैंगन नही खाता तो ये क्यों बनाये गए हैं?"

---

[147] वही, पृष्ठ,163

[148] वही, पृष्ठ 163

थाल में चार चीजे थीं, जो आप को रुचती वो खा लेते !"[149]

उनकी पत्नी का इतना कहना ही था कि-

"मि. अरोड़ा का टैम्परेचर १०६ हो गया और चुप्प! मिसेज अरोड़ा के गाल पर पूरे हाथ का एक धप्प पड़ा और पांचों अंगुलियाँ उपड़ आईं!"[150]

१९वीं शताब्दी के दौरान स्त्रियों की समस्याओं पर सबसे पहले पुरुषों ने ही आवाज उठाई| पुरुष स्त्री उद्धारक के रूप में हमारे सामने आता है, लेकिन यह भी सचाई है कि पुरुष भले ही बाहर की दुनिया में एक उदारमना समाज सुधारक, स्त्रियों का उद्धारक और उसके प्रति सहानुभूति रखने वाला ही क्यों ना हो; स्त्रियों की मुक्ति के लिए मंचों पर चढ़कर बड़ी-बड़ी बातें और भाषण क्यों न देता हो, लेकिन अभी भी वो स्त्री-पुरुष की भिन्नता से बाहर नहीं निकला है| अपने घर की महिलाओं के प्रति अभी भी उसके मन में समानता की भावना नहीं आई है| उस पर अपना प्रभुत्व ज़माने की प्रवृति वैसी ही बनी हुई है| स्त्री के प्रति कमतरी और अवहेलना आज भी उसके मन में बरक़रार है | स्त्री को आज भी पुरुष की आक्रामकता का सामना करना पड़ता है| एक ओर गरीब और दूसरों के घरों में काम करने वाला जंगू अपनी पत्नी की अक्सर पिटाई करता रहता है, तो दूसरी तरफ जंगू की आलोचना करने वाले समाज सुधारक मि. अरोड़ा भी अपनी पत्नी के प्रति आक्रामक और अवहेलनात्मक दृष्टि रखते हैं | अपनी पत्नी पर मात्र इसलिए हाथ उठाते है, क्योंकि उसने उनके खाने की थाली में बैगन भी रखा दिया है , जिसे वो पसंद नहीं करते |

लेखिका ने जहाँ एक ओर गरीब घरों की स्त्रियों की दशा को स्पष्ट किया है, तो दूसरी तरफ अनपढ़ गरीब जंगू और पढ़े-लिखे समाज सुधारक मि. अरोड़ा के माध्यम से पुरुषों की मानसिकता को भी उजागर किया है | जाहिर है कि पुरुष चाहे गरीब हो या अमीर यहाँ तक कि प्रतिष्ठित समाज सुधारक ही क्यों न हो, हर स्थिति में वो स्त्रियों के प्रति आक्रामक और वर्चस्वशाली वर्ग के रूप में ही सामने आता है| फर्क यह पड़ता है कि जहाँ जंगू जैसे गरीब

[149] वही, पृष्ठ 163

[150] वही, पृष्ठ 163

की आक्रामकता अपने क्रूरतम रूप में समाज के सामने आता है, तो मि. अरोड़ा जैसे समाज सुधारकों की स्त्रियों के प्रति क्रूरता घर की चारदीवारी के अन्दर सिमट कर रह जाती है | इस तरह के लोग दोहरी मानसिकता रखते हैं जो और भी खतरनाक है, क्योंकि जो सुधारक रक्षा करने की भूमिका में खुद को बनाये हुए है, वही स्त्रियों के भक्षक भी बने हुए हैं| साथ ही समाज में प्रतिष्ठित भी बने रहते हैं|

3.3 कुलीन और इज्जतदार घर की बहुएं तथा मृतस्त्रीक विवाह :

महिला-लेखन में स्त्रियों से जुड़ी, जिस एक और समस्या को गंभीरता से उठाया जा रहा था, उसमें कुलीन और इज्जतदार घर की बहुओं पर हो रही ज्यादती प्रमुख थी, जिसे पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने शायद ही गंभीरता से लिया हो| कुलीनता के नाम पर स्त्रियों पर हो रही ज्यादती का सम्बन्ध पुरुषों में प्रचलित बहुविवाह करने की प्रथा भी जिम्मेदार है| मृतस्त्रीक विवाह के प्रचलन के कारण ही स्त्रियों पर खास तवज्जों नहीं दी जाती है जिसके कारण वो असमय मृत्यु की शिकार होती है| कुलीन और इज्जतदार घरों की महिलाओं को घर की चारदीवारी में कैद होकर रहना पड़ता है| दूसरी तरफ पुरुष उसके स्वास्थ्य के प्रति इतना लापरवाही बरती जाती है कि वह अपनी पत्नी की तरफ ध्यान भी नही देता है |लेखिकाओं ने इसका कारण पुरुषों द्वारा कई शादियां कर लेना बताया है | एक पत्नी के मर जाने के बाद पुरुष दूसरी, तीसरी या चौथी; कितनी ही शादियाँ कर सकता है| इस वजह से वो अपनी पत्नी की कद्र नहीं करता|

शिवरानी देवी की कहानी 'हत्या' सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानी 'ग्रामीणा', 'बड़े घर की बात' महादेवी वर्मा का संस्मरण 'भाभी', सत्यवती मालिक की कहानी 'श्यामा' और तेजरानी पाठक की कहानी 'अपना घर' इत्यादि रचनाएं कुलीनता के नाम पर घर की चारदीवारी में कैद स्त्रियों की लाचारी और बेबसी की कहानी है, जिसमें घुट-घुट कर मर जाना ही इनकी नियति है| यहाँ तक कि घर की एकरसता, नीरसता और तमाम तरह के पाबंदियों से तंग आकर ये स्त्री पात्र आत्महत्या भी कर लेती हैं|

ऐसा नहीं था कि यह समस्या किसी एकाध लोगों के साथ ही घटित हुई हो, मृतस्त्रीक विवाह की अपनी एक परम्परा थी| इस पर व्यंग करते हुए शिवरानी देवी कहती हैं कि –

"ऐसा कोई मर्द नही हुआ, जिसकी शादी तीन शादियों से कम हुई हो| रुद्रनाथ की पिता की चार शादी हुई| रुद्रनाथ तीन भाई थे, तीनों की ही तीन- तीन शादियां हुई| रुद्रनाथ के दोनों जवान लकड़ों की भी दो-दो शादियां हो चुकी है...मुहल्ले के अन्य घरो में भी यही हाल है| इसीलिए इसे साधारण व्यवस्था समझना चाहिए|"[151]

लेखिकाओं ने पत्नियों पर ध्यान ने देने के कारणों में मृतस्त्रीक विवाह को भी जिम्मेदार ठहराया| बहुविवाह के प्रचलन से स्त्रियों के स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया जाता था, जिसकी वजह से उन्हें अनेक शारीरिक और मानसिक कष्टों के साथ बहुत तकलीफ देह स्थिति में जीना पड़ता था| यहाँ तक कि उन्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था| यह समस्या तब और बढ़ जाती है जब आप कुलीन और इज्जतदार घर की बहुएं है| 'हत्या' कहानी की गुलाबो को पड़ोसी से बात करने, हंसने–बोलने की तनिक भी आजादी नहीं थी| कारण कुलीन घर की बहुओं को यह शोभा नहीं देता, उन्हें तो घर की चारदीवारी में ही रहना चाहिए| अगर वो इसका प्रतिकार भी करती है तो उन्हें कुलटा, कुलंक्षनी, बेहया इत्यादि अपमानजनक शब्दों से अपमानित और जलील किया जाता है| गुलाबो जितना ही इसका प्रतिवाद करती, उतना ही उस पर प्रतिबन्ध कड़ा कर दिया जाता है| यहाँ तक कि एक दिन उसे इतना पीटा जाता है कि वो अपना सारा साहस ही खो बैठती है| कुलीन घर कि बहुओं को खिड़की से बाहर झाँकना किसी बड़े अपराध से कम नहीं था| गुलाबो जब खुली हवा में सास लेने के लिए थोड़ी देर खिड़की से बाहर झांकती है तो उसे पकड़ लिया जाता है –

"अब किया था इतना भयंकर अपराध! कुलीन घर की बहु और खिड़की के पास खड़ी ..तुम हमारी नाक कटवा कर ही दम लोगी? तुम इतनी बेशर्म हो गई हो कि सारे मोहल्ले से आँखे

[151] शिवरानी देवी (हत्या), कौमुदी, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण, 1937 पृष्ठ 201

लड़ाती फिरती हो' गुलाबो द्वारा प्रतिवाद करने की देर थी कि–"उसने पांव से जूता निकाला औए गुलाब के पीठ पर तड़ातड़ चार पांच जूते जमा दिये|"[152]

नतीजन गुलाब के व्यवहार में एक तरह की तटस्थता आ जाती है| अब वह किसी तरह का प्रतिवाद भी नहीं करती| गर्भवती होने के कारण और रात-दिन कोठरी में बैठ–बैठे उसे संग्रहणी हो गया है| उसकी तबियत दिन प्रतिदिन ख़राब होती जाती है| इस तरह एक दिन एक बेटे को जन्म देकर इलाज के अभाव में वह अपना दम तोड़ देती है| उसके बेमौत मर जाने का किसी को गम नहीं है; सभी इसलिए खुश है, क्योंकि उसने एक पुरुष बच्चा को जन्म दिया है- "दीदी अब क्यों रोती हो, सलामत रहे बेटा, फिर बहु आ जावेगी!"[153]

3.4 लेखिकाओं की नजर में मातृत्व के मायने :

लेखिकाओं के लिए मातृत्व का मायने क्या था? जिस तरह से पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों के लिए मातृत्व का मतलब वैध तरीके से माँ बनी महिलाएं ही मातृत्व के उच्च गौरव को पा सकती है? क्या उसी तरह से स्त्री–लेखन में भी वैध तरीके से माँ बनी महिलाओं के लिए ही सम्मानपूर्वक स्थान था? औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्त्रैण भूमिकाओं में मातृत्व की रूढ़ छवि सबसे महत्वपूर्ण छवि थी| जिसको आधार बनाकर समाज सुधारक स्त्रियों पर नियंत्रण रखने की कोशिश कर रहे थे| समाज सुधारकों की नजर में मातृत्व, सभी कर्तव्यों से बड़ा और महान था|उनकी नजर में राष्ट्र की भावी संतान को जन्म देने और देश निर्माण को ध्यान में रखकर उनकी अच्छी तरह से परवरिश करने का दायित्वपूर्ण कार्य एक माँ ही कर सकती थी| माँ द्वारा बच्चों की परवरिश का मसला समाज सुधार आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न था| इस आधार पर महिलाओं को बच्चों की देखभाल जिम्मेदारी पूर्वक निभाने की नैतिक सीख दी जाती थी|

---

[152] वही, पृष्ठ 203

[153] वही, पृष्ठ 209

पुरुष समाज सुधारकों की नजर में मातृत्व को तभी तक गरिमामय माना जा सकता है, जब स्त्रियां वैध तरीके से माँ बनती हो| इसके अलावा अगर वो अवैध तरीके से माँ बनती हैं, तो उसे समाज के लिए कलंक और उसके चरित्र पर सबसे बड़ा सवालिया निशान था| उसे घर-परिवार और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है | उस पुरुष पर सवाल नहीं किया जाता, जो समान रूप से इस में भागीदार होता है| किन्हीं मामलों में तो पुरुष ही इसका जिम्मेदार होता है, लेकिन समाज उसे बहिष्कृत नहीं करता |

महिला लेखिकाओं के लिए सिर्फ वैध तरीके से माँ बनी महिलाओं के लिए ही मातृत्व का पद सम्मानजनक नहीं था, बल्कि स्त्रियां किसी भी वजह से माँ क्यों न बन गयी हो; लेखिकाओं के लिए माँ की ममता का महत्व हर परिस्थिति में सम्मानजनक था| वो स्त्री हर परिस्थिति में सम्मान की हक़दार थी | महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरण 'दो फूल' में एक ऐसी माँ की कहानी सामने लाती है, जो समाज की नज़रों में अवैध तरीके से माँ बनी है | अब उसे समाज में सम्मानपूर्वक रहना है तो उसे अपने बच्चे को अपने से दूर रखना होगा | 'दो फूल' एक ऐसी बाल-विधवा की कहानी है, जो विधवा होते हुए भी माँ बन जाती है| उस बाल-विधवा लड़की के दादाजी, बदनामी के डर से उस बच्चे को अनाथालय में रखना चाहते हैं, लेकिन माँ अपने बच्चे को अपने पास ही रखना चाहती है और उसके दूर जाने के वियोग में उसकी हालत बहुत ही ख़राब हो गयी है|

महादेवी वर्मा का कहना हैं कि –

"अपने अकाल वैधव्य के लिए वो दोषी नहीं ठहराई जा सकती, उसे किसी ने धोखा दिया, उसका उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं रखा जा सकता; पर उसकी आत्मा का जो अंश, ह्रदय का जो खंड उसके सामने है, उसके जीवन- मरण के लिए केवल वही उत्तदायी है | कोई पुरुष यदि उसे अपनी पत्नी नहीं स्वीकार करता, तो केवल इसी मिथ्या के आधार पर वह अपने जीवन के इस सत्य को, अपने बालक को अस्वीकार कर देंगी? संसार में चाहे इसको कोई परिचयात्मक विशेषण न मिला हो, परन्तु अपने बालक के निकट तो यह गरिमामयी जननी

की संज्ञा ही पाती रहेगी? इसी कर्तव्य को अस्वीकार करने का यह प्रबंध कर रही है | किसलिए ?केवल इसलिए कि या तो उस वंचक समाज में फिर लौट कर गंगा-स्नान कर, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदिके द्वारा सती विधवा का स्वांग भरती हुई और भुलाने की सुविधा पा सके या किसी विधवा आश्रम में पशु के समान नीलाम पर चढ़ कर कभी नीची, कभी ऊँची बोली पर बिके अन्यथा एक–एक बूंद विष पीकर धीरे–धीरे प्राण दे"[154]

"यदि यह स्त्रियां अपने शिशु को गोद में लेकर साहस के साथ यह कह सकें कि 'बर्बरों, तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया; पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी, तो इसकी समस्याएं तुरंत सुलझ जावे|"[155]

जाहिर है कि महदेवी वर्मा के लिए मातृत्व वैध-अवैध और सही गलत से परे है| मातृत्व उनके लिए पुरुषों के वैध उत्तराधिकार का सवाल नहीं है, बल्कि एक माँ के लिए उसकी ममता का सवाल है, जो वैध–अवैध के दायरे में नहीं समा सकता है |

मातृत्व की अवधारणा को रेखांकित करती हुई कहानी है 'माता की ममता' इस कहानी में नायक न केवल सुधा के साथ विवाह करता है, बल्कि समाज के डर से खुद से दूर रख रही उसके बच्चे को भी उसके पास लाता है| इस कहानी में भी लेखिका के लिए मातृत्व का मतलब पाप पुण्य से परे है | इस कहानी का नायक भी मातृत्व के महत्त्व को वैध कारखाने में माँ बनी स्त्री के लिए सही या गलत नहीं मानता, बल्कि विपरीत परिस्थितियों में माँ बनी स्त्री के लिए भी मातृत्व और ममता का वही मायने होता है जो वैध तरीके से माँ बनी हुई स्त्री के लिए मायने रखता है –

"वह बच्चे को छाती से लगाये प्यार कर रही थी बार – बार ! मेरी ओर देख सुधा मुस्कराई – वह ममता की बात थी|"[156]

---

[154] निर्मला जैन (संपादित) महादेवी साहित्य, (दो फूल) खंड तीन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979, पृष्ठ, 44

[155] वही, पृष्ठ 45

3.5 व्यक्तिगत पहचान की छटपटाहट और स्त्री- :

19वीं शताब्दी में जिन समस्याओं पर विचार विमर्श किया जा रहा था, वह समस्याएं बीसवीं सदी में भी चर्चा का विषय रहा| इन समस्याओं के अलावा कुछ नई समस्याओं ने जन्म लेना शुरू कर दिया था| इसका सबसे बड़ा कारण था- स्त्रियों का शिक्षित होना| अभी तक स्त्रियों की प्राथमिकता घर-परिवार और समाज तक ही सीमित थी| स्त्रियां अभी भी अपनी ख़ुशी पति और बच्चों में ही तलाश रही थी| धीरे-धीरे बाहर की दुनिया के संपर्क में आने और शिक्षा से परिचित होने के बाद स्त्रियों की प्राथमिकता बदलने लगी थी| अब उनके भी मन में अपनी इच्छाओं को आवाज देने और अपनी पहचान को बनाने की चेतना और अभिलाषा जागृति होने लगी थी।

विवाह, स्त्री की जिंदगी की पहली और आखिरी प्राथमिकता थी, जिसे निभाना किसी भी हालात में अनिवार्य बना दिया गया था| स्त्रियाँ उससे बाहर निकलने की जद्दोजहद करने लगी थी| खासकर पढ़ी-लिखी आधुनिक विचारों से प्रभावित स्त्रियों को यह बात अब परेशान करने लगी थी कि क्या विवाह को बिना आपसी प्रेम के निभाया जा सकता है? वैवाहिक संबंधों की आंतरिक खोखलेपन पर भी स्त्रियों ने अब सोचना शुरु कर दिया था| तीस, चालीस और पचास के दशक की महिला-लेखन में इन तनावों और छटपटाहटों को देखा जा सकता है ।

अब स्त्रियों को यह प्रश्न बेचैन करने लगा था कि क्या विवाह के बाद पति के होते हुए भी दूसरे पुरुष से प्रेम किया जा सकता है? स्त्रियाँ अब इन तनावों से भी गुजर रही थी कि विवाह के शुरुआती दिनों में पति-पत्नी के बीच जो प्रेम रहता है, क्या वही प्रेम विवाह के कुछ सालों बाद भी बना रह सकता है | अगर पति-पत्नी के बीच प्रेम जैसी कोई चीज ही नहीं है, तो क्या विवाह को तोड़ा जा सकता है? यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो अब लेखिकाओं ने उठाना शुरू कर दिया था| अब समस्या सिर्फ बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह, पर्दा प्रथा,

---

[156] रामेश्वरी देवी, धूप-छाँव, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, पृष्ठ 115

बहु विवाह, अनमेल विवाह इत्यादि तक सीमित नहीं रह गयी थी| स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता को भी उठाया जा रहा था| वैवाहिक जीवन की उदासियों पर भी सवाल किए जा रहे थें।

वैवाहिक जीवन में जो भावनात्मक आत्मसंतुष्टि की भावना थी, उसके बीच दरारें पड़ने लगी थीं| इन दरारों को लेखिकाओं ने महसूस किया| क्या जिंदगी जीना इसी को कहते हैं ?क्या निर्द्वन्द्व रहकर भी जिंदगी को जिया जा सकता है? इन दोनो में टकराहट और तनाव की स्थिति पैदा हो चुकी थी| हृदय में शायद कोई कसक अभी भी बाकी थी|

इन सवालों से टकराने वाली लेखिका के रूप में सुमित्रा कुमारी सिन्हा की रचनाओं को लिया जा सकता है| उनकी कहानी 'विवाहिता' (अचल सुहाग १९३९) में उन सवालों को उठाया जा रहा था, जो अब आधुनिक शिक्षित स्त्री के लिए एक नई समस्या के रूप में जन्म ले चुका था| पति का साथ एक विवाहित स्त्री के लिए काफी माना जाता है और अगर पति उसकी सारी आवश्यकताएं आसानी से पूरा कर दे तो यह किसी भी स्त्री के सुखी जीवन के लिए काफी माना जाता है| 'विवाहिता' कहानी की नायिका के पास यह सब कुछ होने के बावजूद भी एक खालीपन है, जो उसे हमेशा परेशान किये रहता है| वह हमेशा उदिग्न रहा करती है | आखिर इस उदिग्नता की वजह क्या है? जबकि कल्पना को अपने पति का प्यार और यथासंभव भौतिक सुख सुविधाएं सभी प्राप्त हैं| 'दोनों एक दूसरे की मन की व्यथा को, पीड़ा को, उच्छ्वासों को,भावों-कल्पना और आकांक्षाओं के भीतर गहराई तक पैठ गए थे| एक दूसरे के जीवन के पृष्ठ, पंक्ति, अक्षर-अक्षर सामने खुल गए थे|'[157] लेकिन इन सब के बावजूद 'दोनों एक दूसरे से इतनी दूर थे जैसे आकाश और पृथ्वी|'[158]

कल्पना अपने जीवन के इस कसक को बहुत दबाने की कोशिश करती क्योंकि 'कल्पना भी विवाहित पतिदेव के सिंदूर की लाज रखने वाली हिंदू नारी थी|' विवाह के बाद उसे पराए पुरुष को, चाहे वह कितना ही निर्मल क्यों ना हो प्रेम करने का हक कहा? और जीवन भी था

[157] सुमित्राकुमारी सिन्हा, अचल सुहाग, युग मंदिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण 1939, पृष्ठ 176

[158] वही, पृष्ठ 179

पत्नी के सिंदूर की रक्षा करने वाला हिंदू पति| फिर दोनों का अनुचित प्रेम कैसा? विवेक हीन संपर्क कैसा? विवाहितों का यह अधिकार कैसा?'

कल्पना इस तरह की सोचकर ही कांप उठी और 'उसने मचलते हुए हृदय को बरबस दबाया| अपने उदिग्न मनोभावों को छाती में बरबस छिपाया| पति का प्रेम मिलने के बावजूद कल्पना एक रहस्यमयी विडंबना थी, अबूझ पहेली| पति के निश्चल प्रेम में डूबी अभागिनी मरुस्थल की चिलचिलाती सिक्ता राशि में तड़पती रहती| पति की सुख-सुहागभरी गोद में दुबकर भी ना जाने क्या बिसूरा करती| स्त्री का ध्येय क्या है? अपने हृदय का सारा प्यार, समस्त स्नेह अपने पति के अस्तित्व में घुलाकर मिला देना|"[159] लेकिन कल्पना अपने भीतर के खालीपन और अपने पति के प्रति परंपरागत कर्तव्यों के बीच पेंडुलम की तरह झूल रही है| वह सोचती है कि-

"ऐसे सुख-संपन्न घर में; सीधे, सादे, कृपालु, सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले पति के प्रति उसकी सारी प्रेरक शक्तियां क्यों नहीं केंद्रीभूत होती? हृदय का समस्त प्रेम क्यों नहीं उस ओर बहता? क्या जीवन में पति की उपासना करना पत्नी का ज्ञान नहीं, शिक्षा नहीं, धर्म नहीं, संस्कार नहीं? तो उसका मन एकाग्र क्यों नहीं? तन्मय क्यों नहीं? वह क्यों बिखर जाना चाहती है, विश्व के प्रत्येक तरुण करुण हृदय में"[160]

ये ऐसे सवाल थे, जो स्त्रियों को बेचैन कर रहे थे| नई समस्या जन्म ले रही थी| जिसके खिलाफ उन्हें स्वयं से ही लड़ना था| इन सारे परंपरागत संस्कारों, कर्तव्यों के साथ उन्हें स्वयं से ही जद्दोजहद करनी थी | अपने मन में हो रहे इन मानसिक उद्वेगों से, उथल-पुथल से उसे संघर्ष करना था| 'उन कर्तव्य और संस्कारों से विद्रोह कर मन जैसे चिड़िया-सा उड़ जाना चाहता था|' आख़िर उसका क्या करें? 'भावनाओं पर जो प्रतिबंध लगा हुआ था उसके प्रति व्यथा-आंदोलित कल्पना मर्माहत हो उठी| उसके हृदय में भावना जागी|'[161]

क्या पति के प्रेम और घरेलू सुख-सुविधाओं के इतर भी स्त्रियों के लिए कुछ चाहत रखने की गुंजाइश थी? यह कैसा खालीपन था? क्या खुद के पहचान की? क्या यह पीड़ा अपने

---

[159] वही, पृष्ठ 180

[160] सुमित्राकुमारी सिन्हा, अचल सुहाग, युग मंदिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण 1939, पृष्ठ, 180

[161] वही, पृष्ठ 182

व्यक्तित्व, अपने अस्तित्व के अधूरेपन की छटपटाहट की नहीं थी? जिस सुख-शांति और प्रेम के लिए अभी तक वह लड़ रही थी, उसे प्राप्त करने के बाद भी यह कैसी उद्विग्नता थी? क्या एक स्त्री के लिए इतना काफी है कि-

"वह सुख-सुहाग से भरी पूरी एक घर की स्वामिनी, पति की रानी है, उसकी गोद में चपल-क्रीड़ा कलरव से घर भर देने वाला नन्हा-सा शिशु है|"[162]

'क्या इसी को जीना कहते हैं| अगर यही जीवन है तो यह बेचैनी क्यों है? आखिर मन की प्रसुप्त कोमल भावनाएं, जाग्रत होकर मलय वायु की तरह क्यों तरंगित होना चाहने लगे– हृदय के सैकड़ों आवरण भेदकर |' शायद यह सब एक पत्नी और माँ के लिए काफी है, लेकिन एक व्यक्ति के लिए नहीं| व्यक्तित्व की पहचान ही कल्पना को भावनात्मक रूप से अशांत और उद्वेलित कर रही थी, लेकिन क्या इन परंपरागत संस्कारों और वैवाहिक जीवन से निर्द्वन्द्व रहकर यह अपने मन में आये विद्रोहों और हलचलों को शांत कर सकती हैं? अगर यह इन सब से मुक्त होकर रहना चाहे तो?

"तो वह उस दुनिया से बिलकुल हारी हुई कल्पना के रूप में अपनी उलझनों में पड़ी हुई दुर्बल नारी रह जाती है, एकाकी निर्जन पथ में|"[163]

ये दोनों ही स्थितियां उस पढ़ी-लिखी स्त्री के लिए असहाय हो उठी थी| फिर वो क्या करे ? अगर वो एक स्त्री, पत्नी, माँ की भूमिका में ही खुद को संतुष्ट रखने की कोशिश करती है, तो उसे अपने 'पहचान' की व्यथा बेचैन करती है और अगर वह अपनी 'पहचान' के लिए खड़ी होती है, तो खुद को एकाकी निर्जन पथ पर स्वयं को अकेली पाती है| उन दोनों ही परिस्थितियों से अब स्त्रियों को लड़ना था| आज की स्त्री भी शायद इसी लड़ाई को लड़ रही है| परिवार में अपनी जगह बनाने की लड़ाई और बाहर की दुनिया में खुद की पहचान बनाने का संघर्ष| उन दोनों ही मुहानों पर आधुनिक शिक्षित स्त्री खड़ी है| अगर एक को प्राप्त करने

---

[162] वही, पृष्ठ 182

[163] वही, पृष्ठ 184

के लिए यह बाहर पांव निकालती है, तो दूसरे से हाथ धोना पड़ेगा और दूसरे को छोड़ती है तो 'पहचान' की छटपटाहट सुकून से रहने नहीं देगा|

19वीं शताब्दी से ही स्त्री-शिक्षा की लड़ाई लड़ी जा रही थी| यह संघर्ष बीसवीं शताब्दी तक भी चलता रहा| समाज सुधारकों का मानना था कि स्त्रियों को शिक्षित किये बगैर देश, समाज और परिवार आगे नहीं बढ़ सकता| उनके लिए स्त्रियों की शिक्षा इसलिए जरूरी थी कि राष्ट्र की भावी संतान को सभ्य शिक्षित बनाया जा सके| खैर, स्त्रियों को भी अब शिक्षित किया जाने लगा| अब आधुनिक पढ़ी-लिखी स्त्री के सामने एक और समस्या आकार ग्रहण कर रहा था| वह समस्या क्या थी? सुमित्रा कुमारी सिन्हा के शब्दों में कहें तो वह समस्या थी- 'व्यक्तित्व की भूख'| जिसकी कमी को अब स्त्रियां महसूस करने लगी थी| व्यक्तित्व की पहचान का एहसास उन्हें बेचैन करने लगा था| अपनी कहानी 'व्यक्तित्व की भूख'(1939) में सुमित्रा कुमारी सिन्हा इसी उलझन की अभिव्यक्ति कर रही थी| अब तक विवाह, पुनर्विवाह की बातें हो रही थी, लेकिन अब विवाह की आवश्यकता पर ही सवाल उठाया जाने लगा था| इला मेट्रिक पास कर चुकी है| अब उसके माता-पिता को उसके विवाह की चिंता सताने लगी थी| इला सोचती है कि यह विवाह नाम की डरावनी बात उसके सामने बार-बार क्यों खड़ी की जाती है? आखिर इसे क्यों इतना महत्व दिया जाता है? अब विवाह को ही एक समस्या के रूप में देखा जा रहा था| लड़की का विवाह न होना, समस्या की बात थी, लेकिन शिक्षा ने उन्हें विवाह की अनिवार्यता पर सवाल खड़ा करना सिखा दिया था। वह विवाह की अनिवार्यता पर सोचने लगी थी| लड़कियों के व्यक्तित्व के लिए विवाह एक समस्या बन कर उभर रही थी| इला अपनी मां से पूछती है-

"मां क्या विवाह करना जरूरी है? जवाब उसे वही मिला जो हर लड़की को सुनना पड़ता है| विवाह ना करेगी तो करेगी क्या|"[164]

इला के लिए विवाह -

[164] सुमित्राकुमारी सिन्हा, अचल सुहाग, युग मंदिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण 1939, पृष्ठ, 186

'दासत्व का सुख, बेबसी की शक्ति और बंदी का संतोष था| लेकिन बंदी का संतोष अपना कर भी तो एक स्वर्ग होगा, जिसमें पैरों में बेड़ी भी पड़ेगी तो सोने की| दासत्व में भी एक अपनापन, एक अधिकार की भावना होगी|'[165]

लड़कियां विवाह की अनिवार्यता पर सवाल तो उठा रही थी, लेकिन उनके सामने कोई विकल्प नहीं था| इंकार करने का साहस नहीं था| इला की शादी हो जाती है| इला का पति 'सहज-सरल, निश्चल तथा त्यागी था, लेकिन शिक्षिता इला को सांत्वना क्यों नहीं? संतोष क्यों नहीं? एक अभाव की टीस क्यों? अपने सामने वह केवल अनाकर्षक जीवन ही क्यों देखती है? वह क्यों अनुभव करती है कि दुनिया इतनी भी सुख की जगह नहीं, जितना मनुष्य सोचता है|'[166]

अब पढ़ी-लिखी स्त्री घर-परिवार के आगे भी किसी और दुनिया की तलाश में निकलना चाहती है| पहले अनपढ़ स्त्री के सामने यह समस्या थी की उसे शिक्षित किया जाये| पढ़े-लिखे उच्चमध्यवर्गीय पुरुषों को अशिक्षत पत्नी के साथ निर्वाह करने की समस्या आ रही थी| अब पढ़ी-लिखी स्त्री के सामने अपनी पहचान की समस्या आने लगी थी| वैवाहिक जीवन अब एकमात्र स्त्री की पहचान नहीं रह गया था| इला परंपरागत वैवाहिक जीवन सुखपूर्वक बिता रही थी, फिर भी उसके मन में यह बेचैनी है कि-

"पति के सदव्यवहारों में डूबकर भी उसके हृदय के अंदर में प्रेम की लहर की सृष्टि क्यों नहीं होती? पति के विरुद्ध कोई शिकायत न होते हुए भी मानव शरीर में देवता मानते हुए भी उसकी मनोवृत्तियां क्यों नहीं उनकी ओर एकाग्र होती|"[167]

२०वीं सदी के पूर्वार्द्ध के अंतिम तीन दशकों में स्त्री-प्रश्न का दायरा स्त्री-शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह, मृतस्त्रीक विवाह इत्यादि से आगे बढ़ चुका था| हालांकि ये समस्याएं अभी भी थी और इस पर विचार -विमर्श जारी था, लेकिन जैसे-जैसे सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों को निकलने की इजाजत मिलने लगी तो व्यक्तिगत स्तर पर स्त्रियाँ भी अपने

---

[165] वही, पृष्ठ 187

[166] वही, पृष्ठ, 187

[167] सुमित्राकुमारी सिन्हा, अचल सुहाग, युग मंदिर, उन्नाव, प्रथम संस्करण 1939, पृष्ठ, 180

हक़ के लिए आवाज उठाने लगीं| लेखिकाओं ने भी बुनियादी प्रश्नों को उठाना शुरू कर दिया था जिस पर पितृसत्तात्मक समाज मजबूती से टिका हुआ था|

२०वीं सदी के पूर्वार्द्ध के अंतिम तीन दशकों की बात करें तो हमें महिलाओं के लेखन में बहुत कुछ बदलाव देखने को मिलता है| सुमित्रा कुमारी सिन्हा १९वीं सदी के महिला-प्रश्न से काफी आगे निकल चुकी थी| वो उन प्रश्नों को उठा रही थी जिन प्रश्नों से आज का नारीवाद जूझ रहा है| इस दृष्टि से देखें तो सुमित्रा कुमारी सिन्हा को आधुनिक हिंदी की पहली नारीवादी मानने से इंकार नहीं किया जा सकता|

3.6 वैवाहिक जीवन की त्रासदी और प्रेम की अवधारणा :

"हमारी संस्कृति में प्रेमविहीन विवाह अभिशाप से कम नहीं है और प्रेम के बिना जीवन की तो बात भी नहीं सोची जा सकती| अविवाहित रहने वाली स्त्री ने जरूर मौका गवां दिया होगा या युद्ध में अपने प्रेमी को खोया होगा या फिर वह झिझकती रह गई और सब कुछ खो बैठी; पुरुष को सही लड़की नहीं मिल पाई होती| यह स्वयंसिद्ध है की सब विवाहित जोड़ियां प्रेम में आकंठ लीन हैं|"[168]

२०वीं सदी की उत्तरार्ध की नारीवादी विचारक जर्मेन ग्रीयर ने अपनी किताब 'बधिया स्त्री' में प्रेमविहीन विवाह को किसी अभिशाप से कम नहीं बताया है, लेकिन वैवाहिक जीवन की त्रासदी और प्रेम करने की आजादी की अभिव्यक्ति २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध की हिंदी लेखिकाओं ने भी अभिव्यक्त करने की कोशिश की है | हो सकता है कि जितने साफ-साफ लहजे में जर्मेन ग्रीयर ने प्रेम की आजादी को अनिवार्य बताया है, इस दौर की लेखिकाएँ इतने साफ लहजों में अपनी बात कहने से चुक गयी हों| शायद इस युग की अतिनैतिकतावादी विचार ने उनकी जुबान को बंद कर रखा था, लेकिन उनका कहने का मतलब यही था| इसे एक कहावत से समझ सकते हैं कि- नाक को चाहे सीधे पकड़ों या उल्टे आख़िर पकड़ते नाक को ही है | इस दौर की लेखिकाएं बात को चाहे जिस किसी ढंग से कही हो उनका मतलब प्रेम की सत्यता को ही स्थापित करना था |

[168] जर्मेन ग्रीयर, (अनुवद) मधु बी. जोशी, बधिया स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृष्ठ 181

औपनिवेशिक भारत में समाज सुधारकों ने स्त्रियों के उद्धार से सम्बंधित जो भी प्रयास किया या करने की कोशिश की, उनका वो प्रयास नये तरीके से स्त्रियों की स्त्रैण भूमिकाओं को स्थापित करने तक ही सीमित रहा| पुरुष समाज सुधारकों ने समस्याओं के बुनियादी सुधार पर कभी जोड़ नहीं दिया| आदर्श पति-पत्नी के संबंधों, बेटी ,पत्नी और माता के कर्तव्यों की याद जरूर दिलवाई गयी, लेकिन स्त्रियों के एहसास को कभी समझने की कोशिश शायद ही की गयी हो| स्त्रियों के एहसासों को पहली बार स्त्रियों ने ही समझने और उसे अभिव्यक्त करने की कोशिश की| स्त्री की मातृत्व की भूमिका को पुरुष समाज सुधारकों ने जोर-शोर से स्थापित किया, लेकिन स्त्री के प्रेमिका रूप को कभी भी स्वभाविक नहीं माना | इसे हमेशा समाज और घर तोड़ने के रूप में ही देखा गया| पहली बार इन लेखिकाओं ने स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंधों को, स्त्रियों के एहसासों को उचित-अनुचित के घेरे से बाहर लाकर प्रेम को स्वभाविक और प्राकृतिक एहसास बताया और स्त्री-पुरुष के बीच आत्मीयतापूर्ण संबंधों के लिए प्रेम की जरुरत पर बल दिया| समाज सुधारकों ने प्रेम पर आधारित विवाह की अनिवार्यता या एक दूसरे को समझ बुझकर शादी करने की जरूरत पर ध्यान ही नहीं दिया इसीलिए यह उनके लिए कोई समस्या की बात ही नहीं थी| शायद यही कारण है कि वे इसे समस्या के रूप में नहीं उठाते है, लेकिन जैसे -जैसे शिक्षा का प्रसार–प्रचार बढ़ता गया लोगों के सोच में भी बदलाव आने लगा| शिक्षा ने स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के पास लाने में मदद तो की ही, उनके अन्दर प्रेम को अभिव्यक्त करने की चेतना भी पैदा हुई | शिक्षा ने लोगों के सोचने समझने की प्रक्रिया को काफी हद तक प्रभावित किया| विशेषकर स्त्रियों के विचारों को|

इस दौर की लेखिकाओं ने स्त्री और पुरुष के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों की अहमियत पर जोड़ दिया| सुमित्रा कुमारी सिन्हा हो, सुभद्रा कुमारी चौहान हो, उषादेवी मित्रा हो, कमला चौधरी हो, हीरादेवी चतुर्वेदी हो, तेजरानी पाठक या यशोदा देवी हो, इन तमाम लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्री और पुरुष के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों की अहमियत को पहचाना है | इनकी रचनाओं में स्त्री और पुरुष के बीच पारंपरिक संबंधों से भिन्न जिस सम्बन्ध को सबसे

ज्यादा अहमियत दी गयी है वो मैत्रीपूर्ण संबंध ही है| इनकी रचनाओं में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध बाप-बेटी, पति-पत्नी, भाई-बहन के अलावा मित्र और प्रेमी-प्रेमिका की महत्वपूर्ण भूमिका में भी आता है | जब स्त्री और पुरुष के बीच पारंपरिक भूमिकाओं के अलावा किसी और सम्बन्ध को समाज अनैतिक और भ्रष्ट के श्रेणी में रखता हो| जहाँ स्त्री और पुरुष के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों की गुंजाइश न के बराबर हो, वहाँ स्त्री-पुरुष के बीच प्रेमपूर्ण संबंधों की परिकल्पना करना आकाश कुसुम तोड़ने के बराबर ही हो सकता है और प्रेम विवाह की परिकल्पना करना तो बिलकुल ही बेमानी है | शायद इसीलिए लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्री- पुरुष के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को पहले स्थापित करने की कोशिश की| यह सम्बन्ध समाज की नजरों में भले ही अनैतिक हो, लेकिन लेखिकाओं की नजर में यह बिलकुल पवित्र और नैतिक है | इनकी रचनायें समाज की इसी सोच पर प्रहार करती हुई नजर आती हैं |

प्रेम इनकी रचनाओं में एक स्वाभाविक और प्राकृतिक एहसास की अभिव्यक्ति बनकर आता है | इस दौर की लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्री-पुरुष के बीच मित्रता की अभिव्यक्ति तो की ही हैं, प्रेम आधारित विवाह की भी मांग की हैं| सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों में स्त्री पुरुष के बीच एक सहज स्वभाविक मैत्रीपूर्ण संबंधों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है, तो कमला चौधरी की रचनाओं में प्रेम विवाह की अहमियत को उठाया गया है | यशोदा देवी की कहानियों में भी विवाह को प्रेम के सन्दर्भ में परिभाषित करने की कोशिश की गयी है| अक्सर इनकी कहानियों में प्रेम विवाह एक सफल विवाह बनकर सामने आता है| इन सब से आगे बढ़कर सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने प्रेमविहीन विवाहित जीवन की त्रासदी को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है| उनकी रचनाओं में विवाहित स्त्रियां पति से नहीं किसी और पुरुष के प्रेम में आकंठ हुई नजर आती है| ऐसा नहीं है कि इन स्त्रियों का प्रेम हमेशा सफल ही होता है, अधिकांश मामलों में वह एक असफल कहानी बन कर रह जाती है, लेकिन प्रेम में आकंठ डूबी इन नायिकाओं को उन्माद ग्रस्त देखा जा सकता है| प्रेम में पूरी तरह से सराबोर ये स्त्रियां पागलपन की हद तक प्रेम की सत्यता को स्वीकार करती हैं| यह प्रेम की सत्यता को सिर्फ अपने आप से ही स्वीकार नहीं करती, बल्कि समाज के सामने और पति के समक्ष भी

अपने प्रेम को स्वीकार करने का साहस रखती हैं| सुमित्रा कुमारी सिन्हा की एक रचना है- 'मैं नहीं जाऊंगी'| इस कहानी की नायिका न केवल अपने पति के सामने अपने प्रेम संबंधों को स्वीकार करती है, बल्कि वह भरी पंचायत में भी अपने प्रेम को अभिव्यक्त करने का साहस रखती है| इतना ही नहीं जब पंचायत जबरदस्ती उसे अपने पति के साथ रहने का फरमान सुनाता है, तो वह अपने प्रेमी चंदन के साथ भाग जाने का साहस भी रखती है|

मिसाल के लिए 'मेरी जान लूट गई' की करुणा हो, 'व्यक्तित्व की भूख' की इला हो, 'विवाहिता' की कल्पना हो, 'भूल' की लता हो, 'इंटरनल टैनिंग' की माधुरी हो, 'सूली ऊपर सेज...' की कोइली हो, 'नारी का सपना' की इला हो, यह सभी नायिकाएं प्रेम की सत्यता को स्वीकार करती हैं| इन्हें अपना प्रेम किसी तरह का पाप या अनैतिक नहीं लगता, बल्कि यह मनुष्य के जीवन का आधार मानकर चलती हैं| शायद इसीलिए यह प्रेम को स्वीकार करने से भी नहीं डरती|

उनकी रचनाओं में प्रेम को स्वीकार करने का जो साहस और नि:संकोच भाव स्त्री पात्रों में देखने को मिलता है, वह पुरुष पात्रों में नहीं| यह नायिकाएं अपने प्रेम को समाज के सामने खुलकर स्वीकार करती हैं लेकिन पुरुष पात्र अपने प्रेम संबंधों को स्वीकार करने का साहस उस तरह नहीं रखते जैसा कि इन प्रेमिकाओं में स्वीकार करने का साहस है| पितृसत्तात्मक समाज में वर्जित उन सारे वर्जनाओं को करने से पुरुषों के सामने किसी तरह की नैतिकता आड़े नहीं आती| प्रेम स्त्री भी करती हैं और प्रेम करने का दावा पुरुष भी करता है, लेकिन उसे अपनाने या स्वीकार करने का साहस पुरुषों में नहीं है| वह प्रेम संबंधों को पर्दे के पीछे चलते रहने देना चाहता है| समाज के सामने अपने प्रेम संबंधों के खुल जाने पर वह फिर अपने पितृसत्तात्मक खोल में छुपकर बैठ जाता है, क्योंकि यह पितृसत्ता ही है जो पुरुषों को वापस अपने चादर में छिप जाने की छूट देती है लेकिन स्त्री के लिए कहीं कोई जगह नहीं छोड़ती और इस जगह को बनाने की जद्दोजहद में स्त्री यहाँ आर्थिक स्वावलंबन की तरफ मुड़ती हुई दिखाई देती हैं।

वैवाहिक संबंधों की जटिलता, त्रासदी, उन्माद और विक्षिप्तता को सुमित्रा कुमारी सिन्हा अपनी रचनाओं में प्रमुखता से तो उठाती ही हैं, कमला चौधरी ने भी अपनी रचना 'साधना का उन्माद' में प्रेमविहीन वैवाहिक संबंधों की त्रासदी को अभिव्यक्त किया है| अगर वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी के बीच प्रेम ना हो या पति अपनी पत्नी की तरफ से उदासीन हो तो वैवाहिक जीवन वास्तव में अभिशाप बन कर रह जाता है| साधना को भौतिक सुख सुविधाएं सब कुछ प्राप्त है| वह अपनी मर्जी से रह सकती है, खर्च कर सकती है, दान दे सकती है लेकिन प्रेम की उष्णता को उसने कभी महसूस नहीं किया| अपने पति को रिझाने के लिए उसने वह सब कुछ किया जो एक पारंपरिक स्त्री या पत्नी करती है, लेकिन उसका पति उसकी तरफ कभी भी आकर्षित नहीं हो पाया| उन दोनों के बीच दूरिया हमेशा बनी रही| समाज की नजरों में वह एक आदर्श दंपति थे, लेकिन अंदर से उनका वैवाहिक जीवन खोखला था| इस खोखलेपन का एहसास साधना को भी था| वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी के बीच आई यह दूरी, प्रेमविहीन विवाह करने की संस्कृति को ही जाता है| जहां पर पुरुष और स्त्री की मर्जी का सवाल ही नहीं उठता| मर्जी का सवाल तभी उठ सकता है, जब स्त्री-पुरुष के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध हो और तभी स्त्री और पुरुष के बीच प्रेम संबंधों की शुरुआत हो सकती है| विवाहित संबंधों के खोखलेपन की सचाई/वास्तविकता को समझ लेने के बाद ही शायद लेखिकाओं ने प्रेम विवाह की जरूरत पर ध्यान देना शुरू किया| लेखिकाएं विपरीत परिस्थितियों में प्रेम को एक सफल विवाह में होते हुए दिखाती हैं| इसमें प्रेम की दो अंतर्धारा चलती है और दोनों ही अपने परिणति तक पहुंचने में सफल रहती हैं|

अपने परिवार के सामने अपने प्रेम संबंधों को स्वीकार करना इतना आसान भी नहीं था| एक दूसरे को जानने समझने की जरूरत तब भी थी, जब स्त्री और पुरुष दोनों ही अनपढ़ थे लेकिन प्रेम करने की परिस्थितियां और स्वीकार करने का कारण उन्हें औपनिवेशिक भारत में ही मिल सका| एक पढ़ा-लिखा पुरुष आधुनिक रहन-सहन और पढ़ी-लिखी स्त्रियों के साथ ही अपने वैवाहिक जीवन की कल्पना कर सकता था| एक हद तक शिक्षा ने उन्हें अपनी पसंद का जीवन साथी चुनने की चेतना दी थी, लेकिन अपने पसंद को, प्रेम को स्वीकार करने का साहस अभी भी नहीं दिया था| पश्चिमी शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने जीवन की कल्पना पढ़ी-

लिखी और अपने पसंद की लड़की के साथ ही करना चाहता है| यशोदा देवी की कहानी 'भ्रम' का नायक प्रोफ़ेसर ब्रजमोहन लाल अपनी पसंद की लड़की से शादी करने की कल्पना को साकार करने के लिए शादी का विज्ञापन कुछ इस तरह देता है-

"आवश्यकता है एक कन्या की जिसकी अवस्था अट्ठारह-उन्नीस साल के लगभग हो और काफी अंग्रेजी पढ़ी हो| देखने में रूपवती हो और सब गुणों से संयुक्त हो| कन्या को चाहिये कि वो खुद पत्र-व्यवहार करे|..वो चाहते हैं कि कन्या का मतामत स्वयं प्रगट हो| वे स्वयं स्वतंत्र विचार के मनुष्य हैं| स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती हैं| कोई पढ़ी-लिखी कन्या अगर पत्र-व्यवहार करना चाहे तो इस पते पर कर सकती है|"[169]

इस तरह शिक्षा ने स्त्री और पुरुष को पास-पास लाने, सोचने-समझने और एक दूसरे को जानने का अवसर प्रदान किया|

3.6.1 प्रेम और विवाह :

अगर प्रेम सफल ना हो तो उसकी परिणति आत्महत्या में भी हो सकती है| अगर समाज और परिवार लड़के लड़की के प्रेम और पसंदगी को अहमियत ना देकर, उनकी मर्जी के खिलाफ किसी और से शादी कर देते हैं तो उनकी परिणति कभी-कभी घातक भी होती है और यही परिणति 'दो शब्द'.. कहानी की नायिका और नायक की भी होती है| वह दोनों एक दूसरे को बचपन से ही पसंद करते थे और बचपन की यह पसंदगी बड़े होने पर प्यार में बदल जाती है| विलायत जाने की वजह से ही लड़की के माता-पिता कुसुम की शादी उस लड़के से करने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि लड़के को विलायत जाने की वजह से जाति-बिरादरी से अलग कर दिया गया है| कुसुम के माता-पिता जाति बिरादरी से बाहर कर दिए जाने के डर से अपनी बेटी कुसुम की शादी अजय से नहीं करते हैं| यहाँ तक की कुसुम और अजय अपने प्यार के लिए किसी तरह का विद्रोह नहीं कर पाते हैं| लेकिन अपने प्यार के लिए मर मिटने का जज्बा उनके अन्दर से गया नहीं है| इस कहानी में प्रेम में एकनिष्ठता और त्याग करने की महत्ता के आदर्श को स्थापित किया गया है| नायिका.. चूँकि नायक.. को मन से अपना पति

[169] यशोदा देवी, भ्रम, लेदर प्रेस, प्रयाग, 1933, पृष्ठ 2

मान चुकी है, अत: वह किसी और से विवाह करके उसे धोखा नहीं देना चाहती और ना ही इन दोनों में इतना साहस होता है कि यह अपने प्रेम को सबके सामने स्वीकार कर सके अतः दोनों ही जहर खाकर आत्महत्या कर लेते हैं| इस कहानी में प्रेम में असफल होने के कारण लड़का और लड़की के आत्महत्या करने का मतलब यह नहीं है कि प्रेम हार गया बल्कि खुद को प्रेम के लिए बलिदान कर देने में ही यहाँ प्रेम की जीत है|

3.6.2 प्रेम की मिथकीय अवधारणा :

वैवाहिक जीवन में नाकामियां है, खोखलापन है, प्रेम में असफलता है, प्रेम को समाज के सामने स्वीकार-अस्वीकार करने का कश्मकश है, तो प्रेम में धोखा भी है और प्रेम को स्थाई मान लेने के अपने खतरे भी है| प्रेम में यह खतरा प्रेम को, जिंदगी की वास्तविकता को कल्पना के सहारे देखने की वजह से आती है| प्रेम करना मात्र सोचने समझने और कल्पना की उड़ान भर में ही निहित नहीं है| प्रेम का वास्तविक स्वरुप भी होता है और यह वास्तविकता तभी आ सकती है जब प्रेम को मात्र शब्दों, अलंकरणों, उपमाओं और कल्पना में ही करने की कोशिश न किया जाए| प्रेम भावना की चीज जरूर है, लेकिन प्रेम को क्रियात्मक रूप से व्यक्त करने की भी जरुरत बनी रहती है, नहीं तो प्रेम खोखला बनकर रह जाता है| प्रेम को व्यक्त करने के लिए वास्तविक जीवन की कठिनाइयों के समय दृढ़तापूर्वक सामना करने की इच्छा शक्ति का होना भी जरूरी है, लेकिन होता यह है की कभी-कभी हम प्रेम को इतना ज्यादा फैंटेसाइज कर लेते हैं विशेषरूप से लड़कियां प्रेम को इतना ज्यादा फैंटेसाइज कर लेती हैं कि उन्हें लगता है कि प्रेम में बड़ी–बड़ी डींगे हाकने वाला पुरुष हर हाल में हर परिस्थिति में उसका साथ देगा| प्रेम को फैंटेसाइज करने के कारण ही लड़कियां प्रेम के नाम पर मिलने वाले धोखे से अति अनजान बनी रहती है| इसीलिए प्रेम में कुछ सतर्कता की भी आवश्यकता पड़ती है| इसका मतलब यह नहीं है कि आप प्रेम के ऊपर शक कर रहे हैं, बल्कि पुरुषों ने जिस तरह से प्रेम को अत्यधिक मिथकीय स्वरूप दिया है, उस मिथकीय अवधारणा, झूठे प्रेम के दांवों से खुद को बचाना है और यह तभी संभव है जब प्रेम में स्त्रियाँ अपने स्व को बचाएं रखें| स्व को बचाए जाने की आवश्यकता इसलिए भी है, क्योंकि प्रेम में

जब धोखा मिलता है तो उसका खामियाजा ज्यादा से ज्यादा लड़कियों को ही भुगतना पड़ता है | अधिकांश मामलों में तो लड़कियां ही सजा की हक़दार होती हैं और इस में समान रूप से भागीदार पुरुष समाज में ज्यों का त्यों बना रहता है, क्योंकि पितृसत्ता पुरुषों के बचाव में हमेशा खड़ी रहती है|

शायद इसीलिए महिला-लेखन में प्रेम के मिथकीय स्वरुप से महिलाओं को आगाह करने की कोशिश की गयी है| प्रेम के उस मिथकीय स्वरुप की भी चर्चा की गई है जहां पर प्रेम मात्र शब्दों का समुच्चय और दिखावा बनकर रह जाता है और जब प्रेम से वफा करने की उम्मीद अपने पूरे उफान पर रहती है तो पता चलता है कि यहां तो प्रेम नाम की कोई चीज ही नहीं थी| हम प्रेम से कुछ ऐसी उम्मीद कर लेते हैं, प्रेम में इतना विश्वास कर लेते हैं कि पितृसत्ता के खेल को समझ ही नहीं पाते और अपना सब कुछ प्रेम के नाम पर लुटा देते हैं| शायद इसीलिए 'आखों का कौतुक'[170] कहानी की मीना प्रेम के नाम पर अपना सब कुछ अपने पति के ऊपर लुटा देने के बाद अकेली रह जाती है| वह भूल गयी थी की पति को हर हालत और परिस्थिति में नहीं छोड़ना स्त्रियों का स्त्री–धर्म है, पुरुषों का नहीं| इस पितृसत्तात्मक समाज में प्रेम की एकनिष्ठता को बनाये रखने के लिए पुरुष कतई बाध्य नहीं है| पुरुष एक साथ कई शादियाँ कर सकता है, रखैल भी रख सकता है, वेश्यालय भी उसके लिए खुला हुआ है| यही नहीं वो बलात्कार भी कर सकता है, वो एक साथ कई पत्नियों से प्रेम भी कर सकता है, यह समाज के नियम और कानून को किसी तरह की चुनौती नहीं देता, लेकिन एक स्त्री एक साथ कई पुरुषों से प्रेम करना तो बहुत दूर की बात, पुरुष के बारे में सोच भी नहीं सकती है| पति मर भी जाये तो उसे दूसरा विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है| उसे तो जिंदगी भर अपने मरे हुए पति की याद में कष्टपूर्ण जिन्दगी व्यतीत करनी है| यहाँ तक कि स्त्री और पुरुष में मित्रता का सम्बन्ध होना नामुमकिन ही माना जाता है/ बना दिया गया है| अपने दृष्टिहीन पति को अपनी आँखें देते समय मीना शायद भूल जाती है कि पुरुष हर परिस्थिति में स्त्री का साथ देने के लिए किसी भी तरह से बाध्य नहीं है| उसे बाध्य भी नहीं किया जा सकता| ऐसा

[170] रामेश्वरी देवी, धूप-छाँव, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ,

कोई नियम धर्म या कानून नहीं जो पुरुषों को इसके लिए बाध्य करता हो कि वो अपनी पत्नी के प्रति हर हालत में एकनिष्ठ और ईमानदार रहे| चाहे उसकी स्थिति उसकी वजह से ही क्यों ना दयनीय हुई हो| मीना का पति जैसे ही दृष्टिवान होता है मीना को, जो उसके लिए अँधा होना भी स्वीकार कर लेती है; दूसरी शादी कर लेता है और मीना उसी घर में उपेक्षिता की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हो जाती है| यहाँ मीना द्वारा खुद को अँधा करके अपने पति को दृष्टिवान बनाने का मसला उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रेम और सतीत्व में अपने को मिटा देने के बाद भी एक औरत का उपेक्षित रह जाना| यहाँ पर सतीत्व और पतिव्रत धर्म को प्रेम का रूप माना जाना भी स्त्री के शोषण की प्रमुख वजहों में से एक माना गया है| शायद रामेश्वरी देवी इस रचना में इसी की तरफ इशारा कर रही हैं कि पुरुषों के जिस प्रेम के वादे पर स्त्रियाँ खुद को निछावर कर देती हैं| पुरुष मौका मिलते ही उस वादे का गला घोंट देता है| पुरुष जिस प्रेम की कसमें खाता है| रूप का गुणगान करते हुए नहीं थकता| जिसकी सेवा और त्याग को महान बताते हुए नहीं थकता, उस वादे को निभाने, कसमों को पूरा करने, सेवा और त्याग का प्रतिदान देने का जब समय आता है, तो वह स्त्री को उपेक्षित और दयनीय स्थिति में छोड़कर आगे बढ़ जाता है|

पुरुष प्रेम के इसी काल्पनिक दावे को, प्रेम के इसी झूठे कसम को, प्रेम की इसी मिथकीय अवधारणा को, काल्पनिक दावे, झूठी कसम और फैंटेसी में बह जाने की कहानी है| 'कर्तव्य',(कमला चौधरी उन्माद) 'झीकती भिखारिन', 'नींव की ईट', (चंद्रवती ऋषभसैन जैन) 'रंगा सियार', रंगीन पर्दा (एकांकी संग्रह, हीरादेवी चतुर्वेदी) 'व्यक्तित्व की भूख' (सुमित्रा कुमारी सिन्हा) | महिला–लेखन में प्रेम की इसी मिथकीय अवधारणा को रेखांकित किया गया है|

पति प्रेम में अपना सब कुछ निछावर कर देने वाली एक पत्नी की कहानी है 'आँखों का कौतुक'|(रामेश्वरी देवी) मीना की शादी धोखे से एक ऐसे व्यक्ति के साथ हो जाती है, जो दृष्टिहीन है, बावजूद मीना अपने पति के साथ रहने का निर्णय लेती है| दोनों में अगाध प्रेम भी रहता है| मीना हर तरह से अपने पति की जरूरतों का ख्याल रखती है | अपने पति प्रेम

में इतना ज्यादा संवेदनशील होती है कि वह अपनी आंखें अपने पति को देकर खुद दृष्टिहीन होना स्वीकार करती है. लेकिन जो पति दृष्टिहीन होने पर प्रेम की बड़ी-बड़ी ढींगे हाँकता था तथा मीना के प्यार और बलिदान का गुणगान करते हुए नहीं थकता था, वही दृष्टिवान हो जाने पर अपनी पत्नी की उपेक्षा करना शुरू कर देता है| यही नहीं वह दूसरी शादी तक कर लेता है और मीना एक वस्तु की तरह एक कोने में उपेक्षित-सी रह जाती है| रामेश्वरी देवी अपनी इस रचना के माध्यम से क्या कहना चाहती हैं?

इस कहानी में दो बातें उभर कर सामने आती हैं| जिस तरह से भारतीय स्त्रियों का सामाजिकरण किया जाता है, उसे प्रेम, बलिदान, त्याग, एकनिष्ठता तथा पति पर सब कुछ लुटा देने, उसे ही सब कुछ मान लेने की सीख दी जाती है; वह त्याग, बलिदान, एकनिष्ठता और प्रेम एक दिन उसके ही खिलाफ उठ खड़ा होता है, क्योंकि जब उसे अपने प्रेम के प्रतिदान की जरूरत होती है तो उसका उल्टा ही असर होता है| दूसरी बात, जो लेखिका इस कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहती है वह यह कि प्रेम कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो हर परिस्थिति में कायम रहे| खासकर पुरुषों का प्रेम परिस्थितियों के हिसाब से बदलता रहता है| इसकी इजाजत उसे समाज की तरफ से भी मिली हुई है। प्रेम में त्याग करना, बलिदान देना और वह भी शादीशुदा जिंदगी में पति से, हर परिस्थिति में प्रेम की उम्मीद करना, सबसे बड़ा उस पर विश्वास करना कि वह हर रूप में, हर परिस्थिति में उससे प्यार करता रहेगा, यह सीख पुरुषों के लिए नहीं है| यह तो स्त्रियों के लिए है कि पति चाहे जैसा हो, कुरूप हो, अंधा हो, गूंगा हो जैसा भी हो ,स्त्री को उसी से प्रेम करना है| उसी के साथ निर्वाह भी करना है| पुरुष तो एक बीवी के मर जाने के बाद दूसरी शादी रचा सकता है| अगर वह चाहे तो उसे छोड़ भी सकता है और अगर अंधी है तो उसका त्याग भी कर सकता है|

प्रेम में अपने स्व की रक्षा हमेशा करनी चाहिए, लेकिन यहाँ मीना अपने पति के प्रेम में भावनात्मक रूप से इतनी संवेदनशील हो जाती है कि अपनी आँखें देकर अपने पति को दृष्टिवान बनाती है और खुद दृष्टिहीन रहना स्वीकार करती है| यहां पर अपनी आँख देकर

अपने पति को दृष्टिवान बनाने का मसला उतना नहीं है, जितना यह कि स्त्रियों द्वारा प्रेम को इतना फैंटेसाइज करके देखना| यह मानकर चलना कि पति जिन शब्दों से उसकी तारीफों की कसीदे बुनता था, वो एक दिन छिन्न-भिन्न भी कर सकता है| शायद मीना (आखों का कौतुक, रामेश्वरी देवी) उषा (कर्तव्य,कमला चौधरी) इला (व्यक्तित्व की भूख, सुमित्रा कुमारी सिन्हा) रमा (रंगा सियार, हीरादेवी चतुर्वेदी) जैसी स्त्रियां इसे समझ नहीं पाती और पुरुष के हाथों प्रताड़ित होने के लिए अभिशप्त होती हैं| 'आंखों का कौतुक', 'रंगा सियार', 'कर्तव्य', 'झीकती भिखारिन' इत्यादि रचनाएँ अपने स्व को बचाए रखने की कहानी है, चाहे प्रेम में आप कितना है डूबे क्यों ना हो|

प्रेम को फैंटेसाइज करने के कारण ही प्रेम में मिले धोखे की उम्मीद नहीं होती| प्रेम में धोखा खा जाने का भी डर रहता है| क्या पता कि जिससे हम प्रेम करते हैं वह रंगा सियार निकले| हीरादेवी चतुर्वेदी की एकांकी 'रंगा सियार' में पढ़ा-लिखा डॉक्टर रमेश एक ऐसा पुरुष है, जो पढ़ी-लिखी, खुले विचारों वाली स्त्रियों के आधुनिकता और खुलेपन का फायदा उठाता है और फिर उन्हें छोड़कर चला जाता है| इसमें विशेष रूप से लड़कियों को इस तरह के लोगों से बचे रहने की हिदायत दी गई है और माता-पिता की मर्जी से शादी करने को श्रेष्ठ बताने का भी प्रयास किया गया है, लेकिन प्यार में धोखा खाई रमा अपनी सहेली कमला के इस बात से इत्तेफाक नहीं रखती और कहती है कि-

"रंगे सियारों से कुमारियों की रक्षा का जहां तक संबंध है यह ठीक है परंतु अधिकांश कुमारियों का जीवन इस प्रथा के कारण सुखी नहीं रहता कमला"[171]

इस तरह लेखिका अपने पसंद की शादी करने को गलत नहीं मानती, लेकिन वह हिदायत भी देती है कि बिना अच्छी तरह से जांच करके किसी भी पुरुष पर कुमारियों को विश्वास नहीं करना चाहिए| अपनी स्वतंत्रता का बेजां फायदा नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि पुरुष लड़कियों की आजादी का इस्तेमाल अपना स्वार्थ सिद्ध करने में करते हैं| रमेश ने जो चिट्ठी रमा को भेजी है, उसमें लिखा है कि-

[171] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) इंडियन प्रेस, इलाहबाद, संस्करण 1952, पृष्ठ, 24

"मैं वापस नहीं आऊंगा| तुम आशा ना करना| मैं अपने जीवन में यही खेल खेल रहा हूं| पढ़ी-लिखी लड़कियों को बेवकूफ बनाने में मुझे आनंद आता है| तरुणाई की लहरों पर बहकर तुम अपना विवेक खो बैठती हो ना! मैं उसी का लाभ उठाता हूं रमा!"[172]

विपरीत परिस्थितियों में भी यशोदा देवी प्रेम को गलत नहीं मानती| उन्होंने अपनी कहानी 'विवाहिता का विवाह' में प्रेम विवाह और परंपरा दोनों की त्रासदी का वर्णन किया है, लेकिन प्रेम पर से उनका विश्वास हटा नहीं है| 'विवाहिता का विवाह' एक ऐसी लड़की की कहानी है, जो मोहन नाम के लड़के से प्रेम करती है, लेकिन माता-पिता के दबाव में किसी और पुरुष से उसे विवाह करना पड़ता है| इस विवाह की त्रासदी यह है कि उसका पति भी किसी और लड़की के प्रति आकर्षित है| इस तरह कुसुम अपने मायके आ जाती है और अपने प्रेमी मोहन के साथ घर छोड़कर चली जाती है, लेकिन जिस तरह से मोहन प्रेम के दावे किया करता था वह निराधार निकला और वह भी किसी दूसरी लड़की को प्यार करने लगा| यहां तक कि मोहन ने कुसुम के सारे गहने भी बेच दिये| मना करने पर उसे मार भी पड़ी और वह उसकी हत्या करने की फिराक में भी रहने लगा| कुसुम किसी तरह भागकर प्रोफेसर प्रेमनाथ के घर पहुंच गई| यहां प्रेमनाथ कुसुम के गुणों पर मुग्ध होकर उसे प्यार करने लगा और कुसुम भी प्रेमनाथ को पसंद करने लगी| कुसुम की सारी आपबीती सुनने के बाद भी प्रेमनाथ उसे शादी करते है| इस तरह इस कहानी का सुखद अंत हो जाता है|

उस समय और उस समाज की आदर्श और अतिनैतिकतावादी प्रस्थापनाओं को देखते हुए यह कहानी बहुत ही क्रांतिकारी है| यशोदा देवी की इस रचना में स्त्री धर्म की टूटने की आहट साफ सुनी जा सकती है| जिस समाज में एक हिन्दू लड़की दुबारा शादी करने के बारे में सोच भी नहीं सकती, वहाँ यशोदा देवी प्रेम के बल पर दोबारा उस 'पवित्र विवाह संस्था' में प्रवेश दिलाती है| यहाँ प्रेम सिर्फ फैंटेसी बन कर ही नहीं रह जाता बल्कि प्यार का सच्चा स्वरुप बनकर उभरता है| जाहिर है कि लेखिकाओं के लिए प्रेम रूढ़िवादी मान्यताओं से लड़ने, स्त्री-धर्म को मात देने और पितृसत्तात्मक मूल्यों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह का हथियार बन कर सामने आता है| प्रेम को माध्यम बनाकर परंपरागत मूल्यों से लड़ने का फायदा यह है कि

---

[172] वही, पृष्ठ 27 (रंगा सियार)

अगर प्रेम करना समाज में गुनाह है, तो प्रेम से बढ़कर समाज में कोई पवित्र रिश्ता भी नहीं है| यही पवित्रता लेखिकाओं को शायद स्त्री-धर्म से लड़ने और उसका विरोध करने का निर्विरोध माध्यम प्रदान करता है|

यह कहानी सिर्फ एक लड़की की जिंदगी के तमाम घटनाओं की कहानी नहीं है, बल्कि प्रेम संबंधों को स्थापित करती हुई कहानी है| प्रेम चाहे असफल हो जाए, प्रेमी चाहे धोखा देकर चला जाए, लेकिन प्रेम की महत्ता अपनी जगह बनी हुई है| सबसे बड़ी सफलता यह है कि कहानी का नायक एक ऐसी लड़की से प्रेमविवाह करता है, जिसकी पहले ही किसी और लड़के से शादी हो चुकी होती है, लेकिन वो विवाह सफल नहीं हो पाता है | ऊपर से अपने प्रेमी के साथ भागने वाली लड़की| जहाँ पर लड़की को अपना विवाह किसी भी हालत में निभाना पड़ता है, समाज में एक पुरुष द्वारा इस तरह की लड़की को अपनाना बहुत ही क्रांतिकारी कदम माना जाना चाहिए| लड़की का दोष हो या ना हो, तो भी उसे ही सजा भुगतनी पड़ती है| स्त्रियों के लिए तो यही आदर्श माना जाता है कि पति चाहे कितना ही कुरूप, रोगी और शराबी हो, किसी और के प्रेम में सम्मोहित हो, तो पत्नी अपनी सेवा से, सहनशीलता से पति को बदल देने की शक्ति रखती है, लेकिन इस कहानी में ऐसा कुछ नहीं है| दूसरा, अगर पति कितना भी बुरा हो पत्नी उसी के नाम पर अपनी जिंदगी गुजार देती है लेकिन यशोदा देवी ऐसी कोई स्थापना नहीं करती हैं|

ऐसा भी नहीं है की ये लेखिकाएं मूल्यों और परम्पराओं को पूरी तरह से ख़ारिज कर रही थी, लेकिन प्रेमपूर्ण संबंधों पर आधरित प्रेमविवाह की उनकी अपनी समझदारी और परिभाषा भी विकसित हो रही थी| इस आदर्शवादी और अतिनैतिकतावादी दौर में लेखिकाओं द्वारा प्रेमपूर्ण संबंधों की स्थापना करना सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिए| हिंदी में स्त्री-विमर्श को ठोस आधार प्रदान करने की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं| इससे हिंदी में नारीवाद की जमीन को पुख्ता आधार प्रदान किया जा सकता है| जिसे और भी देखने, अध्ययन करने और परिभाषित करने की जरूरत है|

'प्रेम का रोग' कहानी में भी यशोदा देवी ने प्रेम की महत्ता और प्रेम पर आधारित विवाह की जरूरत पर जोड़ दिया है| इस कहानी में लेखिका ने गरीब सुभद्रा और अमीर वीरेंद्र की प्रेम

कहानी के माध्यम से प्रेम विवाह की जरूरत को स्थापित किया है| इसी तरह 'सुल्ताना' और 'प्रेम की विजय' में भी यशोदा प्रेम विवाह के आदर्श को स्थापित करती है|

"प्रत्येक लिंग हिस्टीरिया (उन्माद) से जुड़ा होता है| समस्त आकांक्षाएं उन्माद से जुड़ी होती है .....स्त्री अपनी दुनिया से उन्माद के बहाने पलायन करती है|"[173]

हमारी भावनाएं उन्माद से सम्बंधित होती हैं| अगर ये भावनाएं पूरी नहीं होती या मजबूरन इन्हें दबाना पड़ता है तो व्यक्ति उन्मादग्रस्तता की स्थिति में चला जाता है| प्रेम हमारी भावनाओं का सबसे नाजुक डोर होता है अत: इसके न मिलने की स्थिति में उन्माद ग्रस्त होना कोई बड़ी बात नहीं है| इस दौर की लेखिकाओं ने प्रेम के नाकाम होने की स्थिति में प्रेमी और प्रेमिका के उन्मादग्रस्त हो जाने की स्थिति को भी रेखांकित किया है| कमला चौधरी की रचना 'मेरी रानी'[174] सुभद्राकुमारी चौहान की कहानी 'उन्मादिनी', 'थाती' सुमित्राकुमारी सिन्हा की कहानी 'सूली ऊपर सेज ....' इत्यादि रचनाओं में प्रेम के असफल या अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं को समाज के कठोर नियम कानून के कारण जबरन दबाये जाने पर नायिका ही नहीं, नायक भी उन्माद्ग्रस्तता की स्थिति में चला जाता है |

'मेरी रानी' कांति और हरि की प्रेम कहानी है| इनका प्रेम सफल नहीं हो पाता, जिससे हरी विक्षिप्तता और उन्माद की स्थिति में चला जाता है| यह कहानी प्रेम की त्रासदी की कहानी है|

"हरी आज भी उस बगिया में मेरी रानी मेरी रानी पुकारा करता है|"[175]

सुभद्रा कुमारी की कहानी 'उन्मादिनी' की नायिका और नायक भी उन्माद ग्रस्त हो जाते हैं|

3.6.3 प्रेम, विवाह और मित्रता :

1930-40 और 50 के दशक में महिला लेखन में शिक्षित स्त्री पात्रों का प्रवेश होता है| यह स्त्री-पात्र ज्यादा नहीं तो कम से कम मैट्रिक पास या हिंदी की जानकारी जरूर रखती हैं| शिक्षा के बढ़ते प्रभाव ने स्त्रियों को सोचने-समझने और तर्क करने की चेतना दी| सुभद्रा

---

[173] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, (इरिगिरी, स्त्री भाषा की सैद्धांतिकी) अनामिका पब्लिकेशन, संस्करण 2011, पृष्ठ 291

[174] कमला देवी चौधरी, उन्माद, साहित्य सेवा दान, मेरठ, 1934, पृष्ठ 147

[175] वही, 159 (मेरी रानी)

कुमारी चौहान, कमला चौधरी, यशोदा देवी, शिवरानी देवी, चंद्रवती ऋषभ सैन जैन, सत्यवती मलिक, हीरादेवी चतुर्वेदी और विशेष रूप से सुमित्रा कुमारी सिन्हा की रचनाओं में शिक्षित स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग देखने को मिलता है जो अपनी आकांक्षाओं और भावनाओं को सहर्ष स्वीकार करती हैं| यह स्वीकार करने की ताकत और इसे गलत न मानने की चेतना कहां से आती है? भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों की बात करें तो पिता, भाई के अलावा पति ही वह पुरूष है, जो स्त्री के सबसे नजदीक है| इस तरह स्त्री का अगर किसी से आत्मीय संबंध है तो वह है पति| अगर स्त्री को किसी से मैत्रीपूर्ण प्रेम संबंध रखना है तो वह भी वह अपने पति के साथ ही रख सकती है| पति के अलावा किसी और पुरुष के साथ प्रेम संबंधों तो दूर की बात है, मित्रता का व्यवहार भी स्त्री के चरित्र को शर्मसार करने के लिए काफी है|

इस दौर में कुछ ऐसे स्त्री चरित्रों का उल्लेख आता है जो पति के अलावा किसी और पुरुष में आत्मीयता और प्रेम की खोज करती हैं| हालांकि यह प्रेम उन्हें प्राप्त नहीं होता, लेकिन इन स्त्री पात्रों की सबसे बड़ी बात यह है कि यह स्त्रियां अपने प्रेम की सत्यता को स्वीकार करती हैं| पुरुष से मित्रता या किसी गैर पुरुष से प्रेम शारीरिक नहीं हैं, लेकिन कहीं-कहीं प्रेम का आत्मिक और शारीरिक प्रेम का स्वरूप भी देखने को मिलता है| ये स्त्रियां प्रेम करना गलत नहीं मानती| पढ़े- लिखे मध्यवर्गीय पुरुषों को अगर अपनी बौद्धिक संतुष्टि के लिए एक पढ़ी-लिखी, बौद्धिक परिचर्चा में भाग लेने वाली पत्नी की जरूरत थी, तो पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए भी मानसिक और भावनात्मक विचारशीलता को संतुष्ट करने के लिए किसी पुरुष मित्र की आवश्यकता थी जिससे उनकी अपनी मानसिक अंतर्द्वंद्व का, बौद्धिक विचारशीलता का तथा भावनात्मक उलझनों का समाधान हो सके| वह मानसिक संतुष्टि पा सके| इन संबंधों में किसी भी तरह के शारीरिक संबंधों का अभाव है| मानसिक और भावनात्मक आत्म संतुष्टि को आधार बनाकर की गई यह मित्रता क्या आधुनिक समाज में स्वीकार्य थी? क्या पति और समाज इस भावनात्मक संबंध को बिना किसी नैतिकता बोध के स्वीकार कर पाते हैं| इस तरह के स्त्री पात्रों में दो तरह की शिक्षिता स्त्रियों का उल्लेख मिलता है| एक, वह जिसका पति सही मायने में प्रेम करने वाला शख्स हो|

दूसरा, वह स्त्री जिसका पति प्रेम तो करता है लेकिन शिक्षित स्त्री मानसिक रूप से किसी और के प्रति भावनात्मक लगाव महसूस करती है| सुमित्रा कुमारी सिन्हा की रचनाओं में इस तरह की स्त्री पात्रों को देखा जा सकता है| यह ऐसी स्त्रियां है जो आधुनिक समाज के मुहाने पर खड़ी हैं, लेकिन पारंपरिक भूमिकाओं को अभी छोड़ नहीं पाई हैं| मानसिक और बौद्धिक रूप से आधुनिक विचारशीलता को ग्रहण कर चुकी ये शिक्षित स्त्री वास्तविक धरातल पर भी अपनी भावनाओं और बौद्धिकता को सच होते हुए देखना चाहती है| लेकिन परंपरा की डोर को मजबूती से पकड़ा हुआ भारतीय समाज, परिवार तथा पुरुष परम्परा की डोर को स्त्रियों के लिए ढीला नहीं करना चाहता था; ताकि वह अपनी बौद्धिकता को क्रियात्मक रूप से साकार कर सके| बौद्धिक और भावनात्मक उद्वेगों का वास्तविक धरातल पर न उतरने के कारण इन शिक्षित स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व के अधूरेपन और खोखलेपन का एहसास होता है| उन्हें सुखी दांपत्य जीवन में खुश होने से रोकता है| भावनात्मक आत्मीयता का अभाव और व्यक्तित्व के अधूरेपन का एहसास पढ़ी-लिखी स्त्रियों को दूसरे पुरुष की मित्रता और प्रेम संबंधों की तरफ आकर्षित करता है| इन स्त्रियों के पति सभी तरह की सुख सुविधाओं से अपनी पत्नी को खुश रखते हैं| लेकिन भावनात्मक आत्मीयता की पूर्ति नहीं कर पाते| उनके पति न ही नशाखोरी के आदी है और न ही वह उनकी भौतिक या शारीरिक जरूरतों को नजरअंदाज करते हैं, फिर भी वह खुश नहीं है, इसका क्या कारण हो सकता है?

भारतीय परिवार आधुनिक विचारों और आधुनिक संसाधनों को क्यों न अपना ले; स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता| उसका व्यक्तित्व पुरुषों के व्यक्तित्व की पहचान का मोहताज हमेशा बना रहेगा| चाहे उसमें कुछ बदलाव क्यों न नजर आ रहा हो| जिस तरह से पारंपरिक पत्नियां अपनी पहचान को पति के पहचान के साथ एकाकार कर लेती हैं| शिक्षित स्त्रियों के लिए यह इतना आसान नहीं था| व्यक्तित्व के पहचान की छटपटाहट उन्हें मानसिक रूप से संतुष्ट नहीं रहने देता था| 'व्यक्तित्व की भूख', (सुमित्राकुमारी सिन्हा) कहानी की नायिका इला इसी छटपटाहट को महसूस करती है| स्त्री सिर्फ बेटी और पत्नी ही नहीं है, बल्कि मां भी है| सिर्फ इस पहचान के साथ रहना उनके लिए आसान नहीं रह गया था| स्त्रियां दो मोर्चों पर खुद से संघर्ष कर रही थी| एक, व्यक्तित्व की

पहचान की छटपटाहट सुखी वैवाहिक जीवन में भी उनमें आत्मसंतुष्टि का भाव लाने में असमर्थ था तो दूसरा, भावनात्मक आत्मीयता की कमी खल रही थी| इस भावनात्मक आत्मीयता की पूर्ति वह दूसरे पुरुष मित्र के जरिए प्राप्त करने की कोशिश करती हैं| इसका कारण यह है कि इनका विवाह इनकी मर्जी से नहीं होता| पढ़ी-लिखी होने के बावजूद आज भी विवाह उन्हें पारम्परिक तरीके और परिवार की मर्जी से ही करना होता है| ये पढ़ी-लिखी स्त्रियां आगे उच्च शिक्षा में भी जाना चाहती है, लेकिन परिवार के सामने इच्छा न होने पर भी इन्हें विवाह बंधन में बंधना पड़ता था|

हम जानते हैं कि भारतीय समाज में विवाह कोई मैत्रीपूर्ण संबंधों पर नहीं टिका रहता, बल्कि विवाह एक ऐसा रिश्ता है जो समाज माता-पिता के गैरत रूपी सूली पर टंगा रहता हैं| इस विवाह में प्रेम की नहीं बल्कि त्याग, बलिदान की जरूरत होती है| इस तरह के विवाह में प्रेम और मैत्रीपूर्ण संबंधों की कोई जगह नहीं होती| जो रिश्ता मर्जी के खिलाफ हो वहां आत्मीयता का भाव पनपना आसान नहीं है| इस तरह के रिश्ते नैतिक, धार्मिक, सामाजिक दबाव में ही निभाए जाते हैं| इस दौर की शिक्षित स्त्री विवाह को किसी तरह के मूल्यों के दबाव में नहीं, बल्कि प्रेम और मैत्रीपूर्ण संबंधों के आधार पर निभाने की बात उठाती है, जो पारंपरिक समाज में शायद ही संभव हो| अगर ऐसा नहीं होता है तो जाहिर है कि चेतनाशील स्त्रियां अपने स्व और व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा को जाहिर करती और पूरा न होने की स्थिति में मानसिक तनाव तथा विरोध की स्थिति पैदा होती| ऐसा होता भी है|

समाज की नजर में प्रेम करना गलत और अनैतिक है| स्त्री-विमर्श की दृष्टि से देखें ,तो प्रेम करना या किसी को पसंद करना बहुत बड़ी बात नहीं है| बड़ी बात यह है- समाज के सामने इसे स्वीकार करना| ये शिक्षित स्त्रियां प्रेम को किसी भी तरह से गलत या अनुचित नहीं मानती| ऐसा भी नहीं है कि मानसिक आत्म संतुष्टि का अभाव सिर्फ स्त्री पात्रों में ही हैं| पुरुष पात्रों में भी आत्मीयता को प्राप्त करने की झटपटाहट देखी जा सकती है| आधुनिक और पढ़ा-लिखा विचारशील व्यक्ति अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की संकल्पना को साकार होता हुआ देखना चाहता है| स्त्रियां खुद को बेटी, पत्नी और मां के रिश्ते से अलग अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाना चाहती हैं| दिक्कत यह है कि परंपरागत भारतीय समाज स्त्रियों को अपनी

सुविधानुसार पढ़ने-लिखने की थोड़ी बहुत छूट तो दे सकता है, लेकिन एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उसकी पहचान को वह मानने के लिए तैयार नहीं है| इस रास्ते में पितृसत्तात्मक वर्चस्व की राजनीति हमेशा उसके आड़े आती है| स्त्रियों को पुरुषों से भिन्न समझने वाले पुरुष स्त्री के व्यक्तित्व की संकल्पना को मानने से इंकार तो करते ही हैं; वह पुरुष भी इंकार करता है जो पर्दे के पीछे अपने प्रेम की कसमें खाता है और बाहर आने पर अपना हाथ झटक कर आगे निकल जाता है| मृदुल और इला दोनों ही प्रेम करते हैं, लेकिन इनका प्रेमसम्बन्ध जब समाज के सामने आता है, तो इसकी सजा सिर्फ औरत को ही भुगतनी पड़ती है| मृदुल जहां पहले था आज भी वहीं खड़ा है| वह इला से संबंध विच्छेद कर लेता है| मृदुल विवाहित जीवन के बाहर के प्रेम संबंधों के लिए स्त्री को ही दोषी मानता है| इस तरह पुरुषों के स्वार्थपरता के प्रतिरोध स्वरूप स्त्रियों में आर्थिक स्वावलंबन का सवाल आता है| वो इन समस्याओं का समाधान आर्थिक सफलता में ढूंढती है| समाज के नियमों और मूल्यों का उल्लंघन करने के कारण उसके लिए अपने पति और प्रेमी के घरों में कोई जगह नहीं बचती है और ना ही पिता और भाई के घर में उसे रहने की इजाजत मिलती है| 'मेरी जान लूट गई' की करुणा, 'व्यक्तित्व की भूखी' की इला, 'विवाहिता' की कल्पना को इन्हीं स्थितियों से गुजरना पड़ता है|

इस दौर की स्त्री लेखन में वो स्त्री पात्र- जो प्रेम में असफल हो चुकी हैं, उन्माद की स्थिति में चली जाती हैं| सूली ऊपर... की कोइली, मैं नहीं जाऊंगी... की कजरी प्रेम न मिलने की वजह से उन्माद ग्रस्त हो जाती है| शादीशुदा होने के बावजूद जिसे पसंद करती है आजीवन उसी के प्यार में खुद को मिटा भी देती है| इनके लिए समाज द्वारा तय किये गए रिश्ते की नहीं, बल्कि प्रेमपूर्ण रिश्ते और जिसे दिल से एक बार मान लिया, उसी रिश्ते को अहमियत देती है| ऐसा नहीं है कि सिर्फ शिक्षित स्त्री ही प्रेम की क्षमता को महसूस करती है और उसे खुलकर स्वीकार करती है| अपने प्रेम की सत्यता को अनपढ़ स्त्रियां भी स्वीकार कर रही थी| 'मैं नहीं जाऊंगी'... की कजरी तमाम तरह के प्रतिबंधों, अत्याचारों के बावजूद अपने पति के साथ वापस नहीं जाती है, बल्कि अपने प्रेमी चंदन के साथ रहने का फैसला करती है| यहां पर प्रेम मात्र भावनात्मक ही नहीं है, बल्कि शरीरी भी है|

यहां एक चीज ध्यान देने की है कि इन रचनाओं में जहाँ शिक्षित स्त्री पात्र प्रेम को एक आदर्श भावनात्मक ऊंचाइयों पर प्रतिष्ठित करती हैं, वहीं कजरी जैसी गांव की और अशिक्षित स्त्री प्रेम को भावनात्मक रूप से नहीं मानती| वह प्रेम को शारीरिक मिलन और वास्तविक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है| शायद इसीलिए क्योंकि उसका प्रेमी भी उसके साथ था या इसलिए कि शिक्षित समाज में जिस तरह से प्रेम को आदर्श माना गया है, जहां पर स्त्री और पुरुष प्रेम तो कर सकते हैं, लेकिन उनका मिलन संभव नहीं है| यह सभ्य समाज के प्रेम की परिभाषा है| लेकिन अशिक्षित समाज प्रेम को आदर्श बनाकर सिर्फ पूजने तक उसे सीमित नहीं रखता| प्रेम की अवधारणा प्रेमी और प्रेमिका के मिलन के साथ पूरी होती है, क्योंकि सभ्य समाज में जिस तरह से झूठे और खोखले आदर्शों के बीच रिश्ता कायम रखने की कोशिश की जाती है| उस तरह का झूठा और खोखला प्रेम ग्रामीण समाज में शायद न हो| लेकिन इनकी रचनाओं की शिक्षित स्त्रियां भी अपने खोखले वैवाहिक संबंधों को नहीं निभाती हैं| अंतत: ये भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को साकार करने के लिए आर्थिक स्वालंबन का रास्ता निकालती हैं|

3.6.4 प्रेम : स्वभाविक और भावनात्मक एहसास :

प्रेम एक स्वाभाविक और प्राकृतिक एहसास है| समाज चाहे इसे जितना ही बांध कर रखने की कोशिश क्यों न करें| जहां इसे प्रस्फुटित होना होता है, वहां यह अपना आकार ग्रहण कर ही लेता है| आप इसे किसी रिश्ते में बांधने का प्रयास क्यों न करना चाहे| लड़के-लड़की के प्रेम को समाज भाई-बहन के रिश्ते में ही क्यों न बांधने का प्रयास करें| प्रेम के इसी एहसास को 'गुरुत्वाकर्षण' में (एकादशी) तेज रानी पाठक ने भी प्रवाहित किया है| इसी तरह कमला चौधरी ने अपनी कहानी 'त्याग' (उन्माद) में योगेंद्र और सरोज के प्रेम के एहसास को एक रूप प्रदान करने की कोशिश की है| सरोज की मां योगेंद्र को अपने बेटे की तरह मानती हैं और वह यह उम्मीद करती हैं कि सरोज और योगेंद्र में भी भाई-बहन का पवित्र रिश्ता कायम हो| उन्हें यही लगता है कि दोनों में भाई-बहन का प्यार है, लेकिन दोनों एक दूसरे के लिए अलग ही एहसास रखते हैं| इस एहसास को वह दोनों दबाकर रखना चाहते थे, लेकिन अब वह अपनी भावनाओं को एक दूसरे से कहने के लिए व्याकुल हो रहे थे| वे दोनों एक

दूसरे के हृदय से अनभिज्ञ नहीं हैं| दोनों एक दूसरे के एहसास से खूब परिचित हैं, पर अब इतने ही में उन्हें संतुष्टि नहीं है| अपनी बात मुंह तक लाने को हृदय मचलता है| वह दोनों अपने प्रेम का इजहार भी करते हैं, लेकिन सरोज की मां योगेंद्र के साथ रमा की शादी की इच्छा प्रकट करती है और मरते समय योगेंद्र के साथ रमा की शादी का वचन लेती है| रमा भी योगेंद्र से ही प्यार करती है| इस तरह सरोज के दबाव डालने पर योगेंद्र रमा के साथ शादी कर लेता है| सरोज 'सेवा आश्रम' में अकाल पीड़ितों की सेवा करती है और गंगा किनारे समाधिस्थ हो किसी की उपासना में अपना समय व्यतीत करती है| पिता के लाख समझाने पर भी वह शादी के लिए तैयार नहीं होती| अब वह एक सन्यासी की जिंदगी बिता रही है| जर्मन ग्रीयर ने अपनी किताब 'बधिया स्त्री' में लिखा है कि- 'अधिकांश सन्यासिनियाँ प्रेम में असफल युवतियां हैं'| इन रचनाओं के स्त्री-पुरुष जब प्रेम में असफल हो जाते हैं तो वे या तो उन्मादग्रस्त हो जाते हैं या सन्यास ले लेते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं| 'दो फुल' के नायक और नायिका प्रेम में असफल होने पर आत्महत्या का मार्ग अपनाते हैं|

3.6.5 प्रेम: फैंटेसी या हकीकत :

क्या स्त्री का प्रेम, समर्पण और त्याग पुरुष के प्रेम, समर्पण और त्याग से अलग होता है? क्या स्त्री प्रेम को लेकर बेहद फैंटेसी में रहती है? प्रेम में अपने स्व को भूल जाने की कीमत स्त्रियों को किस तरह से चुकानी पड़ती है| लेखिकाओं ने अपने रचनाओं के माध्यम से इसे व्यक्त करने की कोशिश की है| एक स्त्री पति प्रेम में अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार रहती है| पति चाहे जैसा भी हो वह उसके प्रति पूरी तरह से समर्पित होती है| उसे लगता है कि उसका प्रेमी या पति भी उतनी ही सिद्दत के साथ उसके प्रति ईमानदार और बेहद प्रेम करने वाला ही नहीं बल्कि हर परिस्थिति में आजीवन उसी के साथ अपना जीवन व्यतीत करने वाला साबित होगा| स्त्री को पुरुष का प्रेम भी समर्पित और त्यागमय लगता है| लेकिन क्या जिस तरह से एक पत्नी/प्रेमिका अपने पति/प्रेमी के प्रति बेहद समर्पित रहती है| किसी भी परिस्थिति में अपने पति का साथ नहीं छोड़ती| क्या पति अपनी पत्नी के प्रति उतना ही समर्पित रह सकता है?

हमारे समाज और परिवार का ताना-बाना ही कुछ ऐसा है जो स्त्रियों को पुरुषों के प्रति समर्पित प्रेमिका और त्यागमयी पत्नी के रूप में ही देखना स्वीकार करता है| महिलाएं भी एक त्यागमयी पत्नी बनकर, पति की सेवा करके खुद को गौरवान्वित महसूस करती हैं| ऐसी ही एक कहानी है 'आंखों का कौतुक'| (रामेश्वरी देवी) यह कहानी पति के प्रेम में सब कुछ निछावर कर देने वाली मीना की कहानी है जिसे अंततः अपने पति की अवहेलना का शिकार होना पड़ता है| मीना एक गरीब घर की बेटी थी| जिसकी शादी धोखे से एक अमीर लड़के से हो जाती है, जो दृष्टिहीन है| मीना यह जानने के बाद भी अपने पति के साथ ही रहने का फैसला करती है| वह जी जान से अपने पति की सेवा करती है| पति भी मीना के प्रेम, समर्पण और त्याग के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहता है| मीना अपने पति के प्रेम में इतनी समर्पित रहती है कि वह अपनी दोनों आखें अपने पति को देने से गुरेज नहीं करती, लेकिन स्थिति अब बिल्कुल उलट हो जाती है| लेखिका ने पुरुषों के खोखले प्रेम को उजागर किया है कि क्या जिस तरह से एक पत्नी बहुत-सी कमियां होते हुए भी अपने पति के प्रति ईमानदार रहती है या समाज में उसे ऐसा करने के लिए नैतिक दबाव डाला गया है| क्या उसी तरह एक पति अपनी पत्नी के प्रति ईमानदार रह सकता है? मीना का पति जब तक नेत्रहीन था, अपनी पत्नी के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ और प्रेम प्रदर्शन करता था, लेकिन जैसे ही उसकी पत्नी अपनी आंखें देकर स्वयं नेत्रहीन होना स्वीकार करती है| उसके पति की सारी कृतज्ञता और प्रेम मात्र दिखावा साबित होता है और वह दूसरी शादी कर लेता है- "किसी ने मेरे पैरों को स्पर्श किया मैं चौक पड़ी महाराज से पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे आठ वर्ष की सेवा, त्याग और तपस्या का सुंदर वरदान है, जो मेरे पैरों को सहस्त्र सर्पदंश की भांति बराबर दंश रहा है| यह है मेरे पति की नवीन पत्नी सूरमा|"[176]

लेखिका ने इस कहानी के माध्यम से पुरुषों की बेवफाई का ही नहीं, बल्कि स्त्रियों के फैंटेसी में जीने की हकीकत पर भी सवाल खड़ा किया है| स्त्रियों को फैंटेसी में रहने की आदत है| उसे लगता है कि जिस तरह से वह अपने पति के प्रति समर्पित है| वह भी उसके प्रति समर्पित होगा, लेकिन वह भूल जाती है कि समाज में पुरुषों को एक विशेष स्थान प्राप्त है| वह पुरूषों

[176] रामेश्वरी देवी, धुप-छाँव, अवध पब्लिहिंग हाउस, लखनऊ पृष्ठ

के तारीफ करने को ऐसा प्रेम समझ लेती है जो हमेशा ऐसा ही बना रहेगा, लेकिन ऐसा होता नहीं है| जैसे ही पुरुषों को अवसर मिलता है; एक छोटा-सा कारण भी उन्हें प्रेम से विचलित कर देता है | अत: स्त्रियों को प्रेम के अतिकल्पना लोक से बाहर निकलकर हकीकत में रहने की कोशिश करनी चाहिए। उसे अपने स्व की रक्षा हर परिस्थिति में करने की कोशिश करनी चाहिए| स्व की रक्षा का मतलब है खुद को शारीरिक या मानसिक रूप से नुकसान न पहुँचाना और यह सोच कर तो कभी नहीं की जो व्यक्ति उससे प्यार करता है आगे भी उसी तरह से प्यार करता रहेगा| इस कहानी में मीना द्वारा अपने पति को अपनी आखें दे देने का सवाल इतना अहम् नहीं है, जितना यह कि एक स्त्री किसी भी परिस्थिति में अपने पति का साथ नहीं छोड़ सकती| पुरुष हर हाल में पत्नी का साथ दे यह शायद ही सम्भव हो|

इसी तरह की एक कहानी है 'कर्तव्य' (कमला चौधरी,उन्माद)| इस कहानी में एक ऐसे पति-पत्नी की प्रेम कहानी है| जिनके प्रेम की मिशालें समाज दिया करता है| पति अपनी पत्नी से कितना प्यार करता है| इसे लेकर दूसरी स्त्रियां उस पर रस्क करती है, लेकिन पति के प्रेम की हकीकत तब सामने आती है, जब एक दिन नाव में सफ़र करते समय नाव डूबने लगती है और उसका पति तैराक होने पर भी उसे बचाने की कोशिश तक नहीं करता| कोई और ही उसको बचाता है| ....यह कहानी मात्र इसलिए नहीं कही गयी कि उसका पति अपनी डूबती हुई पत्नी को नहीं बचाता है, बल्कि यह कहानी इसलिए महत्वपूर्ण है कि जो पत्नी अपने पति के प्रेम के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त है, लेकिन जब मुसीबत आती है तो उसके प्रेम का भ्रम पूरी तरह से टूट जाता है| पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के लिए एक विशेष अधिकार मिला हुआ है| उसे एक पत्नी के मरने का गम उतना नहीं होता, जितना की एक पत्नी के जीवन में पुरुष की अहमियत को पितृसत्ता ने बनाया हुआ है| जब तक पुरुष वर्चस्व की राजनीति कायम रहेगी, तब तक पुरुषों को स्त्री के प्रति प्रेम में ईमानदार रहने या प्रेम को हर परिस्थिति निभाने ही नहीं देगा| पुरुषों के लिए स्त्रियों को छोड़ना पितृसत्ता ने बेहद आसान

कर दिया है | जाहिर है कि ऐसी स्थिति में पुरुषों के लिए स्त्रियों की अहमियत समय सापेक्ष होता है |

'प्रेमचंद घर में' में शिवरानी देवी प्रेमचंद के किसी और स्त्री के संबंधों के बारे में लिखती हैं कि-

"आप बोले –'अच्छा, एक और चोरी सुनो| मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी| तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा सम्बन्ध था'

मै बोली – 'मुझे मालूम है|'[177]

शिवरानी देवी और प्रेमचंद के आपसी संबंधो से यह समझा जा सकता है कि कहने को तो प्रेमचंद शिवरानी देवी के साथ बहुत ही प्रेमपूर्वक रहते थे| उनके साथ किसी तरह की ज्यादती नहीं करते थे| उन्हें ही अपने घर की मालकिन मानते थे| यहाँ तक प्रेमचंद यह भी कहते थे की तुम इस घर पर ही नहीं मुझ पर भी राज करो, लेकिन क्या हकीकत में प्रेमचंद शिवरानी देवी को खुद पर राज करने देते है? शिवरानी देवी के अलावा दूसरी स्त्री से प्रेम सम्बन्ध रखने के बावजूद प्रेमचंद शिवरानी देवी को किस बल पर यह कहते थे की वह उन पर राज करे और शिवरानी देवी यह जानते हुए भी की उनका पति किसी और स्त्री से भी सम्बन्ध रखे हुए है, क्या कभी सवाल कर पाती हैं कि आप किस प्रेम के बल पर खुद पर राज करवाने की बाते करते हैं? आखिर इसका क्या कारण हो सकता है ?

प्रेमचंद के लिए पितृसत्ता ने यह छूट दी है कि अगर उनकी पत्नी कर्कशा ही क्यों न हो, उसे छोड़ सकते हैं, दूसरी शादी भी कर सकते हैं, लेकिन शिवरानी देवी के लिए इस तरह की कोई सुविधा नहीं थी | न ही उनकी उस कर्कशा पत्नी के लिए कोई अधिकार है कि वह अपनी दूसरी शादी कर सके| यह अधिकार तो सिर्फ प्रेमचन्द (पुरुष) को मिला हुआ है| शिवरानी देवी शायद इसलिए भी प्रेमचंद से यह सवाल नहीं कर पाती हैं कि आपका किसी दूसरी औरत के साथ क्यों सम्बन्ध है? क्योंकि वह जानती हैं कि यह पूछने पर शर्मिंदगी प्रेमचंद की नहीं बल्कि उनके अहम् को ही ठेस पहुंचाती| शायद वह व्यक्तिगत स्तर पर अहम् में जीने

[177] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में (जीवनी) आत्माराम एंड संस, दिल्ली 2006, पृष्ठ 25

वाली या गर्वीली स्त्री थी शायद मानसिक रूप से मजबूत भी| शायद इसलिए भी कि ये बात खुलने पर उनके पास यह विकल्प नहीं था कि वो प्रेमचंद को छोड़ सके, लेकिन प्रेमचंद के लिए फिर भी रास्ता खुला हुआ था कि वो तीसरी शादी भी कर सकते थे| शिवरानी देवी यह जानकर तो रह सकती थी कि सिर्फ वो जानती हैं कि प्रेमचंद का किसी और स्त्री के साथ सम्बन्ध है| यह जानकर उनके लिए प्रेमचंद के साथ रहना आसान नहीं होता| प्रेमचंद यह जानते कि शिवरानी देवी यह जानते हुए भी मेरे साथ रह रही हैं| दोनों के लिए शायद असहज होता| स्त्रियां तो जानबूझकर भी इस मुगालते में रहती हैं कि उसका पति चाहे किसी और के साथ क्यों न रहता हो उससे भी प्रेम करता है| लेखिकाओं ने स्त्रियों के इसी भ्रम का पर्दाफाश किया है| बहुत-सी स्त्रियां यह जानते हुए भी फैंटेसी में रहती हैं, क्योंकि उन्हें पता रहता है कि इसके अलावा उनके पास और कोई विकल्प नहीं है| अत: अपने को भुलावे में रखना ज्यादा बेहतर समझती हैं| शिवरानी देवी जैसी स्त्रियां भी शायद यही कर रही थीं| शिवरानी देवी बाल विधवा थी| प्रेमचंद से उनकी दूसरी शादी थी| प्रेमचंद की भी शिवरानी देवी के साथ दूसरी शादी थी| अपनी पहली पत्नी को वो छोड़ चुके थे|

सवाल यह नहीं है कि प्रेमचंद अपनी पहली पत्नी को इसलिए छोड़ सकते है कि- 'वह बदसूरत तो थी ही| उसके साथ-साथ जुबान की भी मीठी न थी| यह इन्सान को और भी दूर कर देता है|' सवाल यह है कि जिस तरह से एक पुरुष को अपनी पत्नी छोड़ने का हक़ है और दूसरा विवाह करने का हक है| क्या वही हक एक स्त्री को हमारा समाज दे सकता है? क्या प्रेमचंद की पहली और दूसरी पत्नी को यह हक हासिल है ? क्या उनके पास यह विकल्प है कि वो अपने पति को इसलिए छोड़ सके कि उसका किसी और स्त्री के साथ सम्बन्ध है| अगर वह छोड़ भी देती है तो क्या उसे यह अधिकार प्राप्त है कि किसी और पुरुष के साथ विवाह कर सकती है या कोई पुरुष विवाह करने के लिए तैयार हो सकता है?

3.7 निम्नवर्गीय महिलाओं की समस्याएँ और पितृसत्तात्मक समाज :

औपनिवेशिक भारत में आमतौर पर शिक्षित मध्यमवर्गीय और उच्चवर्गीय महिलाओं की समस्याओं को केंद्र में रखकर ही रचनाएं की गई हैं| यह काफी हद तक सही भी कि

सामाजिक सुधार आंदोलन में स्त्री-प्रश्न के नाम पर उच्च मध्य वर्ग की स्त्रियों की समस्याओं पर ही समाज सुधारकों यहां तक कि महिला नेत्रियों और लेखिकाओं का भी ध्यान गया है| सती प्रथा हो, विधवा पुनर्विवाह की समस्या हो या स्त्री-शिक्षा का सवाल| उच्चमध्यवर्गीय परिवार की महिलाओं से संबंधित समस्याएं ही पूरे समाज सुधार आंदोलन के दौरान छाया रहा| यहां तक कि छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के दौर में भी मध्यवर्गीय महिलाओं की समस्या पर ज्यादा ध्यान दिया गया, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हाशिये की महिलाओं की समस्याओं को बिल्कुल ही नहीं उठाया गया|

निम्नवर्ग की महिलाएं औपनिवेशिक काल में चर्चा की विषय क्यों नहीं बन पायी? एक बात, तो यह है कि आलोचकों, इतिहासकारों और नारीवादियों ने अपने अध्ययन का दायरा मध्यवर्गीय स्त्रियों के शोषण तक ही सीमित रखा और दूसरी बात, यह है कि जहां महिला रचनाकारों की तरफ आलोचनकों का ध्यान ही नहीं जाता वहाँ यह उम्मीद करना कि निम्नवर्ग की महिलाओं से संबंधित रचनाओं को प्रकाश में लाया जाए, शायद ही यह मुमकिन हो| इतिहासकार और यहां तक कि नारीवादियों ने भी उच्चवर्ग की महिलाओं से संबंधित रचनाओं के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया| स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में ब्रिटिश विरोधी आंदोलन में उच्चवर्ग की स्त्रियों की भागीदारी ज्यादा रही है| समाज सुधारक कार्यों में भी इन्हीं वर्गों के स्त्री-पुरुष प्रमुखता से शामिल थे| दलित और स्त्रियों के लिए संघर्षरत भीमराव आंबेडकर को भी काफी समय तक इतिहासकारों और आलोचकों ने गंभीरता से अध्ययन के दायरे में लाने का प्रयास नहीं किया| जहां तक इस दौर में महिला-लेखन की बात है, तो ज्यादातर लेखिकाएं उच्चमध्यवर्गीय परिवार से ताल्लुक रखने वाली थी| जिससे उनकी रचनाओं में भी मध्यवर्गीय परिवार की समस्या ही आ सकी है| इन सबके बावजूद इस दौर की हिंदी लेखिकाओं ने कम संख्या में ही सही गरीब और हाशिए के समाज की स्त्रियों की समस्याओं पर भी लिखने की कोशिश जरूर किया है|

जिस तरह से मध्यवर्गीय समाज में पितृसत्ता का वर्चस्व रहता है, उसी तरह से हाशिये की महिलाएं भी दोहरी पितृसत्तात्मक वर्चस्व से पीड़ित हैं | भले ही इस तरह की रचनाओं की

संख्या ज्यादा नहीं है, लेकिन एक कोशिश और शुरुआत के रूप में उनकी रचनाओं को अध्ययन के दायरे में लाने की जरूरत है| चंद्रवती ऋषभ सैन जैन की कहानी 'झीकती भिखारिन' एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जो भीख मांग कर अपना गुजारा करती है| इसी सिलसिले में उसे एक दिन दूसरे भिखारी सूरदास से मुलाकात होती है और दोनों एक साथ पति-पत्नी की तरह ख़ुशी-ख़ुशी रहने लगते हैं| झीकती भिखारिन सूरदास की आदर्श पत्नी की तरह देखभाल करती है| दोनों अपनी जिंदगी में खुश हैं| अचानक एक दूसरी भिखारिन परी सूरदास की जिंदगी में दाखिल हो जाती है| हमारे समाज में सुन्दर स्त्री का मिथक कुछ इस कदर लोगों के दिलों दिमाग में हावी है कि काले और बदसूरत पुरुष को भी सुन्दर और जवान स्त्री ही चाहिये| सूरदास, जो देख नहीं सकता है उसके लिए भी स्त्री का सुंदर होना वैसे ही मायने रखता है जिस तरह से एक शारीरिक रूप से सक्षम और देखने वाला व्यक्ति के लिए| पहली बार जब सूरदास परी का जिक्र सुनता है कि "भूतनी क्यों! कमबख्त परी है परी|' तो यह शब्द उसके कानों में गूंजने लगता है| परी के मुख से जब सूरदास यह सुनता है कि झीकती बुढ़िया है और सुंदर भी नहीं है तो उसकी तरफ से सूरदास का मन अपने आप ही भागने लगता है| अब बिना मतलब उस पर रोज गालियां पड़ती है-

'लुटाता हूं तो अपनी कमाई| तेरे क्या बाप का माल है| यह सुनना उसके लिए एक साधारण बात हो गई|' उस दिन झीकती का नारी हृदय भी विद्रोह कर उठा- 'मेरे बाप का माल नहीं है, पर मैं रात-दिन हाड़ जो पेलती हूं और आज तुम्हें परियां लिपटने लगी है| वह दिन याद नहीं जब तुम ठोकर खाया करते थे|'[178]

लेखिका आगे लिखती हैं कि-

"सूरदास का पौरुष भी खेल गया| उसने अपने मजबूत हाथों से झीकती का बेड़ी संहार करते हुए कहा-"कल से यहां हाड़ पेलने की जरूरत नहीं है|"[179]

इस तरह सूरदास की जिंदगी से झीकती का अवसान हो जाता है और उसकी जिंदगी में सुंदर, कोयल की आवाज की तरह मीठी बोलने वाली परी दाखिल हो जाती है| जाहिर है कि

---

[178] चन्द्रवती ऋषभ सैन, जैन, नींव का ईट, जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) संस्करण अगस्त 1942 पृष्ठ 20

[179] वही, पृष्ठ 20

पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों का वर्चस्व, पुरुष मात्र होने से ही कायम हो जाता है| पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने की वजह से स्त्रियों के शोषण का अधिकार सभी पुरुषों को अनायास ही प्राप्त है| चाहे वह अंधा हो, लंगड़ा हो, धनी हो या गरीब| महिलाओं के लिए अपना कोई घर या ठिकाना नहीं है| बेघर और लाचार गरीब पुरुष भी जब चाहे अपनी जिंदगी और घर से अपनी पत्नी और प्रेमिका को बेदखल कर सकता है| एक अंधे पुरुष के लिए भी स्त्री का सुंदर और जवान होना मायने रखता है|

वैसे तो औपनिवेशिक काल में मध्यवर्ग की स्त्रियों की समस्याओं पर ही सबसे ज्यादा लिखा गया है, लेकिन गिने चुने ही सही इस दौर की लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं का विषय निम्नवर्ग की स्त्रियों को भी बनाया है| संपन्न घरों में नौकरानी का काम करने वाली स्त्रियों के साथ किस तरह से व्यवहार होता है, इसे हीरादेवी चतुर्वेदी ने अपनी एकांकी 'माटी की मूरत' में एक सम्पन्नघर में काम करने वाली नीला का चित्रण किया है| लेखिका ने दिखाया है कि किस तरह से थोड़े से पैसे देकर उनके श्रम का ज्यादा से ज्यादा शोषण किया जाता है| ना केवल कल कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के श्रम का पूंजीपति और जमींदार शोषण करते हैं और कम मजदूरी देते हैं बल्कि धनी और संपन्न घरों में काम करने वाली महिलाओं का भी शोषण किया जाता है| अगर महंगाई के नाम पर उनके वेतन में इजाफा भी कर दिया जाता है, तो काम करने का समय दोगुना कर के उनके श्रम का शोषण किया जाता है| रूपा की सहेली हेमा जब कहती है कि अब तो दो पैसे महंगाई के अधिक देने लगी है मालकिन| इस पर रूपा मालिकों की दरियादिली और उसके पीछे छिपे चालाकी को समझाते हुए कहती हैं कि –

"हां बहन! महंगाई के नाम पर जो अधिक मिलने लगे हैं वही तो वसूल किए जाते हैं| पहले जहां शाम होते ही मां को छुट्टी मिल जाती थी अब दीया- बत्ती हो जाने पर भी मां का काम पूरा नहीं हो पाता| कभी-कभी तो रात के दस बजे लौटती है| पहले केवल बच्चों को ही घुमाने फिराने का काम था लेकिन अब तो घर के ढेर सारे ऊपर से काम लिए जाते है| महंगाई के

नाम पर जो कुछ भी यह बड़े आदमी देने लगते हैं| कहा जाता है कि नौकर की गरीबी पर तरस खाकर दी गई है|"[180]

'माटी की मूरत' में दो पीढ़ियों के विचारों में आए बदलाव की झांकी भी देखने को मिलती है| रूपा की माँ, जहां अपनी मालकिन की हरेक बात, वह गलत ही क्यों ना हो आंख बंद कर चुपचाप सुनती रहती है| माटी की मूरत बनी रहती है, लेकिन रूपा शोषण के तरीकों और चालाकियों को समझती है| वहीं मालकिन सविता देवी की बेटी रम्भा भी उदार विचारों वाली है| बात-बात पर नीला को डांट देने पर वह अपनी मां को मना भी करती है| रूपा रंभा और हेमा यह तीनों लड़कियां आधुनिक विचारों से प्रभावित है| शायद यह लड़कियाँ उस आने वाली पीढ़ी की आहट हैं जो आने वाले समय में शोषण को कम कर सकता हैं|

नौकरों के मन में अपने मालिक के प्रति वफादारी करने का जो नैतिक दबाव है वह अब स्वाभिमान में बदल चुका है| उनके अंदर भी आत्मसम्मान की ललक पैदा हो गई है, लेकिन मालिकों में उन्हें बराबर का दर्जा देने की चेतना अभी भी नहीं आई है| वो नौकरों के साथ दया और उदरता बरतने का ही विचार रखते हैं| रंभा का यह कहना कि-

"उसका भाग्य मेरे भाग्य की तुलना में हीन है, तब हमें उसके प्रति और सहानुभूति से काम लेना चाहिए| परमात्मा ने यदि हमें संपन्न बनाया है तो इन गरीब मजदूरों पर दया करना ही हमारी मानवता का आदर्श हो सकता है| इनकी तनिक-तनिक-सी गलतियों पर झुलाने में नहीं बल्कि क्षमा कर देने में ही हमारी शालीनता है|"[181]

जाहिर है कि मालिकों में कुछ हद तक ही परिवर्तन होना शुरू हुआ है| इंसान होने के नाते सभी मनुष्य बराबर हैं| जात–पात, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब होने से किसी को किसी का शोषण करने का अधिकार नहीं मिल जाता है| यहां पर दया और उदारता दिखाने की बात नहीं बल्कि बराबरी का प्रश्न है| रूपा एक स्वाभिमानी और आत्मसम्मान वाली लड़की है| जब सविता देवी मेले में सामान चोरी होने पर रूपा को दोषी ठहराती है तो उसकी माँ नीला में भी आत्मसम्मान की झलक देखी जा सकती है| नीला अपनी मालकिन से झूठी

[180] हीरादेवी चातिर्वेदी, (मती की मूरत) रंगीन पर्दा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 70

[181] वही, पृष्ठ 74

माफी मांगने की जगह नौकरी छोड़ कर चली जाती है| माटी की मूरत में भी अब जान आ चुकी है जिसे आसानी से अपमानित नहीं किया जा सकता है| नीला भरे गले से कहती है कि–

"आप और अधिक नाराज ना हो, मालकिन! मैं यह चली|"[182] जाहिर है कि माटी की मूरत में अब जान आ चुकी है जो झूठे इल्जाम पर माफी नहीं मांगेंगी|

हीरादेवी चतुर्वेदी ने अपनी एकांकी 'शंखनाद' में मजदूरों के आंदोलन को विषय बनाया है| दिनेश समाज में आमूलचूल परिवर्तन लाने के पक्ष में है, तो उसकी बेटी करुणा का विचार भी अपने पिता के समान ही है| वह मानती है कि-

"यह समाज व्यवस्था जब तक आमूल बदल नहीं दी जाती, तब तक मनुष्य का कल्याण नहीं|"[183] भारतीय मजदूर भी कार्ल मार्क्स के विचारों से काफी प्रभावित हैं| सिर्फ मजदूर पुरुष ही समाज में परिवर्तन लाने और अपने प्रति हो रही ज्यादतियों के बारे में बातचीत नहीं कर रहे हैं, बल्कि स्त्रियां भी सामाजिक आंदोलनों और कार्ल मार्क्स के बारे में बातचीत कर रही हैं| सारन्धा, शीला और करुणा भले ही गरीब हो, लेकिन उन्हें भी कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के बारे में जानकारी है| समाज की वर्तमान समस्याओं से वह भी दो-चार हो रही थीं| समस्याओं पर विचार-विमर्श कर रही थी| शीला का यह कहना कि- "काम करने वाले को जब उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक नहीं मिलेंगे तो यह समाज व्यवस्था कितने दिन तक टिक सकेगी? कभी ना कभी विद्रोह का विस्फोट होकर ही रहेगा और काम करने वालों की मजदूरी की विजय भी होगी|"[184]

कमला चौधरी अपनी कहानी 'लाल कुर्त्ता' में एक मजदूर और गरीब माँ की कठिनाइयों को बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाने की कोशिश की है| कमला चौधरी बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहती हैं कि –

---

[182] हीरादेवी चतुर्वेदी, (माटी की मूरत) रंगीन पर्दा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 84

[183] वही, शंखनाद, पृष्ठ १०९

[184] हीरादेवी चतुर्वेदी, (शंखनाद) रंगीन पर्दा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 111

"गरीबों की भूख ऐसी ही होती है, जिस दिन उनके पास कुछ खाने को नहीं होता उस दिन उन्हें भूख नहीं लगती|' तू तो छोटा है इसलिए तुझे भूख लगती है और मुझे भूख नहीं लगती| बच्चे ने घबराकर मां से कहा- तो तुम भी छोटी क्यों नहीं हो जाती|'[185]

'लाल कुर्ता' कहानी में कमला चौधरी ने मालिकों के शोषण और उनकी अमानवीयता को उजागर किया है कि किस तरह से मालिक और पूंजीपति वर्ग मजदूरों को पूरी मजदूरी भी नहीं देते हैं और तरह-तरह की दलीलें देकर उनकी मजदूरी के पैसे भी काटने से परहेज नहीं करते| सुलोचना की मजदूरी मात्र इसलिए काट ली जाती है क्योंकि-

"एक दिन तुम घंटा भर देर करके आई थी और एक दिन आधा घंटा| ऐसा ही इस हाजिरी-बही में कई बार लिखा है| कुल मिलाकर तुम आधा दिन गैरहाजिरी हो| तुम्हारी इस गैरहाजिरी के नौ पैसे कटेंगे|"[186]

गरीबों और मज़दूरों के साथ मालिक किस तरह क्रूरता से पेश आते हैं| उनकी गरीबी के कारण कोई भी उनके साथ अमानवीय व्यवहार कर सकता है| पुलिस प्रशासन भी झूठे चोरी के इल्जाम में थाने में बंद कर सकता है, मार सकता है, क्योंकि वह गरीब है| कमला चौधरी ने अपनी कहानी 'प्लानचेट' में कहती हैं कि– 'गरीब में भी जान होती है और उसे भी कष्ट और दुख होता है|'

पितृसत्तात्मक समाज में चाहे गरीब की स्त्री हो, चाहे अमीर घर की स्त्री, दोनों को ही पुरुष वर्चस्व का सामना करना पड़ता है| दोनों ही अपने-अपने पति के अधीन रहने और शोषित होने के लिए मजबूर हैं | कमला चौधरी की कहानी 'श्रमी की अभिलाषा' में अमीर और गरीब घर की महिलाओं की दुर्दशा और उनकी पराधीनता का चित्रण किया गया है| मोहनिया का पति मस्ता बहुत जल्द अमीर होने का सपना देखता रहता है| उसे जल्दी अमीर बनने का धुन सवार था| एक दिन जब वह भट्टी पर मछली बेचने गया तो, क्या देखता है कि एक नटिनी कहीं से आई है| शराबी लोग उसके नाच पर लट्टू है| जो इधर कभी नहीं आते

---

[185] कमला चौधरी, उन्माद,(लाल कुर्ता), साहित्य सेवा सदन, मेरठ 1934 पृष्ठ 4

[186] वही, पृष्ठ 4

वो भी पतंगों की भांति उसके नाच पर मंडरा रहे हैं| रुपया, अठन्नी, चवन्नी की वर्षा हो रही है| मस्ता के दिमाग में आया कि वह अपनी पत्नी को भी इसी काम में लगा दे तो वह बहुत जल्द ही रुपए वाला बन जाएगा, लेकिन उसकी पत्नी इससे इंकार कर देती है| 'अपना कार्य सिद्ध होते न देख मस्ता ने मोहनिया को मारते-मारते अधमरा कर दिया'[187]

मोहनिया अपने बिरादरी वालों से सहायता मांगने की कोशिश करती है, लेकिन वहां उसे निराशा ही हाथ लगी| इसके बाद वह सेठानी जी के घर यह उम्मीद करके जाती है कि वहां पर उसे सहायता जरूर मिलेगी, लेकिन पराधीन सेठानी जी पति से सिफारिश करने के सिवा और कर ही क्या सकती थी? यो सेठजी चाहे इस काम में हाथ न डालते, मगर एक युवती और सुंदर स्त्री से बात करने का लोभ छोड़ न सके| सेठानी जी से सुन ही चुके थे कि वह –"बड़ी खूबसूरत है|"

सेठ जी के घर में काम करने के बाद मोहनिया को मालूम चला कि वह तो कहीं भी सुरक्षित नहीं है| चाहे पति का घर हो या बाहर का समाज| लेखिका कहती है कि –

"इस हिंदू समाज के वातावरण में पले हुए पुरुष स्त्रियों के सतीत्व की कैसी रक्षा करना जानते हैं; नीच जाती की गरीब मस्ता ही नहीं, उच्च जाति के सम्पतिशाली, सभ्य समाज के सेठ भी मस्ता से कम नहीं है| उनकी आंखें भी स्त्री की इज्जत का मूल्य उतना ही आंकती है,जितनी मस्ता की|"[188]

मोहनिया यह सोचकर कि सेठानी जी सेठजी के कुत्सित निगाहों से उसकी रक्षा तो जरूर करेंगी, लेकिन "भोली मोहनिया क्या जाने उसी की भांति सेठानी जी भी तो पति के अधीन है| जिस प्रकार अपने छोटे घर में मोहनिया पराधीन हैं, इस बड़े घर में सेठानी जी भी कैद हैं| दोनों की एक ही स्थिति है| कुछ भी अंतर नहीं| मोहनिया फिर भी कुछ आजाद है| अपना दुखड़ा तो सेठानी जी तक रो आई| उन्हें इतनी भी आजादी नहीं है कि इच्छा होने पर वह

[187] कमला चौधरी,(श्रमी की अभिलाषा) उन्माद, साहित्य सेवा सदन मेरठ, प्रथम संस्करण 1934, पृष्ठ 134

[188] वही, पृष्ठ 136-137

मोहनिया के पास जाकर रो भी सके| जो बेचारी अपनी रक्षा नहीं कर सकती वह मोहनिया की रक्षा क्या करेगी?

अब मोहनिया ने देख लिया कि उसका पति पैसे के लिए उस पर अत्याचार करता है और सेठ जी मस्ता से भी चार कदम आगे हैं| अय्याशी के लिए अपनी पैशाचिक वृति को तृप्त करने के लिए अपनी गृहलक्ष्मी पर अत्याचार करते हैं, उससे सहायता चाहते हैं, अपने पाप का भागी उसे भी बनाना चाहते हैं |"[189]

इस तरह मोहनिया सेठ के घर से भी चली आती है और फिर से अपने पति की क्रूरता और उसकी मार खाने के लिए मजबूर हो जाती है| अब उसे ईश्वर पर एकमात्र भरोसा था, लेकिन "अबला का करुण-क्रंदन शायद ईश्वर भी नहीं सुनता| उसे भी स्त्रियों पर दया करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती|"[190] मोहनिया ने जब सेठ जी के कुत्सित कामनाओं को पूरा करने से मना कर दिया और वहां से नौकरी छोड़ कर वापस अपने घर आ गई तो सेठ जी ने चोरी के इल्जाम में उसके पति को पकड़वा दिया और इस शर्त पर मस्ता को छोड़ने पर राजी होता है कि अगर वह हां कह देगी तो मस्ता को पुलिस से छुड़वा सकता हूँ|

इस तरह मोहनिया का दोहरे स्तर पर शोषण होता है| वह अपने पति से प्रताड़ित होती ही थी| अमीरों के शोषण और अत्याचारों से भी वह नहीं बच पाती है| यहाँ पर मोहनिया पितृसत्तात्मक समाज के शोषण के शिकार के साथ ही जाति के वर्चस्व की भी शिकार होती है| आज का दलित नारीवाद भी कुछ इसी तरह की स्थापना करता है| नारीवादी इतिहासकार उमा चक्रवती भी निम्न जाति की स्त्रियों के शोषण को जाति आधारित मानती है| कमला चौधरी की इस रचना में आज के दलित नारीवाद की झलक देखी जा सकती है| मोहनिया अगर खुद को बचाने की कोशिश करती है तो उसके पति को फंसा दिया जाता है| इन दोनों ही स्थितियों में आखिर मोहनिया के साथ क्या हो सकता है यही ना कि-

---

[189] कमला चौधरी, (श्रमी की अभिलाषा) उन्माद, साहित्य सेवा सदन मेरठ, प्रथम संस्करण 1934, पृष्ठ 138

[190] वही, पृष्ठ 139

"एक दिन घुट-घुटकर सड़क के किनारे बच्चे को मरते देखेगी| उसे बिना कफन के द्फनायेगी, फिर स्वयं मर जाएगी| उसके जीवन का इससे बढ़िया अंत और हो ही क्या सकता है?"[191]

इस तरह लेखिका ने गरीब और अमीर घर की स्त्रियों की दयनीय स्थिति को जाति और पितृसत्ता के बरक्स रेखांकित किया है|

कमला चौधरी की कहानी 'प्रायश्चित' उस समय को देखते हुए बहुत ही क्रांतिकारी कहानी है| यह कहानी जाति-पांति के आडंबर, ऊंची जाति वालों की पोंगापंथी और दोहरे चरित्र पर एक सवाल खड़ी करती है | ऊंची जाति वालों को नीची जाति की स्त्रियों के साथ अनैतिक संबंध बनाने में कोई शर्म नहीं आती; उनका धर्म, उनकी जाति खतरे में नहीं पड़ती, लेकिन 'नीची जाति' वालों के हाथ से पानी पीने में या छू जाने से उनका धर्म खतरे में पड़ जाता है| सुखिया को सिर्फ इसलिए मार पड़ती है, क्योंकि उसने अपने हाथ से नवकुमार को पानी पिला दिया| वह भी नवकुमार के कहने पर| बुद्धो चमारिन सेठ जी के घर में काम करती है| उसकी बेटी सुखिया सेठ और बुद्धो की 'नाजायज' औलाद है| सेठ का लड़का नवकुमार आधुनिक विचारों का और छुआ-छूत, जाति–पांति का विरोधी है| वह सुखिया को पढ़ना-लिखना भी सीखाता है| जिससे सुखिया में भी आत्मचेतना का संचार होता है| 'सनातन धर्म सभा' वाले सुखिया के हाथ से पानी पिए जाने के कारण नवकुमार को प्रायश्चित करने के लिए बाध्य करते हैं ताकि वह पाप मुक्त हो जाए, लेकिन नवकुमार प्रायश्चित करने से मना कर देता है| वह सुखिया और बुद्धो को लेकर घर छोड़ कर समाज सेवा के लिए निकल जाता है -

"ऐसे समय में, निर्जन मैदान में, तीन प्राणी चले जा रहे थे- शहर की गंदी गलियों से दूर प्राकृतिक सौंदर्य का सत्संग करने के लिए, समाज की सड़ी-गली कुरीतियों से दूर स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने के लिए- उस समाज के पापों का प्रायश्चित करने के लिए, जो सदियों से मनुष्य के साथ पशुओं से भी गया-बीता व्यवहार करता रहा है, जो वास्तविक गुणों का

[191] वही, पृष्ठ 141

तिरस्कार करके दम्भ और आडम्बर की पूजा करता आ रहा है और जिसने मनुष्यों और मनुष्यों के बीच असमानता की एक भयंकर दीवार खड़ी कर दी है|"[192]

इस तरह स्त्री-लेखन में उच्चमध्यवर्ग की स्त्रियों की समस्याओं के साथ ही निम्नवर्ग की स्त्रियों की समस्याओं को भी उठाया गया है| आज के दलित नारीवाद की जो विचारधारा है उसका उत्स उस दौर की महिला-लेखन में भी देखने को मिलता है| इसके अपने अंतर्विरोध हो सकते हैं, लेकिन इसे दलित नारीवाद के सन्दर्भ में भी देखने की जरूरत है|

3.8 स्वतन्त्रता-आन्दोलन 'कारागार' और स्त्रियाँ :

1920 के दशक में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चला साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन सार्वजनिक-क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी को सुनिश्चित करने का विशेष आधार बना| गाँधी के नेतृत्व में चला स्वतन्त्रता-आन्दोलन की खासियत यह है कि इसने बड़ी संख्या में स्त्रियों को बाहर की दुनिया के सम्पर्क में लाने का काम किया, जो कुछ दशक पहले शायद ही मुमकिन था| इससे स्त्रियों को बहरी दुनिया को देखने, सोचने और समझने का मौका मिला| गाँधी के नेतृत्व में चले आन्दोलन की दूसरी विशेषता यह थी कि स्त्रियाँ आन्दोलन में आसानी से भाग ले सकती थीं| पुरुष स्त्रियों को आसानी से साम्राज्यवादी आन्दोलन में भाग लेने की इजाज़त तो दे ही देते थे, नहीं तो जो महिलाएं इसमें हिस्सा लेना चाहती थी वो भी बड़ी आसानी से आन्दोलन की हिस्सा बन सकती थी| इसे शिवरानी देवी के 'प्रेमचंद घर में' अपने जेल जीवन से सम्बन्धी लिखी गयी घटना से समझा जा सकता है| शिवरानी देवी बगैर प्रेमचंद को बताये भी कांग्रेस के कार्यक्रमों में भाग लेती थी और 11 नवम्बर 1931 को पिकेटिंग करने के जुल्म में गिरफ्तार होकर जेल भी गयी|

जेल से आने के बाद प्रेमचंद और शिवरानी देवी के बीच हुए बातचीत से यह जाहिर होता है कि महिलाएं किस कदर देश की आज़ादी के लिए समर्पित थी-

[192] कमला चौधरी, (प्रायश्चित) उन्माद, साहित्य सेवा सदन मेरठ, प्रथम संस्करण 1934, पृष्ठ 195

"वह बोले– 'क्या यह तुम्हारी चोरी नहीं है? जहां-जहां काम होता था, पुलिस की लारी तुम्हारे साथ घुमती थी| और तुम मुझे हमेशा बहाना दे कर निकल जाती थी| यहां तक तुमने रोक दिया था कि तुम्हारा नाम तक अख़बारों में न जाय| क्या यह धोखा नहीं था?

मैं बोली– 'मैं डरती थी कि मुझे रोक देंगे और खुद जाएंगे| इसको धोखा भी कहा जा सकता है और पाप भी हो सकता है| मगर मैं मजबूर थी, मेरे दिल के अन्दर एक प्रकार की बेचैनी रहती थी कि आखिर मेरे घर से जेल कौन जाए, और जाना चाहिए ही था| बच्चे इस काबिल होते तो मैं पहले उनको ही भेजती| आपकी भी तो तंदुरुस्ती अच्छी न थी कि आप जाएं|"[193]

इस तरह से गाँधी के नेतृत्व में चला स्वाधीनता संग्राम स्त्रियों को आज़ादी की लड़ाई में भाग लेने और जेल जाने का एक नैतिक आधार प्रदान करता है| स्त्रियाँ इस कदर देश की स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने; देश की सेवा करने के लिए उत्सुक थी कि वो घर के सारे सुखों का त्याग करके भी जेल जाने के लिए तैयार थीं| इस मामले में वो पुरुष सत्याग्रहियों से पीछे नहीं थीं| कोई-कोई पुरुष तो अपने घर की स्त्रियों को सत्याग्रह-संग्राम में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित भी करते थे| जब उर्मिला देवी शास्त्री इस सोच में थी कि उन्हें अपने परिवार वालो से मिलने कश्मीर जाना चाहिए या सत्याग्रह-संग्राम में हिस्सा लेना चाहिए तो उनके पति उन्हें खुद निर्णय लेने और अपना कर्तव्य निश्चित करने को कहते है-

"उर्मिला क्या निश्चय किया है? अच्छी तरह सोच लो- एक ओर कर्तव्य है, तो दूसरी ओर सुख तथा विश्राम है, बताओं दोनों में किसे पसंद करती हो?" इस प्रश्न ने ह्दय में बल दिया, दैवी भावों ने सुख की अभिलाषा पर विजय पायी और मैंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया|"[194]

इस तरह उर्मिला देवी को 16 जुलाई 1930 को मेरठ में सत्याग्रह-संग्राम में भाग लेने, सभा को सम्बोधित करने और शराब इत्यादि की पिकेटिंग करके कानून का उल्लंघन करने के कारण जेल जाना पड़ता है और उन्हें छ: मास की जेल की सजा होती है| स्त्रियों का सत्याग्रह-

[193] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 154

[194] उर्मिला देवी शास्त्री, कारागार, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण 1931) प्रस्तुत संस्करण 1998, पृष्ठ 17

संग्राम में भाग लेना, शराब की दुकानों पर धरना देना और जेल जाना स्त्री-चेतना की दृष्टि से बेहद उल्लेखनीय तो है ही, इससे स्त्रियों में राजनैतिक चेतना का भी विकास होता था| स्त्रियों की उत्सुकता और त्याग करने की भावना उन्हें देश की आज़ादी की लड़ाई में मात्र पुरुषों की सहयोगी बनकर ही नहीं रह जाती है बल्कि स्वतंत्रता-आन्दोलन की स्वतंत्र कार्यकर्त्ता के रूप में खुद को स्थापित भी करती है| जेल के दिनों पर आधारित उर्मिला देवी द्वारा लिखित संस्मरण 'कारागार' के माध्यम से इसे बखूबी रेखांकित किया जा सकता है| उर्मिला देवी की शादी हुए अभी दस महीने भी नहीं हुए थे| उनकी उम्र भी अभी 21 साल के लगभग ही थी| लेकिन देश के प्रति उनका जज्बा बेहद भावनात्मक और त्यागमय था-

'13 जुलाई 1931 को मेरठ के टाउन हाल में विद्यार्थियों को संबोधित करने, शराब की दूकान पर धरना देने के कारण उर्मिला देवी पर पिकेटिंग आर्डिनेंस के तहत मुकदमा चलाया जाता है चूँकि वो लीडर थी अत: उन्हें छ: महीने की जेल की सजा सुनाई जाती है, जो इस धारा के अनुसार ज्यादा-से ज्यादा दी जा सकती थी| इसे वो आदालत में न केवल स्वीकार करती है बल्कि अपील करने से भी इंकार करती है और छ: महीने की सजा को ख़ुशी-ख़ुशी स्वीकार करती है|'[195]

स्त्रियों के लिए देश की स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेना मात्र राजनैतिक ही नहीं था बल्कि यह भावनात्मक भी था| जैसा कि उर्मिला देवी ने अपने जेल जीवन की घटना पर आधारित संस्मरण 'करागार' में लिखा है-

"दिल में ख्याल आया– अगर मैं ऐसा नहीं करती तो? आत्मा ने कहा बड़ा भारी पाप होता| तुमने अपनी माँ को प्यार किया| अगर यह गुनाह है तो दुनिया में पुण्य क्या हो सकता है? मैंने आत्माभिमान के साथ कहा; अगर इस इक्कीस साल की उम्र में कोई पुण्य किया है, तो वह यही है| मेरा चेहरा खिल उठा, दिल में उत्साह तरंगे उठाने लगीं, जोश में मैंने गुनगुना शुरू किया|

[195] वही, पृष्ठ 30-31

कौन कहता है जबरदस्ती से हम पकड़े गये|

कैद में हम खुद शौक़े, जेलखाना ले गया|"[196]

उर्मिला देवी ने अपने संस्मरण 'कारागार' में, जो जेल जीवन पर आधारित है, में देश के प्रति अपने कर्तव्य को किसी भी पूजा और पुण्य से कम महत्व की नहीं मानती| उनके लिए देश की स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेना और जेल जाना किसी भी पुण्य से कम महत्व नहीं रखता है| जैसा कि यह जाहिर है कि देश सेवा को महात्मा गाँधी ने पूजा के बरक्स परिभाषित किया था, स्त्रियों के लिए भी यह किसी पूजा से कम नहीं था|

स्त्रियों के त्याग को; उर्मिला देवी के त्याग को इससे भी समझा जा सकता है कि, जैसा कि उन्होंने उल्लेख्य किया है –

"मेरा जन्मस्थान इस पृथ्वी के स्वर्ग, कश्मीर में हुआ है| इस कारण गर्मियों के दिनों में हर साल कश्मीर रहने का मुझे अभ्यास था| यह मेरी पहली गर्मी थी| जो मैंने मैदान में काटी और वह भी जेल में, जहाँ गर्मी के साथ मच्छरों का भी अखण्ड राज्य था|"[197]

1930 और 40 के दशक में महिलाएं बड़ी संख्या में स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेती है| इस तरह से साम्राज्यवाद विरोधी-आन्दोलन स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र से जोड़ने; उनमें राजनैतिक चेतना का विकास करने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह करता है|

3.8.1 जातिगत भेदभाव, सम्प्रदायिकता और स्त्री :

जिस तरह से भारतीय समाज में उच्च-नीच का भेदभाव बरक़रार था, कुछ मामलों में स्त्रियाँ भी इसका पालन करती थी| स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाली ज्यादातर स्त्रियाँ कांग्रेसी नेताओं की पत्नी, माँ और बेटी थी| इसमें से अधिकांश उच्च जाति से सम्बन्धित स्त्रियाँ थीं| ऐसी स्थिति में जातिगत भेदभाव का व्यवहार जिस तरह से समाज में प्रचलित था,

[196] वही, पृष्ठ 29

[197] उर्मिला देवी शास्त्री, कारागार, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण 1931) प्रस्तुत संस्करण 1998, 20

स्वतंत्रता-आन्दोलन की कुछ नेत्रियाँ भी इसका पालन उसी तरह से करती थी| 'कारागार' में इस बात का संकेत मिलता है कि किस तरह से जेल जीवन में भी स्त्रियाँ जातिगत भेदभाव को मानती थी| खुद उर्मिला देवी शास्त्री इसका अनुसरण करती थी| जैसा कि अपने जेल जीवन पर आधारित संस्मरण 'कारागार' में उन्होंने उल्लेख किया हैं कि-

"जमादारिन एक बड़ी आयु की इसाई स्त्री थी, जिसका जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ था| मुझसे कहा गया – "यह स्त्री पैदाइश से ब्राह्मण है, आप चाहें तो इससे खाने में मदद ले सकती है|"[198]

इसके अलावा जैसा कि चारू गुप्ता ने अपनी किताब 'स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक' में 'पहरे पर महिला मनोरंजन' शीर्षक अध्याय में यह रेखांकित किया है कि किस तरह से समाज सुधारकों द्वारा लोक में प्रचलित लोकप्रिय नाच और गानों को अश्लील करार दिया जा रहा था-

"विद्वानों ने लोकप्रिय संस्कृति पर हमले और शुद्धतावाद के उदय की चर्चा की है| उदाहरण के लिए कुछ इतिहासकारों ने औपनिवेशिक बंगाल के दृश्य माध्यमों में महिलाओं के चित्रण में आ रहे नैतिकतावादी तेवरों की ओर हमारा ध्यान खींचा है| इसी तरह कुछ अन्य विचारकों ने शोध में बनारस की लोकप्रिय संस्कृति, जैसे रामलीला, होली और बढ़वा मंगल पर सुधारवादियों के हमले का जिक्र किया है|

इस तरह के सुधारवादी कदम सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाली हिन्दू राष्ट्रवादी भावना के करीब थे| इनमें से ज्यादातर सुधारक 'सम्मानीय' और ऊची जाति के नजरिए से अपने विचार रखते हुए शिक्षित मध्यम वर्ग को सुधारों का नेतृत्व करने का अनुरोध कर रहे थे| वे एक तरफ महिलाओं की देह और पवित्रता के बारे में चिंतित थे, तो दूसरी तरफ निम्न जातियों से दूरी बनाने के साथ-साथ उसका सुधार भी करना चाहते थे|

[198] पृष्ठ 21

महिला यौनिकता की किसी भी अभिव्यक्ति को नई राष्ट्रवादी व्यवस्था के लिए हानिकारक माना गया| हिन्दू सुधारवादी विचारों ने अश्लील गानों और त्योहारों को 'असभ्य', निम्न और अनैतिक समाज के साथ जोड़ते हुए एक सीधी रेखा खींच दी"[199]

इस तरह के विचारों से महिला राष्टवादी भी अछूती नहीं थी| अपने जेल जीवन को आधार बनाकर उर्मिला देवी द्वारा लिखा गया संस्मरण 'कारागार' में इस तरह के विचारों की झलक देखी जा सकती है| जैसा कि उर्मिला देवी ने अपने संस्मरण में जिक्र किया है-

"हमारी वार्डर को खुद भी नाच और गान का शौक था; वह खुद तो इसमें हिस्सा नहीं लेती थी, पर दूसरी कैदिनों का नाच और गान होने लगा| नाचने और गाने के भी ढंग होते हैं| ऐसा अश्लील नाच और गान अपनी आयु में क्यों देखने और सुनने को मिला थ? वैसे तो दुर्भाग्य से हमारे देश का कोई प्रान्त अश्लील गाने और सुनने से नहीं बचा होगा| पर यह अश्लीलता अभी तक गाँवों के गान और नाचों में कम, यहाँ तक कि नहीं के बराबर ही पायी जाती है| यह गुण तो शहरों में ही अधिक पाये जाते हैं| मेरे पिता आर्य समाजी विचारों के हैं, वह प्रत्येक बात और सिद्धांत को पूरी तरह अम्ल में लाने और उसका संस्कार अपनी संतान पर डालने का प्रयत्न करते हैं| मेरी स्वर्गीया माताजी भी इस काम में उनकी पूरी सहयोगिनी थीं| मुझे याद है- हमें कभी किसी शादी में गाने के स्थान पर नहीं जाने दिया जाता था| यहाँ तक कि विवाह के पूर्व मैंने एक भी ड्रामा थियेटर अच्छा या बुरा नहीं देखा था| किसी तरह के नाचादि के देखने का मौका क्या मिलता?"[200]

जाहिर है कि अश्लील गानों और नाच पर पाबंदी सिर्फ विचार के स्तर पर या सिर्फ प्रतीकात्मक स्तर पर ही नहीं रह गया था बल्कि राष्ट्रवादी परिवारों, आर्य समाजी परिवारों में इस पर सख्त पाबंदी थी| बच्चों को इससे दूर रखा जाता था| राष्ट्रवादी विचारों की महिलाएं भी नाच-गान को अश्लील मानती थीं तथा इसे घृणा की दृष्टि से देखती थीं| उर्मिला

[199] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और सम्प्रदायिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2012, पृष्ठ 81

[200] उर्मिला देवी शास्त्री, कारागार, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण 1931) प्रस्तुत संस्करण 1998, पृष्ठ 36

देवी भी इस तरह के नाच-गानों की सख्त विरोधी थी| यह संस्कार उन्हें बचपन से ही मिला हुआ था|

'कारागार' में इस बात की भी झलक देखने को मिलता है कि किस तरह से स्त्रियों को सम्प्रदायिकता को बढ़ाने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा था| इसकी शिकार विशेष रूप से महिलाएं हो रही थी| उर्मिला देवी ने लिखा हैं कि-

"मेरी बैरक में दो स्त्रियाँ और भी रहती थीं, एक तो घर से भागकर आयी थी, दूसरी धर्म परिवर्तन करने के कारण झगड़ा हो जाने से जेल भुगतनी पड़ रही थी|

वह एक ब्राह्मण की लड़की थी| इसके उत्पन्न होने के कुछ समय बाद उसके पिता ने मुश्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था| इसीलिए बड़े होने पर एक मुश्लिम पुरुष के साथ उसका विवाह कर दिया गया था, जो इसे बहुत मारा-पीटा करता था| इस तरह तंग आकर उसने हिन्दू से शादी कर ली, जहाँ उसे शुद्ध भी किया गया, और आपस में हिंदू-मुश्लिम झगड़े में उस स्त्री को छ: मास का दण्ड मिल गया, वह स्त्री कोई उत्तम संस्कारों की न थी|"[201]

यहाँ पर यह समझ से परे है कि हिन्दू-मुश्लिम झगड़ा करते है और सजा उस स्त्री को क्यों दी गयी है? जाहिर है कि हिन्दू और मुश्लिम दोनों ही स्त्री को अपनी सम्प्रदायिक तुष्टिकरण के लिए इस्तेमाल कर रहे होते है और कानून भी इसकी सजा स्त्री को ही देता है| उर्मिला देवी का संस्कार उन पर इतना हावी है कि उन्हें उस स्त्री के प्रति हुआ अन्याय दिखाई नहीं देता और न ही उस स्त्री के प्रति उनके मन में सहानुभूति का भाव जागृत होता है| उनकी दृष्टि में 'वह स्त्री कोई उत्तम संस्कारों की न थी' इसके कारण उनकी दृष्टि में भी वह उपेक्षा की अधिकारी थी|

इस सम्बन्ध में चारू गुप्ता ने अपनी किताब 'स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक' में लिखा है कि –

[201]वह, पृष्ठ 36

"मुसलमानों के साथ मतभेद पर जोर देने से हिन्दू एकता की परिकल्पना और हिन्दू समाज के गहरे जातीय तनावों पर लीपापोती करना भी सम्भव हो पाया| यहाँ पर फिर एक बार यौनिकता और लैंगिकता के सवाल केन्द्रीय थे| साम्प्रदायिक राजनीति को जोर पकड़ने में महिलाओं की देह का इस्तेमाल विशेष रूप से प्रभावकारी हुआ| आर्य समाज के महत्वपूर्ण सदस्य उत्तर प्रदेश के प्रमुख प्रकाशन घरानों और समाचार पत्रों के मालिक थे| इन प्रकाशनों के जरिए कई हिन्दू प्रचारकों ने मुसलमानों और इस्लाम के खिलाफ भारी अभियान शुरू किया जिसमें लैंगिक अभिव्यक्तियों को खासा इस्तेमाल किया गया|"[202]

"रोजाना के जातीय और धार्मिक तनावों के साथ-साथ महिलाओं पर विमर्श भी हिन्दू एकता के लिए एक व्यापक स्रोत बन रहा था|"[203]

चारु गुप्ता ने रोजालैंड के हवाले से यह जिक्र किया हैं कि –

"ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक ताकतों द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा बनाए रखने, सामाजिक विभेद मजबूत करने और जाति विशेषताओं पर जोर देने के लिए महिलाएं एक सशक्त माध्यम थी|"[204]

उर्मिला देवी शास्त्री एक कश्मीरी आर्य समाजी परिवार से आती थी| उनकी माता भी शुद्धतावादी विचारों को बड़ी तत्परता के साथ निभाती थी| उर्मिला देवी का संस्कार भी इन्ही परिस्थितियों में किया गया है| ऐसी स्थिति में उन पर शुद्धतावादी और साम्प्रदायिक तथा जातीय मतभेदों का प्रभाव पड़ना लाजिम है| उर्मिला देवी कहीं न कहीं इन सारी चीजों से प्रभावित जरूर थी| इसकी झलक हमें उनके संस्मरण 'कारागार' में देखने को मिलता है|

उर्मिला देवी को जितना अपने राजनैतिक कैदी होने पर गर्व था, सामान्य कैदियों से वह उतनी ही दूरी और उनकी संगति को बुरा समझती थी| उन्होंने उनकी स्थिति पर कभी भी

---

[202] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और सम्प्रदायिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2012, पृष्ठ 31

[203] वही, पृष्ठ 23

[204] वही पृष्ठ 29

सहानुभूतिपूर्वक सोचने और समझने का प्रयास नहीं किया| वो जेल में भी खान-पान में जातीय शुद्धता का ध्यान रखती थी| इसका एक कारण यह भी था कि, जेल में अच्छा खाना नहीं मिलता था और राजनैतिक कैदियों विशेष रूप से 'ए' क्लास के कैदी को यह छूट मिली हुई थी कि वह अपने घर से अपना खाना माँगा सकता था या जेल में ही अपने लिए खाना बना सकता था| जैसा कि उन्होंने लिखा हैं कि -

" पहले एक सप्ताह तक तो खाना बाहर से पक कर आता था, पर उसके बाद मैंने खुद बनाना शुरू कर दिया| अब कोई तकलीफ़ थी तो अकेलेपन की और उन स्त्रियों की बुरी संगति की|"[205]

लेकिन जेल में जाने वाली सभी महिला नेत्रियाँ इस तरह का ही विचार रखती हो यह भी सच नहीं था| सुधा चौहान ने अपनी माँ सुभद्रा कुमारी चौहान और अपने पिता लक्ष्मण सिंह की साझी ज़िन्दगी को आधार बनाकर लिखी गयी जीवनी 'मिला तेज से तेज' में सुभद्रा कुमारी के सम्बन्ध में एक वाकये का जिक्र करती है, जिसमें सुभ्रदा कुमारी की सहृदयता और उदारता का परिचय मिलता है| सुधा चौहान ने इस वाकये का जिक्र करते हुए लिखा हैं कि-

"एक बार पड़ोसी थानेदार साहेब की लड़की का ब्याह था| पास-पड़ोस के सब लोग खाने के लिए आमंत्रित थे| स्त्रियों की पंगत बैठी थी| कच्चा खाना परसा जा रहा था| पंगत में थानेदार साहेब की लड़कियों के साथ पढ़नेवाली उनके एक किरायेदार की लड़की भी आकर बैठ गयी| उस लड़की के जन्म के विषय में भांति-भांति के अपवाद थे| सुना जाता था कि उसकी माँ उसकी नानी को कही पड़ी हुई मिली थी| फिर उसकी माँ और पिता शास्त्रसम्मत विवाह किये बिना साथ-साथ रहते थे| ..अनाथ लड़की को उसकी नानी पाल-पोस रही थी|.. मकान मालकिन कुछ परोसती हुई आयीं और ज्योहीं उनकी नजर उस लड़की पर पड़ी उन्होंने उसे हाथ पकड़कर उठा दिया कि तुम जाओ बाहर बैठ कर खाओ| बेचारी नौ-दस साल की लड़की कुछ समझ तो पायी नहीं कि उसे क्यों उठाया जा रहा है, पर इस आचानक अपमान से क्षुब्ध

[205] चारु गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और सम्प्रदायिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2012, पृष्ठ 38

हकर रो पड़ी| माँ से यह अन्याय नहीं देखा गया| वे पंगत से उठी और लड़की को लेकर अपने घर आ गयीं, फिर घर में खाना पका और दोनों ने एक ही थाली में खाया| माँ के इस आचरण से महिला समाज में कैसी-कैसी भर्त्सना हुई होगी, उन पर क्या-क्या लांछन लगाये गए होंगे, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है| लेकिन जहाँ तक माँ की बात है, इस घटना से उन्हें एक बेटी और मिल गयी और उन्होंने इस सम्बन्ध को आजीवन निभाया"[206]

सुभद्राकुमारी चौहान भी स्वतन्त्रता- संग्राम की सक्रिय कार्यकर्ती थी| आन्दोलन में वह भी कई बार जेल में गयी थी| उच्च वर्ग से आती थी लेकिन उनके मन में या उनके व्यवहार से ऐसा कुछ प्रदर्शित नहीं होता था, जिसे जातीय और साम्प्रदायिक भेद -भाव की गंध देखने को मिले| अगर उस दौर में उच्च वर्ग की ऐसी स्त्रियाँ थी, जो जातीय भेद भाव को अपने व्यवहार में लागू करती थी, तो ऐसी भी स्वतंत्रता- आन्दोलन की नेत्रियाँ थी, जो सभी जाति और धर्म के लोगों के साथ मानवीय और सहानुभूतिपूर्व व्यवहार रखती थी|

सुधा चौहान सुभद्राकुमारी से सम्बन्धित एक और वाकये का जिक्र करते हुए लिखती है कि-

"माँ ने एक चमार लड़के को नौकर रख लिया था| 'माँ जी'[207] इस बात से इतना नाराज हुई, उन्होंने इतना बवण्डर मचाया कि बेचारे को एक ही दिन में अलग कर देना पड़ा| जो हाल माँ जी का था, वही हाल अधिकांश कांग्रेस जनों का था- अंतर था तो बस इतना कि माँ जी सभा-मंच पर खड़े होकर हरिजनोद्धार की बातें नहीं करती थीं|"[208]

जाहिर है कि उस दौर में हरिजनोद्धार पर भाषण तो दिया जा रहा था लेकिन अधिकांश समाज सुधारक व्यवहारिक रूप से छुआ-छूत का पालन करते थे| सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी कुछ महिला नेत्रियाँ ही करनी और कथनी में एक जैसा व्यवहार कर पाती थी| सुधा सिंह ने इस तरह के कई वाकये का जिक्र किया है|

---

[206] सुधा सिंह मिला तेज से तेज,हंस प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 2004, पृष्ठ 143

[207] माँ जी से यहाँ मतलब सुभद्रा कुमारी चौहान की सासु माँ से है|

[208] सुधा सिंह मिला तेज से तेज,हंस प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 2004, पृष्ठ 146

शिवरानी देवी 'प्रेमचन्द घर में' और स्त्री

19वीं और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैसे तो स्त्रियों ने ज्यादातर कथा साहित्य ही लिखा है| लेकिन अन्य विधा में भी उनकी रचनाएँ देखने को मिल जाती है| शिवरानी देवी का रचना संसार बहुत बड़ा नहीं है| उन्होंने दो कहानी संग्रह- 'नारी हृदय' (1932) और 'कौमुदी' (1937) की रचना की है| लेकिन उन्होंने हिंदी साहित्य के महान कथाकार माने जाने वाले प्रेमचंद के जीवन को आधार बनाकर 'प्रेमचन्द घर में' शीर्षक से प्रेमचंद की जीवनी भी लिखा है, जिसमे प्रेमचंद के साहित्यिक और पारिवारिक जीवन संघर्ष को बड़ी सादगी और ईमानदारी के साथ साहित्य जगत के सामने रखा गया है| इस जीवनी में शिवरानी देवी ने प्रेमचंद के व्यक्तित्व के उन अनछूवे पहलुओं को छूने का प्रयास किया है, जिसे शायद शिवरानी देवी ही छू सकती थी| इसमें विशेष रूप से प्रेमचंद के पारिवारिक जीवन की झांकियों के साथ साहित्यिक जीवन के संघर्ष उभर कर सामने तो आया ही है, इसमें प्रेमचंद की साहित्यिक महानता के साथ उनकी इंसानी कमजोरियां भी देखने को भी मिलती है, जो साहित्यिक आलोचना में शायद ही देखने को मिल सकता है|

इस जीवनी की महत्ता और जिस सादगी और सचाई से शिवरानी देवी ने प्रेमचंद के जीवन के अनमोल धरोहर को रचना के रूप में रूपायित किया है, उसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा हैं कि-

"प्रेमचंद जैसे उच्च कोटि के कलाकार के गृह-जीवन की झांकियां देखने के लिए पाठकों की इच्छा होना सर्वदा स्वाभाविक है और निस्संदेह हिंदी जगत के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि श्रीमती शिवरानी देवी ने इन झांकियां को बड़ी स्पष्टता, सहृदयता तथा ईमानदारी के साथ दिखाया गया है|"[209]

[209] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, श्रद्धांजलि

शिवरानी देवी के अलावा प्रेमचंद की जीवनी उनके पुत्र अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' (1962) और श्री मदन गोपाल ने 'कलम का मजदूर' (1964) लिखा है| शिवरानी देवी और अमृतराय के प्रेमचंद सम्बन्धी जीवनी के सन्दर्भ में डाक्टर रामचंद्र तिवारी ने लिखा है कि-

"दोनों ही उत्कृष्ट कृतियाँ है| अमृतराय का प्रयत्न श्लाघ्य है| उन्होंने हिंदी जीवनी साहित्य को ऊँचा उठाया है| शिवरानी देवी ने प्रेमचंद को परिवार के सन्दर्भ में देखा है और अमृतराय ने युग-जीवन के सन्दर्भ में|"[210]

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जीवनी साहित्य की विशेषता बताते हुए लिखा है कि यह- 'आरम्भ में सूचनात्मक तथा प्रकृति में उपदेशपरक होती है"[211]

लेकिन जहाँ तक शिवरानी देवी लिखित जीवनी का सवाल है, यह सूचनात्मक तो कहा जा सकता है उपदेशपरक बिल्कुल नहीं लगता| 'प्रेमचंद घर में' पढ़ते समय, यह कहीं नहीं लगता है कि यह उपदेशात्मक है| इसमें प्रेमचंद के साहित्यिक और पारिवारिक संघर्षों और तनावों के साथ ही शिवरानी देवी के व्यक्तित्व की भी झांकी देखने को मिलती है| अपने साहित्यिक कृतियों के माध्यम से आलोचकों के बीच प्रेमचंद जिस तरह से एक महान कथाकार/ साहित्यकार और विचारक के रूप में हमारे सामने आते है, 'प्रेमचंद घर में' उससे अलग, आम इंसान की तरह हम उन्हें देख पाते है| साहित्यिक जीवन में प्रेमचंद अगर एक सम्पूर्ण कथाकार है तो, पारिवारिक जीवन में एक आम इंसान की तरह ही अपने संघर्षों, कामयाबियों और कमजोरियों के साथ हमारे सामने आते है, जिनसे शिवरानी देवी ने बड़ी सहजता से साक्षात्कार कराया है|

इस जीवनी की एक और विशेषता यह है कि यह जीवनी मात्र प्रेमचंद की जीवनी नहीं है, बल्कि यह जितनी प्रेमचंद के जीवन की झांकियों से हमारा साक्षात्कार कराती है, उतनी ही शिवरानी देवी के व्यक्तित्व को भी पास से देखने का अवसर मिलता है| इसमें प्रेमचंद के विभिन्न पहलुओं को पास से देखने और समझने का मौका मिलता है तो, शिवरानी देवी के

---

[210] रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी, संस्करण, 2009, पृष्ठ 404

[211] रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी गद्य विन्यास और विकास,लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, तृतीय संस्करण 2006, पृष्ठ 157

चरित्र की विशेषता भी उजागर हुई है| इन सब में यह कहीं नहीं लगता कि शिवरानी देवी ने प्रेमचंद के जीवन की कठिनाइयों, उनके संघर्षों, उनकी उपलब्धियों और उनकी कमजोरियों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखने की कोशिश की है, जैसा कि प्रेमचंद को अक्सर उनके साहित्यिक बिरादरी में दिखने की कोशिश की जाती रही है| दूसरा यह कि शिवरानी देवी प्रेमचंद की उपलब्धियों पर उनकी पत्नी होने के नाते खुद को बहुत महान और सौभाग्यशाली दिखाने की कोशिश नहीं करती और न ही उनकी कमजोरियों को बढ़ा-चढ़ा कर और छिपाकर दिखाने की कोशिश करती हैं | इसके सम्बन्ध में शिवरानी देवी ने लिखा हैं कि -

"पुस्तक लिखने में मैंने केवल एक बात का अधिक-से अधिक ध्यान रखा है और वह है ईमानदारी, सचाई| घटनाएँ जैसे-जैसे याद आती गयी हैं, मैं उन्हें लिखती गयी हूँ| उन्हें सजाने का न तो मुझे अवकाश था और न साहस| इसीलिए हो सकता है कहीं-कहीं पहले की घटनाएं बाद में और बाद की घटनाएं पहले आ गई हों| यह भी हो सकता है कि अनजाने ही मैंने किसी घटना का जिक्र दो बार कर दिया हो| ऐसी भूल को पाठक क्षमा करेंगे| साहित्यिकता के भूखे पाठकों को सम्भव है इस पुस्तक से कुछ निराशा हो क्योंकि साहित्यिकता मेरे अन्दर ही नहीं है| पर मेरी ईमानदारी उनके दिल के अन्दर घर करेगी, यह मैं जानती हूँ; क्योंकि मैंने किसी बात को बढ़ा कर कहने की कोशिश नहीं की है, गोकि तीस साल तक उनकी ज़िन्दगी के हर दुख और सुख में उनकी साथी होने के नाते मैं जानती हूं कि अगर उनके गुणों के बखान करने में मैं तिल का ताड़ भी बनती तो भी उनके चरित्र की विशालता का पूरा परिचय न मिल पाता| पर मैंने तो सभी बातें, बगैर अपनी तरफ़ से कुछ भी मिलाये, ज्यों-की-त्यों कह दी है|"[212]

जैसा कि इस जीवनी में सिर्फ प्रेमचंद के व्यक्तित्व ही उभर कर सामने नहीं आया है बल्कि शिवरानी देवी का व्यक्तित्व भी उजागर हुआ है, अत: इन दोनों के व्यक्तित्व को ध्यान रखकर, विशेषरूप से स्त्रियों के विषय में इनका क्या नजरियाँ था, का संक्षिप्त मूल्यांकन

[212] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, दो शब्द

किया जाएंगा| अपने व्यक्तिगत जीवन में स्त्रियों के प्रति प्रेमचंद का क्या नजरियाँ था, स्त्रियों से वे किस तरह की उम्मीद रखते थे? इसे विशेष ध्यान में रखकर प्रेमचंद को देखने और शिवरानी देवी देखने का प्रयास किया गया है|

जहाँ तक शिवरानी देवी और प्रेमचंद के पारिवारिक पृष्ठभूमि और उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों की बात है तो, वह सम्बन्ध कुछ मतभेदों के बावजूद बेहद आत्मीय बना रहता है| विचारों के स्तर पर, विशेष रूप से स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रेमचंद और शिवरानी देवी के विचारों में अंतर और मतभेद देखने को मिलता है लेकिन यह मतभेद पति-पत्नी के बीच की आत्मीयता को खत्म नहीं करता| यहाँ प्रेमचंद का बेहद सीधा और शांत स्वभाव देखने को मिलता है तो, शिवरानी देवी बिल्कुल खरी और अक्खड़ रूप में हमारे सामने आती है| इस सम्बन्ध में बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा हैं कि –

"एक बात इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय से बिल्कुल साफ़-साफ़ जाहिर हो जाती है, वह यह कि श्रीमती शिवरानी का अपना अलग व्यक्तित्व है| उनमें विचार करने का और उन विचारों को प्रगट करने का साहस पहले से ही मौजूद रहा है|"[213]

प्रेमचंद का स्त्रियों से किस तरह की उम्मीद रखते थे, इसे 'प्रेमचंद घर में' 'बड़े बाबू' अध्याय से समझा जा सकता है| जैसा कि प्रेमचंद और शिवरानी देवी के बीच हो रहे खाने सम्बन्धी वार्तालाप से जाहिर होता है| मिसाल के लिए-

"मैं (शिवरानी देवी)- जब आपको खाना नहीं था तो रोने क्यों लगे?

वे (प्रेमचंद) 'अब तुम मुझे कैसे खिलाती हो? स्त्री में स्त्रीत्व ही नहीं; बल्कि मातृत्व भी होना चाहिए| जब तक वह भाव न हो, तब तक किसी से प्यार, पालन कुछ भी सम्भव नहीं|"[214]

यहाँ पर स्त्रीत्व और मातृत्व के म्बन्ध में प्रेमचंद के विचार को दो तरह से देखा जा सकता है| एक तो प्रेमचंद की बचपन और माँ के हवाले से| प्रेमचंद की अपनी माँ नहीं थी| बल्कि

[213] वही, श्रंद्धांजलि

[214] वही, पृष्ठ 24

सौतेली माँ थी| पारम्परिक रूप से जिस तरह सौतेली माँ के किरदार को रुढ़िबध्य किया गया है, प्रेमचंद की सौतेली माँ बिल्कुल वैसी ही माँ थी| एक बच्चे को जिस आत्मीयता, अपनेपन और लाड़-प्यार की जरूरत होती है, जिस मानसिक सहयोग की जरूरत होती है, प्रेमचंद के बचपन को वो नहीं मिल पाता है| शिवरानी देवी का प्रेमचंद को प्रेम और आत्मीयता के साथ खिलाने की भावना को और प्रेमचंद के इस मनोभाव को एक बच्चे के मनोविज्ञान के जरिए समझा जा सकता है| दूसरा, यह कि 'स्त्री में स्त्रीत्व ही नहीं मातृत्व भी होनी चाहिए', प्रेमचंद का यह विचार एक बच्चे का विचार नहीं हो सकता है| यह विचार तो एक पढ़े-लिखे समझदार तथा विचारवान व्यक्ति का ही हो सकता है, कि स्त्री को कैसा होना चाहिए|

उस दौर में स्त्रीत्व और मातृत्व का विचार कोई व्यक्तिगत विचार नहीं रह गया था, बल्कि यह विचार एक सामाजिक सच के रूप में परिभाषित किया जा रहा था| यहाँ प्रेमचंद एक स्त्री को उसी मातृत्व की छवि के रूप में देख रहे थे| स्त्रीत्व और मातृत्व के सम्बन्ध में प्रेमचंद का यह विचार जहाँ उनके अपने व्यक्तिगत भावनाओं के करीब है तो यह विचार सामाजिक स्थापना के भी करीब है, जो उस दौर का सच था और प्रेमचंद के लिए भी स्त्री का यही रूप सच है|

यहाँ शिवरानी देवी बिल्कुल पारम्परिक पत्नी की भूमिका में नज़र आती है| वो प्रेमचंद का ख्याल बिल्कुल वैसे ही रखती है जैसे की एक पारम्परिक पत्नी| लेकिन इस पारम्परिक पत्नी का स्वरूप आधुनिक विचारवान स्त्री के ज्यादा करीब है| इसे उस दौर के सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में अच्छी तरह से समझा जा सकता है| जैसा कि उस दौर की पढ़ी-लिखी अधिकांश महिलाएं एक ओर पारम्परिक महिला का किरदार बेहद सावधान होकर निभा रही थीं, तो आधुनिक विचारवान स्त्री के रूप में भी खुद को स्थापित करने की जद्दोजहद भी कर रही थीं| पुरुष भी अब पहले की तरह बदजबान और बात-बात पर स्त्रियों पर चिल्लाने वाला नहीं बल्कि उदारमना रूप में हमारे सामने आता है| प्रेमचंद अगर एक साहित्यकार के रूप में बेहद मानवीय और शांत व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आते है तो,

पारिवारिक स्तर पर भी बेहद शांत और नरम रूप में हमारे सामने आते है| सुधार-आन्दोलन के दौर में साहित्यकारों और सुधारकों के चरित्र की यह खास विशेषता थी|

प्रेमचंद और शिवरानी देवी के स्त्री सम्बन्धी विचारों को 'विवाह' शीर्षक अध्याय में देखा जा सकता है| इस अध्याय में प्रेमचंद और शिवरानी देवी के बीच प्रेमचंद की पहली शादी के बारे में बातचीत हो रही है| प्रेमचंद अपनी पहली शादी के टूटने और उसे न बचा पाने का कारण, शिवरानी देवी को बता रहे होते है| मिसाल के लिए-

"फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया| कई रोज का अरसा हो गया था| ऊंटगाड़ी से आना पड़ा, जब हम ऊंटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया| मैं इसके लिए तैयार नहीं था| मुझे झिझक मालूम हो रही थी| उमर में वह मुझसे ज्यादा थी| मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया|

मैं (शिवरानी देवी) – 'ठीक तो थीं| तुम भी सीधी गरीब को पाकर अपने को कुछ लगाते हो!'

'नहीं जी, बेशर्मी मुझे पसंद न थी| जो जितनी ही दूर रहता है, उसे उतना ही देखने के लिए दिल में कुतूहल होता है|'

(प्रेमचंद) अजी, तुम्हारे साथ पहले से मेरी शादी हुई होती तो मेरा जीवन इससे आगे होता|'

मैं (शिवरानी देवी) – जब तक इन्सान अँधेरी रात न देखे तब तक रौशनी की वकत उसे कैसे मालूम हो! तुम अपनी चाची के साथ मेरी भी मिटटी पलीद कर देते| फिर तुम्हीं ने कौन-सी मदद मेरी की| मुझे खुद इस घर में स्थान बनाना पड़ा| अपने लिए नहीं बल्कि आपके लिए भी|'

मैं (प्रेमचंद) – 'अच्छा तुम समझती हो कि मैं रहना नहीं जनता था?'

मैं –'पुरुष का यह काम है कि स्त्री को ब्याह कर लाये तो उसका मालिक बने|'

वे हंसकर बोले – 'अब तो मैंने आपको मालिक बना दिया|'

'मुझे मालिक बना दिया| एक की मिटटी-पलीद कर दी| जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा होती है| जिसे मैं बुरा समझती हूँ; वह हमारे ही यहां हो और हमारे हाथों हो| मैं स्वयं तकलीफ सहने को तैयार हूँ; परन्तु स्त्री जाति की तकलीफ मैं नहीं देख सकती| उसी का प्रायश्चित शायद मुझे भी करना पड़ेगा; हालांकि मैं बेगुनाह हूँ| मेरे पिता को मालूम होता तो आपके साथ मेरी शादी हर्गिज न करते|'

'वह बदसूरत तो थी ही| उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थी| यह इन्सान को और भी दूर कर देता है|'

मैं (शिवरानी देवी)- 'आप दावे के साथ कह सकते हैं कि आपका अपना चरित्र अच्छा था?- खामोश! जब आदमी खुद वैसा न हो तो दूसरे से आशा करना व्यर्थ है|'

(प्रेमचंद) 'मैंने उनको उनके घर पहुंचा दिया और खुद यहां रह गया| मेरी क्या ज्यादती?'

मैं- 'आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर में बैठी हैं| यह क्या स्त्रियों के साथ अन्याय नहीं है? मैं भी बदसूरत होती तो आप मुझे भी छोड़ देते| अगर मेरा बस होता तो मैं सब जगह ढिंढोरा पिटवाती कि कोई भी तुम्हारे साथ शादी न करे|"[215]

यहाँ पर प्रेमचंद बिल्कुल पारम्परिक पुरुष की भूमिका में नज़र आते है| वैसे स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रेमचंद जी का यह विचार उनके साहित्यिक स्त्री पात्रों पर भी लागू होता है| लेकिन प्रेमचंद को जैसे ही मालूम हुआ कि वह सुन्दर नहीं है साथ ही बेशर्म भी है तो, उनका रिएक्शन एक पारम्परिक पुरुष की तरह ही होता है| अपनी पसंद की शादी न होना, स्त्री या पुरुष के पसंद की शादी न हो पाना और इस आधार पर एक दूसरे से अलग हो जाना सही माना जा सकता है | लेकिन इस आधार पर, छोड़ने या अलग रहने का निर्णय लेने का अधिकार सिर्फ पुरुष को प्राप्त है, स्त्री को नहीं| चूँकि प्रेमचंद एक पुरुष है, अत: वो अपनी

[215]शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 25-26

पत्नी को छोड़ सकते है; बिना बताये कि मैं पहले से ही शादीशुद हूँ, दूसरी शादी भी कर सकते है लेकिन यह अधिकार और निर्णय लेने की इजाज़त स्त्री को नहीं है| प्रेमचंद की पहली पत्नी के साथ भी यही स्थिति है| उसकी इस स्थिति का अहसास प्रेमचंद को नहीं है| लेकिन शिवरानी देवी को है| तभी वो कहती है कि क्योंकि तुम पुरुष हो तो दूसरी शादी कर सकते हो लेकिन वो अभी भी बैठी हुई है| प्रेमचंद को अपनी पहली पत्नी की बदसूरती, बेशर्मी और उसके जबान का मीठा न होना, प्रेमचंद की नज़र में उसे छोड़ने के लिए यह सब काफी है लेकिन उन्हें अपनी गलती का अहसाह भी नहीं है| शिवरानी देवी इन सारी परिस्थितियों के लिए सिर्फ उनकी पहली पत्नी को ही दोषी मानने से इंकार करती है और प्रेमचंद की निर्दोषिता पर सवाल खड़ी करती है| उनके चरित्र को भी कटघरे में खड़ी करती है| प्रेमचन्द की नज़र में इसकी जिम्मेदार उनकी सौतेली माँ भी है| इस रिश्ते को जैसे-तैसे निभा भी लेते 'अगर बीच में चाची न होतीं तो शायद मेरी-उनकी ज़िन्दगी एकसाथ बीत भी जाती|'[216]

लेकिन अंत: तक प्रेमचंद अपनी पहली पत्नी के प्रति अपनी मानसिकता को बदल नहीं पाते है| उसकी स्थितियों से अनजान बने रहते है लेकिन शिवरानी देवी उसकी स्थिति से अनजान नहीं है| प्रेमचंद अपनी शादी को लेकर बेहद खुश थे- "मेरी शादी हुई| मैं अपनी शादी में बड़ा खुश था| मण्डप छाने के लिए बांस मैंने खुद काटा था|"[217] प्रेमचंद ने वही किया जो एक वर्चस्वशाली पुरुष करता है| यहाँ पर प्रेमचंद बिल्कुल एक इंसानी कमजोरियों के साथ हमारे सामने उपस्थित है, किसी महान साहित्यकार या विचारक के रूप में नहीं| शायद इसलिए भी क्योंकि कोई साहित्यकार होने के साथ-साथ इन्सान भी होता है; वह भी समाज का हिस्सा होता है| उसमे भी सामाजिक आच्छाईयों के साथ- साथ सामाजिक बुराइयाँ भी होती है| एक पुरुष के रूप में यह सामाजिक बुराई प्रेमचंद में भी देखी जा सकती है| लेकिन सवाल

[216] वही, पृष्ठ 27

[217] वही, पृष्ठ 25

तब उठता है जब आप एक उदार विचारक होने के बावजूद भी अपनी गलतियों और बुराइयों की जिम्मेदारी खुद पर न लेकर दूसरे को इसका जिम्मेदार मानते है|

प्रेमचंद की पहली पत्नी की जबान कर्कश होने की जिम्मेदारी क्या सिर्फ उसकी ही होगी? प्रेमचंद द्वारा उसे तवज्जों न देना क्या उसकी इस स्थिति के लिए जिम्मेदार नहीं है? शिवरानी देवी के साथ विवाह होने से पहले से ही प्रेमचंद का सम्बन्ध किसी और स्त्री के साथ था और शिवरानी देवी के साथ प्रेमचंद का विवाह हो जाने के बाद भी उनसे उनका सम्बन्ध बना रहता है| शायद यह सम्बन्ध प्रेमचंद की पहली पत्नी के रहते हुए ही बना हो और आजीवन बना रहता है| इसे प्रेमचंद अपने जीवन के अंतिम दिनों में शिवरानी देवी के सामने स्वीकार करते हैं -

"आप बोले-'अच्छा, एक और चोरी सुनो| मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल भी ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी| तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा सम्बन्ध था|'

मैं बोली- 'मुझे मालूम है"[218]

शिवरानी देवी का यह कहना कि –'क्या आप दावे के साथ कह सकते है कि आपका अपना चरित्र अच्छा था?' क्या इस बात की तरफ इशारा करता है कि शिवरानी देवी को इस बात का शक था कि प्रेमचंद का किसी महिला से सम्बन्ध उनकी पहली पत्नी के समय से ही चला आ रहा है? और जैसा कि प्रेमचंद भी स्वीकार करते है| क्या उसकी पहली पत्नी के रूखे व्यवहार का कारण प्रेमचंद के चरित्र का यह पहलू नहीं था?

शिवरानी देवी को एक स्त्री के प्रति हुए अन्याय का अंदाजा था| वह उसके लिए दुखी भी थी| उसे अपने साथ भी रखना चाहती थी| एक बार वो उनसे मिलती भी है| यहाँ शिवरानी देवी एक बेबाक और स्त्रियों के प्रति हो रहे अन्यायपूर्ण व्यवहार के खिलाफ़ हैं| इस चीज को वो प्रेमचंद की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह से समझती और इसका अहसाह करती है| स्त्रियों के प्रति प्रेमचंद के नजरिए और शिवरानी देवी के नजरिए का यही फर्क है| शिवरानी देवी के

[218] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, प्रकाशक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 295

नजरिए में यह फर्क कहाँ से आता है? क्या यह उनकी न्यायप्रियता या सच्चा होने या एक स्त्री होने दूसरी स्त्री की तकलीफों का अहसाह वो पुरुष की अपेक्षा ज्यादा स्वानुभूति के साथ कर सकती है, इस वजह से आता है? ये दोनों वजहें हो सकती है| लेकिन इसे उस दौर में चल रहे स्त्री-प्रश्न के आलोक में देखना ज्यादा सही होगा|

प्रेमचंद का उनके अलावा किसी और महिला के साथ भी सम्बन्ध है, इस बात को जानते हुए भी शिवरानी देवी चुप क्यों रहती हैं? जबकि वो स्त्रियों के प्रति हो रहे अन्याय का बेहद बेबाकी के साथ विरोध करती हैं| प्रेमचंद को भी आड़े हाथों लेती है| लेकिन अपने प्रति हो रहे अन्याय पर वह चुप क्यों थीं? इसे समझना शायद मुश्किल है| लेकिन इतना जरूर है कि हो सकता है कि चूँकि शिवरानी देवी बाल-विधवा थी| यह उनकी दूसरी शादी थी| अगर वो प्रेमचंद का विरोध करती, तो शायद उन्हें यह शादी तोड़ना भी पड़ सकता था| इसलिए नहीं की प्रेमचंद उनका ख्याल नहीं रख पा रहे थे बल्कि इसलिए कि शिवरानी देवी यह जानते हुए की उनके पति का सम्बन्ध किसी और महिला के साथ है और इसकी जानकारी शिवरानी देवी को है, जिसे प्रेमचंद भी जानते है उनके लिए रहना शायद और मुश्किल हो जाता| और उनके लिए शायद यह भी सम्भव नहीं था कि वो दोबारा अपने मायके में हमेशा के लिए पनाह ले सके?

3.10 स्त्री और 'रंगीन पर्दा' :

बीसवीं (पूर्वार्द्ध) शताब्दी के दौरान जब हिंदी भाषा और साहित्य में सृजनात्मक साहित्य की रचना की शुरुआत होती है, उस समय ज्यादातर लेखिकाओं ने कथा-साहित्य को अपनी अभिव्यक्ति की विधा के रूप में अपनाया है| कुछ ही लेखिकाएं साहित्य के अन्य गद्य रूपों को अपनी रचना के लिए प्रयोग करती हैं| लेकिन एकाध संख्या में ही सही लेखिकाओं ने गद्य के अधिकांश रूपों को अपनी रचना के लिए प्रयोग करती हैं| हीरादेवी चतुर्वेदी, जो 'मनोरमा' की सम्पादिका भी थी, ने कविता, कहानी, निबंध-संग्रह के साथ ही एकांकी विधा को भी अपनी रचनाओं के लिए अपनाया| 'रंगीन पर्दा' इनकी एकांकियों का संग्रह है जिसमें विभिन्न पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित एकांकी संकलित है|

हीरादेवी चतुर्वेदी के एकांकी के विषय-वस्तु के सम्बन्ध में प्रो. रामचरण महेंद्र ने लिखा हैं कि-

"आपके एकांकी नाटक उच्च और मध्य वर्ग की नाना समस्याओं से सम्बद्ध है, जैसे सभ्य समाज में शिक्षितों का मिथ्याचार, गरीबों की यातनाएँ, सचाई, शील आदि गुणों के प्रति उनकी विरक्ति, सभ्यता की छाया में पनपने वाली धोखेबाजी, तरुणाई के प्रवाह में की जाने वाली मूर्खताएँ, रोमांस के संसार में मधुरता के पीछे से झाँकने वाली कुरूपता, मिथ्या दम्भ, छल-छन्द माध्यम वर्ग का खोखलापन, सम्बन्धियों की पारस्परिक खटपट, साझे के व्यापार का दिवालियापन, नौकरों पर किए जानेवाले अत्याचार आदि समाज के मिथ्या व्यवहारों की आप आलोचक हैं और उनकी यथार्थता प्रकट करना आपका ध्येय है| सभ्य जगत की अनेक दुर्बलताओं के फोड़े पर आपने अँगुली रख दी है| इनके नाटकों में जीवन का वह पहलू पाते हैं, जिसके प्रति हम अनजान है| समाज का वह लड़खड़ाता पहलू आपने चित्रित किया है, जिसकी बुनियादें खोखली हो चुकी हैं|"[219]

हीरादेवी चतुर्वेदी ने अपनी एकांकियों के लिए किस तरह की विषय-वस्तु का चयन किया, इसे कुछ बिन्दुओं के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है-

3.10.1 शिक्षित स्त्रियों के प्रति लोगों की मानसिकता

इसके अंतर्गत हीरादेवी की दो एकांकी एक 'रंगा सियार' और दूसरा 'बड़ी बहु' को लिया जा सकता है| 'रंगा सियार' में एक ऐसे युवक रमेश का चरित्र- चित्रण किया गया है, जो पढ़ी-लिखी स्त्रियों को अपने झूठे प्रेम के जाल में फँसाकर; कुछ दिन उनके साथ रहने के बाद, छोड़कर चला जाता है| शिक्षिता स्त्रियों के प्रति उसकी कैसी मानसिकता है, इसे रमा के लिए रमेश द्वारा लिखी गई चिट्ठी के माध्यम से समझा जा सकता है| इसे रमा की सहेली कमला पढ़ कर सुनाती है, जिसमें लिखा हुआ है कि-

[219] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 5-6

“कमला- (पत्र पढ़कर) देखा, इस रंगे सियार को! लिख रहा है, अब मैं वापस नहीं आऊँगा| तुम आशा भी न करना| मैं अपने जीवन में यही खेल खेल रहा हूँ| पढ़ी-लिखी लड़कियों को बेवकूफ बनाने में मुझे आनन्द आता है| तरुणाई की लहरों पर बहकर तुम अपना विवेक खो बैठती हो न! मैं उसी का लाभ उठता हूँ, रमा!”[220]

यहाँ पर सवाल मात्र यह नहीं है कि तरुणाई की लहरों पर बहकर लड़कियां अपना विवेक खो बैठती है| सवाल यह है कि एक पढ़े-लिखे युवक द्वारा भी पढ़ी-लिखी, लड़की के साथ खुलकर बात करने वाली, अपनी पसंद नापसंद के अनुसार जीवन जीने वाली, अपनी ज़िन्दगी के अहम फैसले जैसे विवाह इत्यादि का निर्णय खुद लेनेवाली लकड़ियों को किस तरह से गलत समझा जाता है| रमेश मानसिक रूप से बीमार एक ऐसा पढ़ा-लिखा युवक है, जो लड़कियों को खासकर ,जो शिक्षित है, उन्हें इसलिए अपने प्रेम के झूठे जाल में फंसता है क्योंकि उसकी दृष्टि में पढ़ी-लिखी लड़कियां तरुणाई में अपना विवेक खो बैठती है| रमेश जैसे लड़के यह कभी नहीं समझ सकते है कि पढ़ी-लिखी लड़कियां तरुणाई में नहीं बल्कि अपने अहम फैसले खुद करने लगी है और यह कुछ रमेश जैसे मानसिकता वाले लड़कों के लिए सह्य नहीं है|

दूसरा, यह कि लेखिका ने इस एकांकी के माध्यम से लड़कियों को सोच-समझकर, देख-भालकर विवाह करने की नसीहत जरूर देने की कोशिश की है लेकिन इसका निर्णय वो लड़कियों के पास ही सुरक्षित रखती हैं| इसके माध्यम से लेखिका लड़कियों की तरुणाई को वश में रखने का नहीं बल्कि उन्हें यह समझाने की कोशिश करती है कि समाज में रमेश जैसे धूर्त और मक्कार लोग भी रहते है जो प्रेम के नाम पर लड़कियों के साथ विश्वासघात करने से बाज नहीं आते| अत: रमेश जैसे युवकों से सावधान रहने की जरूरत है|

रमा की सहेली कमला जब रमा को समझाते हुए कहती है कि-

[220] वही, पृष्ठ 27

"कमला- बुरा न मानना, रमा! कदाचित यही कारण है कि हमारे माता-पिता वर का चुनाव स्वयं करते है, और लड़कियों की इच्छा- अनिच्छा की परवा नहीं करते|[221]

इस पर रमा प्रेम में छले जाने के बावजूद भी इस बात से इतेफाक नहीं रखती है और कहती है कि-

"रमा - इन रँगे सियारों से कुमारियों की रक्षा का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह ठीक है| परन्तु अधिकांश कुमारियों का जीवन इस प्रथा के कारण सुखी नहीं रहता, कमला!"[222]

जाहिर है कि लेखिका धूर्त पुरुषों से सावधान रहने की सलाहियत तो देती है लेकिन विवाह का निर्णय लड़कियों का खुद का होना चाहिए इसका विरोध नहीं करती है|

इनकी दूसरी एकांकी 'बड़ी बहु' में एक पढ़ी-लिखी स्त्री के प्रति उसके ससुरालवालों की कैसी मानसिकता है; उसके बारे में किस तरह से धारणा बनाकर बैठे हुए है, इसी को लेखिका दिखाना चाहती है| अगर पति अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करता है, तो इसका भी दोष पत्नी को दिया जाता है; कि उसके बहकावे में आकर ही वह अपने माता-पिता की देखभाल नहीं करता है| अगर पति कुमार्ग पर है, तो पत्नी की यह जिम्मेदारी बनती है कि वह उसे सन्मार्ग पर लाये| विमला मध्यवर्गीय परिवार की एक संस्कृत पढ़ी-लिखी बहु है| वह बहुत शिष्टाचार और सभ्यता से पेश आती है लेकिन पड़ोसियों और उसकी सास को उसकी इस शिष्टचारिता में भी स्वांग नज़र आता है –

"मीरादेवी (विमला की सास)- विमला, तुम रसोई में जाकर चाय तो बनावा लाओ|

विमला- अभी लाई माताजी! (विमला का प्रस्थान|)

मनोरमा- संस्कृत पढ़ी-लिखी है न! संस्कृत वाले बहुधा शिष्टाचार से दूर रहते हैं|

[221] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 24
[222] वही, पृष्ठ 24

मीरादेवी- और यदि शिष्टाचार का स्वांग रचते हैं तो, ऐसा कि संसार में उनके समान नम्र और सभ्य अन्य किसी व्यक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती|"[223]

विमला का पति गिरीश जब अपने माता-पिता की देखभाल और कहना नहीं मानता है तो इसका भी दोष विमला को दिया जाता है –

"गिरीश स्वयं कृतघ्न तो है ही, परन्तु उसे इस प्रकार विवाह के एक वर्ष के भीतर ही कृतघ्नता का विस्फोट करने औए मार्गभ्रष्ट करने में इस बड़ी बहू का ही हाथ होना चाहियें बहिन!

मीरादेवी- सब की यही धारणा है|"[224]

जाहिर है कि किस तरह से बहू को ही सभी बातों के लिए दोषी करार दिया जाता है| बहुओं के प्रति यह मानसिकता आज भी देखी जा सकती है|

3.10.2 देश सेवा और स्त्री :

हीरादेवी की दूसरी एकांकी 'मुंह दिखाई' में एक ऐसी लड़की कमला का चरित्र-चिरत्र किया गया है जो ,जो शादी के बाद मुँह दिखाई की रस्म में मिली अपने सारे आभूषण, पैसे और तोहफ़े को गाँधी-स्मारक–कोष में दान कर देती है| इसमें लेखिका ने मुंह दिखाई में मिले चीजों पर दुल्हन का व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए, जिसे वो अपनी मर्जी के साथ खर्च कर सके, की हिमायत करती है-

"कमला– मुंह-दिखाई में जो नकद रुपया अथवा सोने-चांदी के आभूषण मिलते हैं, उन पर उनका व्यक्तिगत अधिकार न होना भी किसी रहस्य से कम नहीं है|परन्तु ससुरालवाले

[223] वही, पृष्ठ 56

[224] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 64

स्वेच्छा से उसका उपभोग करते हैं| और नकद रुपयों में से तो एक भी उसके पल्ले नहीं पड़ता|"[225]

इस तरह कमला अपने मुंह-दिखाई में मिली पैसे को देश सेवा में समर्पित कर देती है| उसके इस निर्णय का उसके ससुरालवाले भी समर्थन देते है तथा उसकी इस फैसले पर गौरवान्वित भी होते है|

स्वत्रन्त्रता-आन्दोलन के दौर में स्त्रियाँ देश की सेवा में अपनी गहनों को समर्पित कर देती थी| यह एकांकी महिलाओं के उसी त्याग पर आधारित है | लेकिन यह एकांकी स्वतंत्रता मिलने के बाद की (1950 ई.) एकांकी है| स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी देश की भलाई के लिए स्त्रियों के त्याग और बलिदान की जरूरत बनी हुई थी| कमला का यह मानना है कि-

"जिस राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हमारे देश को सदियों की गुलामी की जंजीरों से मुक्त कर स्वतंत्रता के मंगल प्रभात की सुनहरी किरणों का स्पर्श कराया; महिलाओं की शिक्षा और समानाधिकार का वरदान दिलाने में जिस राष्ट्रपिता ने कुछ उठा नहीं रक्खा, उसके स्मारक-कोष में एक नारी की मुँह-दिखाई की यह तुच्छ राशि यदि कुछ योग दे सके, तो भारतीय नारी की मानवता और उसके सौभाग्य का इससे बढ़कर दूसरा क्या आदर्श हो सकता है|"[226]

3.10.3 मध्यवर्गीय परिवार और पति-पत्नी:

हीरादेवी चतुर्वेदी रचित एकांकी 'रंगीन पर्दा' मध्यवर्गीय पति- पत्नी के बीच आई दूरियाँ, तनाव तथा सुलह की कहानी है| हरीश एक बुद्धिजीवी युवक है| उसकी पत्नी सरला पढ़ी-लिखी गृहिणी है| उन दोनों के पांच बच्चे भी हैं| शुरू-शुरू में उन दोनों के बीच जो प्यार और अपनापन था वह गृहस्थी और बच्चों की बढ़ती हुई जिम्मेदारियों के कारण कम होता जाता है| गृहस्थ जीवन की यह बढ़ती हुई जिम्मेदारियां उन दोनों के बीच कड़वाहट को जन्म देती है| सरला, अपने पति हरीश पर उस तरह से ध्यान नहीं दे पाती है जिस तरह से जब उनकी

---

[225] वही, पृष्ठ 49

[226] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 52

नई-नई शादी हुई थी| घर गृहस्थी का बोझ और बच्ची की देखभाल में ही समय निकल जाता है, जिसके कारण वो हरीश को ज्यादा तवज्जो नहीं दे पाती है| इस कारण हरीश के व्यवहार में भी एक रूखापन आ गया है| हरीश की आमदनी भी उतनी नहीं है कि वह घर के कामों के लिए एक महाराजिन ही रख ले|

सरला के व्यवहार में भी एक तरह का रूखापन आ गया है| अपने इस क्रोध को वह अपनी बेटी के ऊपर उतरती है| बात-बात पर अपनी झल्लाहट वह अपनी बेटी के ऊपर ही उतरती है| अगर वह अपनी बेटी पर ज्यादा ध्यान देती है तो पति को ज्यादा तवज्जो नहीं दे पाती है| इस तरह पति, घर-गृहस्थी और बेटी के प्रति बढ़ती हुई जिम्मेदारियाँ पति-पत्नी के बीच में एक तनाव पैदा करता है| हरीश के बदलते व्यवहार को देखते हुए सरला अपनी सहेली कमला से कहती है कि –

“मेरी समझ में नहीं आता कि इधर कुछ वर्षों से इनका व्यवहार रुक्षता और विषमता में क्यों बदलता जा रहा है| अब तो बात-बात में चिल्लाने, झल्लाने और बरसने लगे हैं|”[227]

इसका कारण बताते हुए स्वयं सरला ही अपनी सहेली कमला से कहती है कि-

“सरला- मैं जो इसका कारण समझ सकती हूँ, वह यह कि समय के अतिक्रमण के साथ नारी में जहाँ कुछ बातें पहले से अधिक विकसित हो जाती हैं, वहीं कुछ परिवर्तित भी हो जाती हैं| सेवा और कर्तव्य-परायणता का जहाँ विकास होता जाता है, वहीं उसके शरीर में एक शिथिलता आने लगती है- परिवर्तन की रेखाएँ उभरने लगती हैं| उसके अंग-प्रत्यंग में पहले की भांति भराव नहीं रह जाता और आकर्षण भी उतना नहीं रह जाता|”[228]

इस तरह लेखिका समय के साथ आए इस परिवर्तन को पति-पत्नी के बीच में आई दूरी के कारण के रूप में रेखांकित करती है|

---

[227] वही, पृष्ठ 8

[228] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 9

3.10.4 भारत-विभाजन और स्त्रियाँ :

भारत की आज़ादी की ख़ुशी मिलने के साथ ही भारत का विभाजित होना देश के इतिहास की सबसे दुखद घटना है| भारत और पाकिस्तान के बनने के साथ ही कितने लोगों को बेघर होना पड़ा; कितने लोग मारे गये और कितने ही बच्चे और स्त्रियों को बेमौत मार दिया गया| इस विभाजन से महिलाएं विशेष रूप से प्रभावित हुई| हीरादेवी चतुर्वेदी की एकांकी 'चिनगारी' एक ऐसी ही स्त्री पर केन्द्रित है, जिसे विभाजन के बाद अपने माता-पिता से बिछुड़ने के बाद कलकत्ता के किसी होटल में नाच-गा कर अपना निर्वाह करना पड़ता है| भारत विभाजन का दर्द उसके दिल में आज भी खटकता रहता है| विभाजन की त्रासदी का अपनी सहेली दिलरुबा से बयान करते हुए मेनका कहती है कि-

"तुम्हरा कोई भी अपराध उस अपराध की तुलना में नगण्य ही रहेगा, दिलरुबा, जिसके कारण हमारे देश के दो टुकड़े हो गये; दो भाई-भाई आपस में एक दूसरे के खून के प्यासे बन गए और अगणित माँ-बहिनों तथा बहू-बेटियों की इज्जत पर हमला करने की राक्षसी प्रवृति का विस्फोट कर बैठे| और इसी विस्फोट के कारण मुझ जैसे-सी हजारों तरुणियों को अपनी जन्मभूमि से और अपने माँ-बाप से बिछुड़कर अनिच्छापूर्वक कितने ही गर्हित काम करने पड़े|(कुछ रुककर) मैंने जो नृत्य और संगीत-कला सीखी थी, उसका प्रदर्शन किसी होटल में विवश होकर करने की मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी, दिलरुबा!"[229]

विभाजन का दर्द इतना गहरा है कि इस दर्द को किसी भी तरह से भुलाया नहीं जा सकता है| इसका दर्द तो मरने के बाद ही शायद खत्म हो सके| इस विभाजन रूपी चिनगारी का दर्द कितना गहरा है इसे मेनका के इन वाक्यों द्वारा महसूस किया जा सकता है-

"मेनका- यह चिनगारी इस शरीर के साथ ही ठण्डी हो सकेगी, दिलरुबा! यह अग्निकण सदा राख के भीतर जलता रहेगा|

---

[229] वही पृष्ठ 129

दिलरुबा- ठीक कहती हो, बहिन! जिस अपमान, मरकत और बर्बरता का सामना देश-विभाजन के कारण हम लोगों को करना पड़ा है, वह सब इस जन्म में हम भूल कैसे सकते है?"[230]

मजबूरन होटल में नाच-गा कर अपना निर्वाह करने वाली मेनका एक ऐसे पुरुष के इंतजार में है जो उसे इस गर्हित काम से बाहर निकल सके| स्वर्णसिंह नाम के एक पुरुष से उसकी दोस्ती भी है और उसे यह विश्वास है की वह एक अच्छा इन्सान है लेकिन वो 'उतावली बनकर' किसी भी दिशा में पग नहीं बढ़ाना चाहती| कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर?'

इसी धीरता के साथ मेनका स्वर्णसिंह का इंतजार करती है कि शायद वो उसे इस माहौल से बाहर निकल कर सम्मानपूर्वक ज़िन्दगी जीने में उसकी मदद कर सके| क्या स्वर्णसिंह मेनका के इस विश्वास पर खरा उतर सकेगा या वह मेनका के पास सिर्फ मन बहलाने के लिए ही आता है? इसे लेखिका ने समय पर छोड़ दिया है|

3.10.5 समाज का यथार्थ और भावुकता :

समाज के नग्न यथार्थ को धैर्यपूर्वक सहन न कर सकने के कारण इन्सान अतिभावुकता का शिकार हो जाता है| अपनी एकांकी 'भूलभुलैया' में हीरादेवी चतुर्वेदी ने एक ऐसे युवक की कहानी को विषय बनाया है, जो समाज के नग्न यथार्थ को सहन न करने के कारण; परेशानियों को धैर्यपूर्वक सामना न कर सकने के कारण अतिभवुकता का शिकार हो जाते है| यह एकांकी एक ऐसे युवक अरुण की है जो कवि होने के साथ-साथ छापाखाना भी चलता था|

"कुछ महीने पहले तक उसका छापाखाना खूब चलता है| स्वयं किताबे लिखते थे, उन्हें छापते थे और खूब बिकती थीं| परन्तु वह छापाखाना साझे में चल रहा था| सम्बन्धियों के शेयर्स (हिस्से) थे| साझे की खेती सदा बुरी होती है न! सम्बन्धियों से आपसी बातों में कुछ खटक गई| फल यह हुआ कि जिन सम्बन्धियों ने कभी सहायता का हाथ बढ़ाया था, उन्हीं ने अरुण

[230] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 130

बाबू को दिवालिया बना दिया| छापाखाना बिक गया| साझे की सम्पत्ति का हिस्सा-बाँट हो गया| अरुण बाबू बेकार हो गए|"[231]

इस तरह छापाखाना बंद हो जाने के कारण अरुण बेरोजगार हो जाता है| सम्बन्धियों से धोखा मिलने के कारण ही अरुण अतिभावुकता का भी शिकार हो जाता है तथा बीमार रहने लगता है| इस बीमारी में उसके संगे-सम्बन्धी किसी तरह की सहायता भी नहीं करते है| दुनिया अब उसके लिए इसी का नाम है| वह अपनी पत्नी अलका से कहता है कि –

"अरुण-तुम नादान बन रही हो अलका! अरे, दुनिया इसी का नाम है| कहीं धूप है, तो कहीं छाया| किसी के घर में मातम मनाया जाता है, तो किसी के घर में मंगल-गीत गाए जाते हैं अथवा शहनाई बजती है| तुम यह आशा ही क्यों करती हो कि तुम्हारे घर में दुःख-दर्द और अभाव है, तो सारी दुनिया सर-दर्द मोल ले बैठे?[232]"

एक तो अरुण के पास अब उतने रूपये-पैसे भी नहीं है, जिससे कि वो अपना इलाज सही से करवा सके| दूसरा वह इतना उदास रहने लगता है कि वह खाना-पीना भी सही से नहीं खाता है| अपनी पत्नी को डाक्टर के पास भी जाने नहीं देता है| इस तरह वह सम्बन्धियों से ठगे जाने के कारण मिली मानसिक आघात और समाज के छल-दम्भ को सहन न कर सकने के कारण मृत्यु को प्राप्त होता है|

इस एकांकी में लेखिका ने एक ऐसे आदर्शवादी युवक के चरित्र को दिखाया गया है जो संगे-सम्बन्धियों से मिली धोखे के कारण मानसिक आघात को सहन नहीं कर पाता है| और यह आदर्शवाद और भावुकता ही उसकी जिन्दगी को ले बैठती है| शायद लेखिका इस एकांकी के जरिये यह दिखाना चाहती हो कि अतिभावनात्मकता और आदर्श इन्सान को बेहद कमजोर और समाज की बुराइयों से लड़ने तथा खुद से लड़ने का हौसला छीन लेती है| बेहद उदासी

---

[231] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, (एकांकी संग्रह) प्रकाशक: इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 34
[232] वही, पृष्ठ 35-36

इन्सान को मृत्यु की तरफ ही ले जा सकती है| इस तरह लेखिका समाज के यथार्थ से होती हुई व्यक्ति के मनोविज्ञान की तरफ मुड़ती हुई दिखाई देती है|

प्रो. रामचरण महेंद्र इस एकांकी की विशेषता बताते हुए लिखते हैं कि-

"अधिक भावुकता भी निंध्य है; एक कमजोरी है-यही दिखाना इष्ट है| इसके साथ सम्बन्धियों के साथ व्यपार में हानि की सम्भावना, दुनिया का कठोर यथार्थवाद, जीवन की आँखमिचौनी और मारा की भूलभुलैयाँ का नग्न चित्रण किया गया गई| चित्रण की दृष्टि से नाटक में तथ्य है, किन्तु संविधान का धरातल दुर्बल नजर आता है| अति भावुकता से मृत्यु होना नाटक को शिथिल बनाता है"[233]

जहाँ तक अतिभावुकता की वजह से मृत्यु का होना नाटक को शिथिल और कमजोर बनाने का सवाल है तो, यह बात सही हो सकती है| लेकिन बहुत बार ऐसी परिस्थितियां आती है जब मनुष्य खुद से हारा हुआ समझने लगता है| बहुत बार यह देखने को मिलता है जब मनुष्य उदास होकर; धैर्यपूर्वक परेशानियों का सामना न कर सकने के कारण आत्महत्या तक कर लेता है|

प्रो. रामचरण महेंद्र हीरादेवी चतुर्वेदी की एकांकियों की विशेषता बताते हुए कहते है कि-

"कई नाटकों में, जैसे 'माटी की मूरत' और मुँह-दिखाई' में हीरादेवी जी का विशुद्ध यथार्थ एवं जीवन दर्शन प्रकट हुआ है| वे समाज के मिथ्या दिखावे के प्रति विद्रोही हैं| गरीबों, पीड़ितों शोषितों के प्रति उनके हृदय में सहज स्नेह और सहानुभूति है| इन एकांकी नाटकों के द्वारा यथार्थ सामाजिक जीवन का एक आइना उन्होंने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है| समाज के छल-छिद्र, विद्रूप एवं दुराभिसंधि का यथार्थवादी चित्रण इनमें हुआ है|

[233] वही, पृष्ठ 7

3.11 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरती स्त्रियों की परेशानियाँ :

"जो जाग चुका है वह अधिक समय तक सोते हुयें का अभिनय नहीं करता रह सकता"[234]

अगर हिंदी–क्षेत्र में स्त्रियों का सार्वजनिक सम्पर्क में आने की बात की जाये तो २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही महिलाएं सार्वजनिक सम्पर्क में आ पाती है| वैसे देखा जाये तो १९२० के प्रारंभिक दशकों में ही हिंदी क्षेत्र की महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय हो जाती है, जिसका माध्यम हिंदी पत्र-पत्रिकाएं होती है| लेकिन १९२० के दशक में विशेष रूप से गाँधी जी के नेतृत्त्व में चला साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन ने स्त्रियों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में जगह बनाने का स्वर्णिम काल मुहैया करवाया| इसका मतलब यह नहीं है कि महिलाएं अन्य माध्यमों के जरिये सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय नहीं थी| महिलाएं हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के जरिये सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय तो थी ही, अखिल भारतीय स्तर और क्षेत्रीय स्तर की महिला संस्थाएं भी महिलाओं के लिए महत्त्वपूर्ण मंच था| १९२० के पूर्वार्द्ध तक महिलाएं बहुत सारी समस्याओं को पार तो करती है लेकिन कई नई समस्याएं भी आ खड़ी होती हैं| अपनी परम्परागत रूढ़ छवियों से वो अभी पूरी तरह बाहर भी नहीं निकल पाई थी कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से उपजी जटिलताए भी सामने आने लगी थी| अब महिलाओं के सामने नई चुनौतियां भी खड़ी थी, जिसकी कश्मकश में महिलाएं तमाम तनावों से होकर गुजर रही थी|

आधुनिकता के मार्ग पर पाँव रखती हुई स्त्रियों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ा| एक तरफ महिलाएं अपने परंपरागत रूढ़ छवियों और भूमिकाओं से बाहर निकालने का संघर्ष कर रही थी तो दूसरी तरफ उस पर यह भी दबाव था कि कहीं वो आधुनिकता की सीमा को लाँघ तो नहीं रही है| वह परम्परागत भूमिकाओं को पूरी तरह छोड़ भी नहीं सकती थी, उसके लिए यह सम्भव भी नहीं था| दूसरी तरफ वो आधुनिक विचारों के सम्पर्क

[234] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1995,

से आपने आप को दूर भी नहीं रख सकती थी| इस तरह से उसके ऊपर दोनों ही परिस्थितियों में संतुलन बना कर चलने का सामाजिक दबाव था|

उसे पारम्परिक रूढ़िवादी समाज से बाहर निकलना था, मगर उसे यह भी ध्यान रखना था कि वह कहीं आधुनिकता की सीमारेखा पार तो नहीं कर रही है| क्योंकि अगर थोड़ा भी पांव फिसला तो घायल होना लाजिमी था| इन दोनों ही परिस्थितियों में उसे समाज की अवहेलना का सामना करना पड़ता| ऐसी स्थिति में उसे सम्हल कर चलना पड़ता था| लेकिन एक बार बाहर की दुनिया के संपर्क में आने के बाद यह भी संभव नहीं था कि वो उसी परम्परागत मूल्यों को ढोती रहे जिससे निकलने की कोशिश वो कर रही थी| इसे महादेवी वर्मा के शब्दों में बेहतर तरीके से समझ सकते है-

"जो जाग चुका है वो अधिक समय तक सोते हुए का अभिनय नहीं करता रह सकता है|"[235]

जाहिर है कि एक बार सार्वजनिक क्षेत्र में आने के बाद अगर आप यह आशा करे कि स्त्रियाँ फिर से उसी दुनिया में वापस चली जाएँ जहाँ से निकलने के लिए वो जद्दोजहद कर रही थी तो यह संभव नहीं था| एक बार आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आ जाने के बाद उसे ज्यादा दिनों तक घर की चारदीवारी के अन्दर नहीं रखा जा सकता था| ऐसा भी नहीं था कि वो अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को नहीं निभा रही थी, लेकिन आधुनिक शिक्षा प्राप्त महिलाओं के सामने ये भी परिस्थितियां बन रही थी कि वो स्वतंत्र रूप से अपना जीवन यापन करें तथा परम्परागत पारिवारिक भूमिकाओं और जिम्मेदारियों से मुक्त होकर सार्वजनिक क्षेत्र में अपने लिए जगह बनायें| यह तभी सम्भव था जब वो आर्थिक रूप से सम्पन्न हो| लेकिन साथ ही उस पर अपनी चारित्रिक दृढ़ता को भी बनायें रखने का नैतिक दबाव भी था|

हम दखते है कि एक तरफ सुभद्रा कुमारी चौहान, सत्यवती मालिक जैसी हिंदी की लेखिकाएं साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय होने के साथ ही पारिवारिक जिम्मेदारियों को

[235] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1995

निभाने की पक्षधर थी, तो महादेवी वर्मा जैसी एकाध लेखिकाएं भी थी जो मात्र साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में ही सक्रिय थी और अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रही थी| महादेवी वर्मा उन गिनी-चुनी महिलाओं में से एक थी जिन्होंने अपनी शादी को न निभाने का निर्णय लिया और आजीवन साहित्यिक सेवा में लगी रही| एकाध ही सही इस तरह की परिस्थितियों का बनना, विशेष रूप से हिंदी-क्षेत्र में एक क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है|

कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न मोर्चों पर महिलाएं एक साथ सक्रिय थी| क्योंकि बड़ी संख्या में सर्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं सक्रियता और एकाध ही सही स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का महिलाओं के साहस और निर्णय से पुरुष असुरक्षित महसूस कर रहे थे? जिससे भयाक्रांत होकर पुरुषों द्वारा आधुनिकीकरण के मुहाने पर खड़ी; आधुनिकता के दौर से गुजर रही महिलाओं पर नैतिक और चारित्रिक दबाव बनाया जाने लगा| उनके द्वारा महिलाओं को पारिवारिक जिम्मेदारियों के प्रति विशेष रूप से ध्यान दिलाने की मुहीम चलाया जाने लगा? घरेलु कार्यों को स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में परिभाषित करने की यह मुहिम नई नहीं थी, यह तो भारतेंदु हरिश्चन्द्र के काल से ही चला आ रहा था, जहाँ महिलाओं को शिक्षा के नाम पर उनका घरेलूकरण किया जा रहा था| लेकिन १९२० के पूर्वार्द्ध में घरेलूकरण की यह मुहिम नये कलेवर में सामने आता है| अब उन महिलाओं को विशेष रूप से निशाने पर लिया जा रहा था जो पढ़ी-लिखी थी और सार्वजनिक क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रिय थी| कुछ परंपरागत और आधुनिकीकरण के मुहाने पर खड़ी महिलाओं को किस तरह के विरोधाभासों और सामाजिक अवहेलना का सामना करना पड़ता था, महादेवी वर्मा ने अपने लेख 'आधुनिक नारी : उसकी स्थिति पर एक दृष्टि' में दिखाने की कोशिश की हैं|

महादेवी वर्मा ने उन महिलओं को तीन श्रेणियों में बांटा है जो उनके हिसाब से आधुनिक समाज के नजदीक थी| 'एक तो वो जो राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों की सहायक थी| दूसरी वो जिसने शैक्षणिक क्षेत्र में ही अपनी स्थिति को मजबूत किया और तीसरी वो जो 'थोड़ी-सी शिक्षा के साथ बहुत-सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृहजीवन को एक नवीन

सांचे में ढाला'[236] आधुनिकता के वातावरण में विकसित स्त्रियों को किस तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था और पुरुष वर्ग उसे किस तरह से देखता था, इसके सम्बन्ध में महादेवी वर्मा का कहना हैं कि -

"प्राचीन रूढ़ियों के बंधन में बंन्दिनी स्त्रियों से भिन्न जान पड़ने पर भी उससे स्पृहनीय नहीं है| क्योंकि उन्हे प्राचीन विचरों के उपासक पुरुष अवहेलना की दृष्टि से देखता है, आधुनिक दृष्टिकोण वाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक समर्थन देने में असमर्थ रहते है और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हे अपने साथ ले चलने में असमर्थ समझते है|"[237]

जाहिर है कि वैसे पुरुष जो प्राचीन मिथकीय आदर्शो के आधार पर महिलाओं की आलोचना करते थे, आधुनिक महिलाओं को प्रोत्साहन भले ही करते हो लेकिन किसी तरह की सहायता नहीं करते हैं या वैसे पुरुष जो आधुनिक महिलाओं का समर्थन तो करते हो लेकिन उन्हें अपने साथ लेकर नहीं चलना चाहते हैं| ये तीनों ही तरह के पुरुष वर्ग अंतत: एक जगह खड़े नजर आते है, क्योंकि इनमें से कोई भी आधुनिक विचारों वाली महिलाओं को अपनाने के लिए तैयार नहीं है| जाहिर है कि ऐसी स्थिति में महिलाओं को एक अलग मानसिक तनाव से गुजरना पड़ता होगा|

महादेवी वर्मा इस बात से भी अंजान नहीं है कि 'पुरुषों ने अपनी आवश्यकतावश ही महिलाओं को साथ आने की आज्ञा दी'[238] लेकिन इससे "उसके चारों ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गयी, उसकी सारी भावुकता छिन्न–भिन्न हो गयी और उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लांछन दूर हो गया...उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार–संग्राम में विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया| समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उनकी विद्रोहमयी रुक्षता से सभीत भी है| जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमे नहीं मिलता, अत: अनेक आधुनिकता के

[236] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 43
[237] वही, पृष्ठ 43
[238] वही, पृष्ठ 44

पोषक भी उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते है ....और उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गयी है| आधुनिक प्रक्रिया से गुजराती हुई स्त्रियों के प्रति पुरुषों की असुरक्षा से उपजा अवहेलानात्मक दृष्टिकोण में जितना सच भ्रान्त का है, उतना ही यह परिवर्तन निर्मूल नहीं था|"[239]

तीसरी श्रेणी उन स्त्रियों की है जिन्होंने पारिवारिक बंधनों को त्याग कर शिक्षा को चुना| इस तरह के स्त्रियों के 'सामने भी नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढ़ियों का भाव था'[240] महिलाओं को यह अहसास था की 'स्त्री को जो कुछ बलात देना पड़ता है यह उसके दान की महिमा को न बढ़ा सकेगा, यह शिक्षिता स्त्री भली-भांति जान चुकी थी|' जाहिर है कि पुरुष महिलाओं को उतनी ही छूट देना चाहता था जिससे कि उनके लिए कठिनाई पैदा न हो, लेकिन यह भी मुमकिन नहीं था की महिलाएं सिर्फ घर परिवार में ही सिमट कर रह जाए| यह तो होना ही था कि महिलाएं खुद के अनुसार भी अपने आप को बदले| महिलाओं में यही बदलाव उनके लिए आलोचना का कारण बना| फलस्वरूप पुरुषों ने उन्हें स्त्रैण भूमिकाओं में परिभाषित करना जरूरी समझा| पुरुषों ने महिलाओं पर नैतिक दबाव द्वारा इस काम को अंजाम दिया| ये नैतिक दबाव थे- मातृत्व और पत्नीत्व की स्त्रैण भूमिकाएं, घरेलू क्षेत्र में आया यह बदलाव पुरुषों को असुरक्षित कर दिया था, जिससे वे महिलाओं को एक नये तरह की पितृसत्तात्मक बन्धनों में बांधने की कोशिश में लग गए|

इस नये पितृसत्ता के निर्माण का सम्बन्ध राष्ट्रवाद की समस्या से उपजा समाधान में ही नहीं बल्कि स्त्रियों की बदलती हुई सामाजिक भूमिकाओं, जिससे घर परिवार भी बुरी तरह से प्रभावित हो रहा था, में भी सामान रूप से पाया जाता है, जिसका महादेवी वर्मा ने उल्लेख किया है|

[239] पृष्ठ 44-46

[240] वही, पृष्ठ 47

चतुर्थ अध्याय

स्त्री पत्रकारिता का नारीवादी स्वरुप

किसी भी समाज के समसामयिक घटनाओं, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का एतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करने में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का योगदान उल्लेखनीय होता है| औपनिवेशिक काल में सामाज सुधार आन्दोलन और ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन को गति देने में पत्र–पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया| इसी तरह इस दौर में चल रहे स्त्री-प्रश्न को स्त्री-मुक्ति की सम्भवनाओं का जन्म देने में पत्र-पत्रिकाओं का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है| पूरे भारत में ही नहीं, संयुक्त प्रांत में भी, स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र की घटनाओं और गतिविधियों से जोड़ने में; स्त्रियों की समस्याओं को सामाजिक आंदोलन का रूप देने में, पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका को निर्विवाद रूप से अहम माना जा सकता है| संयुक्त प्रान्त में न केवल शिक्षा के लिहाज से वरन महिलाओं को एक-दूसरे से जोड़ने और स्त्रियों की आवाज को एक बेहतर स्पेस देने की दृष्टि से भी हिंदी पत्र- पत्रिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण है|

इस अध्याय में इस दौर की 'स्त्रियोपयोगी' हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के स्वरूप पर विचार तो किया ही जाएगा, इससे पहले हिंदी की शुरुआती दौर की स्त्रियोपयोगी पत्र-पत्रिकाओं पर भी विचार करना जरूरी है| सयुक्त प्रान्त में भी स्त्रियों की समस्याओं को ध्यान में रख कर हिंदी के समाज सुधारकों, जो मुख्यत: साहित्यकार थे, ने हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया| यहाँ उन पत्रिकाओं के स्वरुप पर प्रकाश डाला जाएगा, जिसमें स्त्री-प्रश्न को प्रमुखता से उठाया गया है|

उन्नीसवी सदी में संयुक्त प्रान्त में, हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाम लिया जाता है| इस दौर में विभिन्न समस्याओं को पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उठाया जा रहा था| इस दौर में चाहे वो साहित्यकार हो, समाज सुधारक हो, सभी किसी न किसी रूप से पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े हुए थें| पत्रिकाओं के माध्यम से ही रचनाकार और समाज सुधारक सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक समस्याओं को जनता के बीच में पहुँचने का काम करते थे| जनता में चेतना का संचार करने की दृष्टि से जिस तरह पत्रिकाओं ने योगदान दिया, शायद ही कोई और माध्यम इस काम को इतनी खूबी से कर पाता| स्त्रियों को शिक्षित

करने; उन्हें जागरूक करने में हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं का योगदान तो और भी उल्लेखनीय हो जाता है|

इस तरह से देखा जाये तो हिंदी-क्षेत्र में हिंदी पत्रकारिता ने न केवल पुरुषों को बल्कि महिलाओं को भी सामाजिक-राजनैतिक गतिविधियों से जोड़ने का काम बखूबी किया| स्त्रियाँ सिर्फ पत्रिकाओं में अपना पक्ष ही नहीं रख रही थी बल्कि अब वो पत्र- पत्रिकाओं का सम्पादन भी करने लगी थीं| साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन हो या स्त्री आन्दोलन, पत्रिकाओं के माध्यम से ही इसे सही आकार प्रदान करने में मदद मिली| स्त्री-मुक्ति और स्त्री-चेतना के निर्माण में पत्रिकाओं का योगदान अविस्मरणीय रहेगा|

१९वीं सदी में ही नहीं बल्कि राष्टवाद के युग में भी 'स्त्री-प्रश्न का मुद्दा महत्वपूर्ण बना रहा| ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन और महिला आन्दोलन से लोगों को जोड़ने के लिए एक ऐसे माध्यम की जरूरत थी, जिसे पत्रकारिता के द्वारा आसानी से पूरा किया जा सकता था| स्त्री-प्रश्न के महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कुछ ऐसी पत्रिकाओं का सम्पादन किया गया जो विशेष रूप से स्त्रियों के सवालों से जुड़ा हुआ था और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इन पत्रिकाओं में विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा लिखी हुई रचनाओं को भी जगह दी जा रही थी|

हिंदी-क्षेत्र में हिंदी भाषा में स्त्रियों की समस्याओं से सम्बन्धित पत्रिका का सम्पादन भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा किया गया, माना जाता है| इस स्त्रियोपयोगी पत्रिका का नाम है 'बालाबोधिनी' जिसका सम्पादन भारतेंदु द्वारा १८७४ ई. में किया गया| इसे हिंदी की पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका माना जाता है| यह पत्रिका विशेष रूप से स्त्रियों की शिक्षा से सम्बन्धित थी| इस मासिक पत्रिका के प्रचार- प्रसार और आर्थिक सहायता देने के लिए सरकार द्वारा इसकी सौ प्रति ख़रीदा जाता था| हिंदी की इस पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका का जीवन काल लगभग चार साल (१८७७) का रहा, जिसके बंद होने में आर्थिक कारण प्रमुख था|

स्त्री-मुक्ति और स्त्री-चेतना की दृष्टि से देखें तो इस पत्रिका का स्वरूप मूल रूप से परम्परागत, पितृसत्तात्मक और धार्मिक स्वरूप को लिए हुए था| पत्रिका के पितृसत्तात्मक स्वरूप को उसमें प्रकाशित उसके उद्देश्यात्मक दोहे से बखूबी समझा जा सकता है-

"सीता अनसुइया सती अरुंधती अनुहारी|

शील लाज विद्यादि गुण लहो सकल जगनारि||

पितु पति सुत करतल कमल ललित ललना लोग|

पढें गुने सीखे सुने नासै सब जग सोग

वीर प्रसविनी बुधवधू होई दीनता खोई|

नारी नर अरधंग की साचेहि स्वामिनी होय|"[241]

पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लिखा गया यह दोहा ही स्त्रियों के प्रति अपने उद्देश्य और अपनी अंतर्वस्तु को पूरी तरह से उजागर कर देता है| स्त्रियों के सामने उनके प्रेरणा स्रोत के रूप में परम्परागत मिथकीय नारी चरित्रों, जिन्हें पतिव्रताओं में सर्वोपरी माना जाता है, को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके स्त्री सुधार और उनके उद्धार के लक्ष्य को परिभाषित कर दिया गया है| भारतेंदु की इस स्त्रियोपयोगी पत्रिका में स्त्री-शिक्षा का या शिक्षित स्त्री का मतलब वैसा नहीं है, जैसा कि सामान्य रूप से समझा जाता है, बल्कि यहाँ स्त्री-शिक्षा का मतलब उनमें स्त्रैण गुणों का विस्तार करना था| परम्परागत भारतीय समाज में; धार्मिक ग्रंथों में, स्त्रियों में जिन गुणों का होना एक आदर्श स्त्री के लिए आवश्यक बताया गया है, भारतेंदु इस पत्रिका में उन्ही गुणों का विस्तार करना चाहते हैं| उनके लिए स्त्री-शिक्षा से तात्पर्य स्कूली और किताबी ज्ञान से नहीं है बल्कि परिवार और समाज रूपी पितृसत्तात्मक संस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए जरुरी शील, लाज रूपी विद्या की बात की जा

[241] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 33

रही थी| इस पत्रिका के मध्यम से स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देने की योजना बनाई जा रही थी, जिससे स्त्रियां गतिशील न होकर मात्र पितृसत्ता की मूक अनुगामिनी बन कर रह जाए|

१९वीं शताब्दी में जब राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इत्यादि बुद्धिजीवियों ने महिलाओं की समस्या को, विशेष रूप से सती प्रथा और विधवा विवाह के प्रश्न को उठाया, उस समय यह भी विचार सामने आया कि वर्तमान समय में भारतीय स्त्रियों की दयनीय दशा का क्या कारण है? वर्तमान समय में स्त्रियों की बर्बर दशा का सवाल इस स्थापना पर भी टिका हुआ था कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति काफी बेहतर थी| अगर प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति इतनी बेहतर थी तो क्या कारण है कि आज स्त्रियों की स्थिति इतनी बदत्तर हो गयी है; कि पूरा भारत वर्ष ही आज तमाम तरह के समस्याओं से घिरा हुआ है?

भारतेंदु हरिश्चंद्र इसकी वजह बताते हुए लिखते हैं कि-

"यह भारत वर्ष अनेक कारणों से बड़ा दुखी हो रहा है क्योंकि बारम्बार शत्रुओं के चढ़ाव से इसके धन और विद्या दोनों नाश हो गए और मूर्खता का अँधेरा इस पर ऐसा छाया कि अब हिन्दुओं को अपने घर के अमोल रत्न भी नहीं सूझते| भारतखंड के दुःख समुंद्र के उमड़ने में सब कारणों में स्त्रियों का मूर्ख रहना पढ़ न पाना भी एक कारण हुआ और वह मूर्खता यहाँ तक बड़ी कि इनके मूल समेत सर्वनाश हो गया|"[242]

जाहिर है कि वो शत्रु कोई और नहीं बल्कि मुस्लिम शासकों को माना गया,जिसकी वजह से भारतीय ज्ञान और विद्या का नाश हुआ और भारत की अमोल रत्न 'स्त्रियों की कदर भी भारतीयों के मन से जाता रहा| ब्रिटिश शासकों ने "इस मुरझाई हुई बेलि पर फिर से पानी

[242] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 32

डाला और चारों ओर विद्या की वृद्धि का डंका बजा..उसमें स्त्री की शिक्षा का भी प्रचार हुआ तो इस भाग्यहीन हिंदुस्तान के दिन फिरने से फिर से आशा हुई|"[243]

जाहिर है कि भारतेंदु के लिए अंग्रेजी शासक हिंदुस्तान के लिए किसी वरदान से कम नहीं है| भारतीय स्त्रियों के लिए भी अंग्रेजी शासन को भारतेंदु सही मानते है लेकन ध्यान देने की बात यह है की जैसे ही अंग्रेजों ने स्त्रियों को ध्यान में रखकर कोई कानून बनाने की कोशिश की तो, इसका सबसे पहले साहित्यिक विरोध हिंदी-क्षेत्र के इन्ही बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया| अंग्रेजों को हिंदुस्तान के लिए मसीहा के रूप में रेखांकित करने वाले इस समाज सुधारकों और साहित्यकारों को जब इस बात का खतरा महसूस हुआ कि अंग्रेज सरकार भारतीय परम्परागत समाज, विशेष रूप से पितृसत्तात्मक मूल्यों को ध्यान में रखे बगैर स्त्रियों के मामले में कुछ ज्यादा ही हस्तक्षेप कर रही है (जो वास्तव में नहीं था) तो उन्होंने यूरोपीय महिला बनाम भारतीय महिला का प्रतीकात्मक संघर्ष छेड़ दिया| चाहे सती प्रथा पर रोक लगाने की बात हो या विधवा विवाह का सवाल, हिंदी क्षेत्र में इसके पक्ष में जोरदार पहल की कमी हमेशा रही| बल्कि बाकयदा सती प्रथा का महिमामंडन किया जाता रहा और विधवा- विवाह के सम्बन्ध में तरह-तरह की दलीले दी जाती रही| बालाबोधिनी में तो स्त्रियों को घरेलूकरण करने के सिवा, स्त्रियों से सम्बन्धित और किसी समस्या को उठाया ही नहीं गया| यहाँ तक कि विधवा विवाह की समस्या को भी नहीं उठाया गया जबकि बंगाल में ईश्वरचंद विद्यासागर विधवा-पुनर्विवाह के प्रति बेहद गंभीर थे|

जाहिर है कि हिंदी क्षेत्र के साहित्यकार स्त्री समस्या में उतना ही सुधार चाहते थे, जिससे कि उनके अपने हित खतरे में न पड़ते हो| इस तरह के विरोधाभासों को सुधारवादियों और साहित्यकारों ने जहाँ एक तरह खुद को स्त्री उद्धारक के रूप में स्थापित करने के लिए इस्तेमाल किया तो दूसरी तरफ खुद के हितों को सुरक्षित रखने के लिए भी इस्तेमाल किया|

जहाँ तक स्त्री शिक्षा का सवाल है तो, 'बालाबोधिनी' में इसे कभी भी स्त्रियों के व्यक्तित्व निर्माण के सन्दर्भ में नहीं परिभाषित किया गया| इसमें स्त्री-शिक्षा को घरेलू और मातृशिक्षा

[243] वही, पृष्ठ 32

के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया गया है| स्त्रियों को शिक्षित करने का सवाल राष्ट्र-निर्माण के लिए अच्छे नस्ल के बच्चों को जन्म देने से भी जुड़ा हुआ है, जिसे शिक्षित माताएं बखूबी निभा सकती हैं| इस धरणा ने मातृत्व के प्रतीकात्मक छवि का निर्माण किया, जिससे स्त्रियाँ वास्तविक जीवन में भी दो-चार हो रही थीं| 'बालाबोधिनी' में मातृशिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि -

"मनुष्य पाठशालाओं में चाहे जितना पढ़े मातृशिक्षा बिना कभी उनकी विद्या फलदायी नहीं होती क्योंकि माँ के मुख से सीखी विद्या जन्म की विद्या है और गुरु से सीखी विद्या तोता लोगों की विद्या है|"[244]

महिला-प्रश्न को क्यों उठाया गया, स्त्रैण भूमिकाओं के निर्माण के पीछे की क्या ऐतिहासिकता है, मोटे तौर पर यह पूरे भारत में लागू होता है| महिला-प्रशन का वास्तविक सुधार से स्त्रियों का स्वतंत्र सम्बन्ध नहीं था और हिंदी क्षेत्र में तो इसकी स्थिति और भी निराशाजनक थी|

भारतेंदु हरिश्चन्द्र महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा देने वाली पत्रिका 'बालाबोधिनी' के माध्यम से स्त्रियों को किस तरह की शिक्षा देना चाहते थें? स्त्री-शिक्षा से उनका क्या तात्पर्य था, 'बालाबोधिनी' में प्रकाशित लेखों की प्रकृति से बखूबी समझा जा सकता है| शीर्षकों के माध्यम से भी पत्रिका के उद्देश्य के बारे में अंदाजा लगाया जा सकता है| जैसे कि- 'स्त्री', 'शीलवंती', 'लाजवंती', 'पतिव्रता', 'लवली और मालती संवाद', 'सावित्री उपाख्यान', 'सती चरित्र', 'सुलोचना', इत्यादि शीर्षक लेखों के आधार पर इस पत्रिका के परम्परागत स्वरूप को समझा जा सकता है|

'बालाबोधिनी' ने उपरोक्त लेखों में महिलाओं की समस्याओं का निदान नहीं बल्कि उन आम धारणाओं की स्थापना का प्रयास किया गया है, जो आम तौर पर स्त्रियों की अधीनता को मजबूती प्रदान करते हैं, वो भी बगैर किसी प्रतिरोध के| भारतेंदु की स्त्री के विरोध में सबसे बड़ी सफलता यह है कि पत्रिका ने महिला सुधार आन्दोलन के दौर में उन मूल्यों को स्थापित

[244] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृ. 33

किया जो स्त्रियों को एक मूक प्राणी के रूप में बड़ी आसानी से तब्दील करने का सबसे आसन तरीका था| इस पूरे लेखन में स्त्रियों की अधीनीकरण को कुछ इस तरह से गढ़ा गया है कि इसने प्रतिरोध के उन सारे रास्तों को बंद कर दिया है, जो एक पीड़ित व्यक्ति की तरफ से ऐसी स्थिति में प्रतिरोध की गुंजाइस होती है|

दूसरी बात जो इस पत्रिका में देखने को मिलती है, वो है भारतीय समाज में जितनी भी परेशानियाँ या समस्याएं है उसका इलाज महिलओं की तथाकथित बेहतरी के सवाल से ही जुड़ा हुआ है| यहाँ कहने के लिए तो महिलाएं हर जगह, प्रत्येक मुद्दों के केंद्र में थी, लेकिन एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में या राष्ट्रीय 'एजेंसी' के रूप में कहीं भी किसी रूप में मौजूद नहीं थी| राष्ट्रीय 'एजेंसी' के रूप में महिलाओं की स्थापना करना तो दूर की बात है इस पत्रिका में तो स्त्रियों को उनके घरेलू क्षेत्र में भी सीमित कर दिया गया है| 'बालाबोधिनी' में आदर्श स्त्री की परिभाषा इस तरह से दी गयी है :

"पड़ोसवालों ने कभी उसकी बोली नहीं सुनी, वह अटारी और झरोखों में कभी न बैठती और न ही किसी मनुष्य से बहुत बोलती....बड़ी स्त्रियों में सब दिन नीची आँख किये बैठी रहती...|"[245]

भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने सार्वजनिक-क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी की बात तो दूर, उन्होने तो स्त्रियों को उनके घरेलू-क्षेत्र में भी अकेला कर दिया है| जब स्त्रियाँ एक साथ, एक जगह इकट्ठा होती हैं, तो नीचे आँखे करके बात करने की बात तो दूसरी बात है वो आपस में घंटों बातें करती रहती है, घंटों एक दूसरे के घरेलू झगड़ों, सुख-दुःख, शिकवे-शिकायत का दौर चलता रहता है| भारतेंदु तो महिलाओं को महिलाओं के बीच में भी बिलकुल अकेला कर देना चाहते हैं| यह कोई इत्तेफाक नहीं है कि जब 20 वीं शताब्दी के दौरान हिंदी क्षेत्र में स्त्रियाँ लेखन कार्य से जुड़ती है तो घर के एक कोने में कैद कुलीन बहुओं की समस्याओं और परेशानियों को भी उठती हैं| स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में भारतेंदु का विचार तो जबरदस्ती करने वाले पुरुषों से

[245] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 35

कम खतरनाक नहीं है| क्योंकि जब किसी पर पाबंदी लगायी जाती है तो दूसरे पक्ष की तरफ से विरोध की सम्भावना बनी रहती है लेकिन यहाँ तो भारतेंदु ने विरोध की सारी सम्भावना को ही ख़त्म कर दिया है, जो बहुत ही दुखद और दयनीय है| स्त्रियों के लिए इससे या किसी भी पीड़ित व्यक्ति के लिए इससे दयनीय स्थिति क्या हो सकती है कि उसके प्रतिरोध करने की शक्ति और सोच पर ही पाबंदी लगा दिया जाएँ| 'बालाबोधिनी' स्त्री-शिक्षा की नहीं, स्त्री के प्रतिरोध और सोचने समझने की क्षमता को ही ख़त्म कर देने की महागाथा है|

अगर आप किसी के साथ जबरदस्ती करते है, तो जाहिर है कि आपको उसके प्रतिरोध का सामना करना पड़े| अगर पीड़ित प्रतिरोध नहीं भी कर सकता है तो जाहिर है कि वो अपनी वास्तविक स्थिति से बेखबर तो नहीं ही रहेगा और ऐसी स्थिति में वह प्रश्न भी कैसे रह सकता है| 'बालाबोधिनी' ने तो इस सारी सम्भवनाओं को ही ख़त्म कर दिया है| भारतेंदु की शिक्षित स्त्री एक ऐसी बंदिनी है जिसे अपनी बंदिनी होने का एहसास ही नहीं है| 'शीलवंती' भारतेंदु की पत्रिका 'बालाबोधिनी' की गढ़ी हुई एक ऐसी स्त्री चरित्र है जो तमाम पाबंदियों में रहने के बावजूद खुश है| 'शीलवंती' शीर्षक लेख में एक ऐसी स्त्री चरित्र का निर्माण किया गया है जिसके लिए यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसे ये करना चाहिए या ऐसा नहीं करना चाहिए वो तो सभी घरेलू कार्यों में पूरी तरह से दक्ष है यहाँ तक कि पड़ोसियों और नाते रिश्तेदारों का भी ख्याल रखती है| पति के प्रति भी अपने कर्तव्यों का निर्वाह पूरी जिम्मेदारी के साथ करती है -

"पति के सम्मुख सदा नेत्र नीचे रखती और कभी उसकी आज्ञा भंग न करती, पति के दु:ख से दुखी और उसके सुख से सुखी रहती, घर या बाहर के सब कामों को पति से पूछ कर करती और पति जब किसी विषय में कुछ पूछता तो अपनी बुद्धि के अनुसार बड़ी सावधानी से अच्छा और हितकारी मन्त्र कहती पर यह भी कह देती की नाथ! मैं क्या जानूं मेरी स्त्री की बुद्धि कितनी|"[246]

[246] भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक) बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार,(संकलन-सम्पादन), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, पृष्ठ 36

यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है कि औरतों की जुबान बनकर पुरुषों द्वारा लिखी गयी 'बालाबोधिनी' में किस तरह से स्त्रियों को एक मूक प्राणी में तब्दील किया जा रहा था| जब स्त्री के पास सलाह मशविरा करने तक की बुद्धि नहीं है तो भारतेंदु स्त्री-शिक्षा के सवाल को ही क्यों उठा रहे थे? भारतेंदु के लिए स्त्रियों को शिक्षित होना क्यों जरुरी था? जैसा कि यह जाहिर है कि तथाकथित नवजागरण के दौर में सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं पारिवारिक क्षेत्र में भी बदलाव की सम्भावना बनती जा रही थी| बदलते हुए समय में सिर्फ सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में ही बदलाव की जरुरत नहीं थी बल्कि पारिवारिक क्षेत्र में भी बदलाव की आवश्यकता थी|

दूसरी तरफ स्त्री-प्रश्न के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण भी स्त्रियों में सुधार की गुंजाइस से कोई भी समाज सुधारक या साहित्यकार इंकार नही कर सकता था| समाज सुधार का कार्य तब तक अधूरा था जब तक कि स्त्रियों को भी इससे नहीं जोड़ा जाए| ऐसी स्थिति में पुरुष समाज सुधारकों के लिए स्त्रियों की वास्तविक स्वतंत्रता को स्वीकार करना बेहद मुश्किल था| उन्हें तो एक ऐसी स्त्री चाहिए जो न केवल घरेलू कार्यों में दक्ष हो बल्कि उसका व्यवहार इस कदर नियंत्रित और उदारतापूर्ण हो कि वो घरेलू कार्यो को उबाऊ और बोझ समझकर नहीं बल्कि आधुनिक स्त्री-शिक्षा के रूप में, राष्ट्रीय कर्तव्य समझकर ख़ुशी-ख़ुशी उसे ग्रहण करें| अगर देखा जाये तो स्त्रियाँ तो पहले से ही घरेलू कार्यों में ही लगी हुई थी, तो फिर क्या जरूरत थी स्त्रियों को घरेलू शिक्षा के सन्दर्भ में परिभाषित करने की?

'बालाबोधिनी' पत्रिका के परिस्थितिगत योगदानों को छोड़कर अगर हम बात करे तो इसका स्वरूप मूल रूप से पितृसत्तावादी ही कहा जा सकता है, जिसके जरिये एक ऐसी महिला का निर्माण करने की कोशिश की जा रही थी, जो आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार सुघड़ और शिक्षित तो हो ही, वह पितृसत्तात्मक मूल्यों को बिना विरोध किये, आसानी से आत्मसात कर सके| 'बालाबोधिनी' का उद्देश्य एक ऐसी स्त्री का निर्माण करना था, जो आदर्श माता हो, आदर्श पत्नी हो और आदर्श बहु हो| उसका आचरण सीता सावित्री की तरह ही पवित्र हो|

इस तरह 'बालाबोधिनी' का लक्ष्य ही पितृसत्तापयोगी स्त्री का निर्माण करना था, जिसकी अपनी कोई इच्छा और व्यक्तित्व का सवाल ही नहीं था|

उन्नीसवी सदी के उतरार्ध में ही महिलाओं के संपादकत्व में पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन शुरू हो चुका था| जो विशेष रूप से स्त्रियों की समस्याओं पर केन्द्रित होता था| जिसमें १८८८ ई. में प्रकाशित पत्रिका 'सुगृहिणी' का नाम लिया जा सकता है, जिसका सम्पादन श्रीमती हेमंत कुमारी द्वारा किया जाता था| यह पत्रिका शिलांग से प्रकाशित होती थी| इसके अलावा १८८९ ई. में प्रयाग से सम्पादित 'भारत भगिनी का नाम लिया जा सकता है, जिसकी सम्पादिका थी श्रीमती हरदेवी| १८९३ ई. में सचेड़ी से निकलने वाली पत्रिका 'वनिता हितैषी' का सम्पादन भाग्यवती के सम्पादन में होता था| इन सब पत्रिकाओं के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती| इस तरह स्त्रियों की समस्याओं से सम्बन्धित पत्रिकाओं का सम्पादन 19वीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशको से शुरू हो चुका था, जिसमे स्त्रियाँ भी संपादक का कार्य कर रही थी| यह शुरुआत 20वीं शताब्दी में जाकर विस्तार पकड़ता है, न केवल संख्या की दृष्टि से बल्कि स्वरूपगत भिन्नता के आधार पर भी इन पत्रिकाओं का अध्ययन और मूल्यांकन किया जा सकता है| 20वीं सदी के प्रथम दशक में ही 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाओं का सम्पादन स्त्रियों के द्वारा गंभीरता से किया जाने लगा था|

१९२० का दशक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है क्योंकि इस दशक में ही हिंदी के साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी व्यापक संख्या में होती है| पत्र-पत्रिकाओं, खासतौर पर स्त्रियों से सम्बंधित पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी इस दशक में विशेष रूप से होता है| व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की समस्याओं को उठाने की दृष्टि से १९२० के दशक की 'चाँद' पत्रिका की भूमिका उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है| इस दशक तक आते आते स्वयं महिलाएं भी अपनी समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श करने लगी थी| पत्र-पत्रिकओं में उनका लेखन प्रकाशित होने लगा था| कहानियां, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र एकांकी और विचारात्मक लेखन के क्षेत्र से अब स्त्रियाँ भी अछूती नहीं थी| फ्रांचेस्का आर्सीनी

अपनी किताब 'हिंदी का लोकवृत' (१९२०-१९४०) में पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रियों की व्यापक भागीदारी के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखती हैं कि –

"१९२० के दशक आते-आते स्त्रियों के स्वर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में सुनायी देने लगे| निस्संदेह इसके पीछे हिंदी साक्षरता, शिक्षा और छपाई के समान्य विस्तार का हाथ था, साथ ही प्रथम विश्व युद्ध और असहयोग आन्दोलन के बाद राष्ट्रवादी आन्दोलन में लोगों की अधिक व्यापक हिस्सेदारी का भी|"[247]

ऐसा नहीं है कि इससे पहले स्त्रियाँ अपनी समस्याओं के बारे में नहीं लिख रही थी| इससे पहले भी 'गृहलक्ष्मी' और 'स्त्री-दर्पण' इत्यादि 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाओं, जो स्त्रियों के सम्पादन में ही प्रकाशित हो रहा था, में स्त्रियों का लेखन और स्त्रियों से सम्बंधित लेखन विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा था| संक्षेप में, इन पत्रिकाओं का यहाँ उल्लेख्य करना जरुरी हो जाता है ताकि स्त्रियोपयोगी' पत्र-पत्रिकाओं के नारीवादी स्वरूप को बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया जा सके|

20 वीं शताब्दी में हिंदी में स्त्रियों की समस्याओं से सम्बंधित पत्रिकाओं में, गोपलदेवी और उनके पति सुदर्शनाचार्य के सम्पादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' (1909) का महत्वपूर्ण स्थान है| यह पत्रिका 20वीं शताब्दी के शुरुआती दौर की, महिलाओं द्वारा सम्पादित पहली हिंदी पत्रिका थी| इस पत्रिका के महत्व और लोकप्रियता को इसी से समझा जा सकता है कि यह :

"पत्रिका 4000 की सदस्य संख्या के साथ शुरू हुई थी, जो उन वर्षों में एक हिंदी पत्रिका के लिए उल्लेखनीय आकड़ा था, और इस बात पर गर्व करती थी कि यह केवल पाठकों के बल पर चल रही है| लेकिन वह उस अग्निकांड से कभी पूरी तरह उबर नहीं पायी जिसने उसके कार्यालय को ध्वस्त कर दिया था; पाठकों की संख्या 1920 में 2500 तक गिर गयी थी और

[247] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य,(अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण2011, पृष्ठ 298-299

1923 में 1000 तक नीचे आ कर1924 में प्रकाशन बंद होने से कुछ पहले फिर 2000 तक चढ़ गयी थी|"[248]

फ्रांचेस्का आर्सीनी ने ठाकुर श्रीनाथ सिंह से इंटरव्यू के हवाले से इस पत्रिका के सम्पादन के सम्बन्ध में लिखा हैं कि –

"१९२० के दशक के आरम्भ में उसका (गृहलक्ष्मी) लेखन-सम्पादन गोपाल देवी के नाम से ठाकुर श्रीनाथ सिंह करते थे जो बाद में नेहरु परिवार के निकट एक युवा लेखक थे जिन्होंने बाद में इन्डियन प्रेस में शामिल हो कर 'बालसखा' और 'सरस्वती' का सम्पादन किया जिसके बाद महिलाओं के लिए खुद अपनी पत्रिका 'दीदी' १९४० के दशक में शुरू की|"[249]

यह पत्रिका (गृहलक्ष्मी) भारतेंदु हरिश्चन्द्र के संपादकत्व में निकाली गयी 'बालाबोधिनी' (१८७४) पत्रिका से कई मामलों में अलग थी| अंतर्वस्तु के समान होते हुए भी इसके स्वर में काफी भिन्नता थी| यहाँ स्त्रियाँ मूक प्राणी नहीं थीं| 'बालाबोधिनी' पत्रिका का लक्ष्य स्त्री को एक आदर्श गृहिणी, आदर्श माता और पति की अनुगामिनी पत्नी तैयार करना था, 'गृहलक्ष्मी' का भी उद्देश्य एक आदर्श गृहणी का निर्माण करना था लेकिन 'गृहलक्ष्मी' की गृहिणी मात्र पति की मूक अनुगामिनी ही नहीं थी बल्कि उसकी मुंह में भी जबान आ गया था| पत्रिका ने नाम से भी इसके अंतर्वस्तु और उद्देश्य का अंदाजा लगाया जा सकता है| यह पत्रिका 'बालाबोधिनी' पत्रिका से इस मामले में भी अलग थी कि; जिस तरह से 'बालाबोधिनी' पत्रिका में महिलाओं की सोचने समझने, विचार-विमर्श करने तथा प्रतिरोध करने की सम्भावना को ख़त्म कर दिया गया था, 'गृहलक्ष्मी' में उसकी पूरी गुंजाइस बनी हुई थी| जैसे कि फ्रांचेस्का आर्सीनी ने लिखा हैं कि –

[248]वही, पृष्ठ 451

[249] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 452

"वर्तालाप और लेखों द्वारा औरतों, यहाँ तक कि स्कूली छात्राओं, को भी अपने विचारों को सबके सामने लाने का अभूतपूर्व अवसर प्राप्त था, जिससे उनका आत्मविश्वास बढ़ ही सकता था|"[250]

'गृहलक्ष्मी' या20 वीं शताब्दी की अन्य महिला केन्द्रित पत्रिकाओं में महिला सम्बन्धी लेखों और साहित्यिक रचनाओं का अंतर्वस्तु मात्र 'उपदेशात्मक' ही नहीं रहता था, जैसा कि 'बालाबोधिनी' पत्रिका अपनी अंतर्वस्तु में पूरी तरह से उपदेशात्मक और पितृसत्तात्मक मूल्यों को स्थापित करती थी| 20 वीं शताब्दी के दौरान स्त्रियों के लिए सम्पादित पत्रिकाओं में या स्त्रियों के द्वारा सम्पादित पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में स्त्रैण भूमिकाओं को अगर महिमामंडित किया गया है; स्त्रियों को एक आदर्श गृहिणी, पत्नी और आदर्श माता बनने पर विशेष बल दिया गया है, तो स्त्रियों को सही और गलत के प्रति तर्कशील होने की गुंजाइस भी छोड़ी गयी है| स्त्रैण भूमिकओं को निभाने के साथ ही स्त्रियों को अपने लिए जगह बनाने; उनकी आवाज को सार्वजनिक-क्षेत्र में पहूँचने के लिए ये पत्रिकाएं उन्हें रास्ता भी देती हैं|

'गृहलक्ष्मी' पत्रिका में स्त्री-शिक्षा का एक ऐसा स्वरूप सामने आता है, जहाँ स्त्रियाँ घर-परिवार, पति और बच्चों के प्रति पूरी तरह से समर्पित तो है, लेकिन उसके साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र के ज्ञान से भी दूर न हो| उन्हें स्कूली शिक्षा भी प्राप्त हो| जिस तरह से 'बालाबोधिनी' पत्रिका में 'सती' का महिमामंडन किया गया है; स्त्रियों को सती-सावित्री के आदर्शो पर चलने का उपदेश दिया गया है, उसकी छाया 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका में भी देखने को मिलती है| फ्रांचेस्का आर्सीनी अपनी किताब 'हिंदी के लोकवृत'(1920-1940) में एक महिला लेखिका द्वारा सती का महिमामंडन करने और भारतीय स्त्रियों को सती स्त्रियों की तरह आचरण करने के पक्ष में लिखे गए एक लेख का हवाला देते हुए लिखती हैं कि –

"किसी विद्यावती देवी ने बड़े उत्साह के साथ जरौली गाँव (जिला मैनपुरी) की सुशिक्षित, लेकिन अपने पति के प्रति पूरी तरह से समर्पित आधुनिक सती की चमत्कारिक कथा बयान

[250] वही, पृष्ठ 315

की| रिपोर्ट में हिला देने वाले चमत्कारिक ब्योरे भरे हुए थे जिन से विद्यावती को यह टिप्पणी करने का अवसर मिला : प्रिय पाठकों ! देखिये यद्यपि इस समस्त पृथ्वी पर कलियुग छाया है और कोई अपने धर्म पर स्थिर नहीं है| परन्तु फिर भी कोई-कोई भारत ललनाएं अब भी पातिव्रत व पतिप्रेम का प्राचीन नमूना दिखाती हैं|"[251]

आखिर क्या कारण है कि महिलाएं भी पुरुषों की तरह न केवल 'सती' जैसी बर्बर प्रथाओं का महिमामंडन करती है बल्कि कभी–कभी तो पुरुषों के स्वर में पितृसत्तात्मक मूल्यों का भी समर्थन करती हुई नजर आती है?

यह तो जाहिर ही है कि जिस तरह से पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों के विचारों और उनके लेखन को प्रचार-प्रसार के लिए आसानी से जगह उपलब्ध थी; उनके विचारों को जितना महत्व दिया जाता था, उस तरह से महिला नेत्रियों के विचारों को प्रचारित-प्रसारित नहीं किया जाता था| और अगर किया भी जाता था तो उनके विचारों को गलत तरीके से पेश किया जाता था| जिस तरह से भारतेंदु हरिश्चन्द्र के स्त्री सम्बन्धी विचारों को, उनके गलत और स्त्री विरोधी विचारों को भी महिमामंडित और प्रचार-प्रसार किया जाता है क्या उसी तरह से 'सीमन्तनी उपदेश' की लेखिका के विचारों को भी तवज्जों दी जाती होगी? क्या उसी तरह से पं. रमाबाई, ताराबाई शिंदे, रुख्माबाई, उमा नेहरू के विचारों को स्त्रियों के लिए न्यायपूर्ण और सही मानकर प्रशंसा किया जा रहा होगा? जिस तरह से परम्परागत विचारों को प्रश्रय देने वाली महिलाओं की प्रशंसा और सम्मान दिया जाता है, क्या उसी तरह से महिलाओं के पक्ष में न्यायपूर्ण विचार रखने वाली; पितृसत्तात्मक मूल्यों पर चोट करने वाली उमा नेहरू को महिलाओं और समाज के बीच लोकप्रिय होने दिया गया होगा?

जाहिर है कि ऐसी स्थिति में महिलाएं परम्परागत विचारों को प्रश्रय देने वाले विचारकों, जिसका समाज में ज्यादा मान है, का अनुकरण करती| दूसरी बात यह कि यह, उनके सीखने का शुरुआती दौर था| अगर महिलाएं भारतेंदु हरिश्चन्द्र या अन्य परम्परागत विचारों वाले

[251] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत्त 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य,(अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण2011, पृष्ठ 315-316

साहित्यकारों से प्रभावित न होकर, उमा नेहरू, सीमंतनी उपदेश की लेखिका, पं. रमाबाई, ताराबाई शिंदे, रुख्माबाई इत्यादि नारीवादी आन्दोलन की नेत्रियों से प्रेरणा ग्रहण करती तो हिंदी के नारीवाद का ही नहीं पूरे भारतीय नारीवाद का स्वरूप कुछ और ही होता| फिर भी लेखिकाएं पुरुषों की स्वार्थपरता से अनजान नहीं थी| यही कारण है कि वो विभिन्न विषयों, समस्याओं पर अपनी बात रखने के साथ ही; परम्परागत मूल्यों का समर्थन करने के साथ ही अपने लिए भी जगह भी बनाती है| पत्रिकाओं में उनकी निजी भावनाओं का आने का मतलब यही है कि स्त्रियाँ अपनी समस्याओं से अनजान नहीं थीं| वो निःसंकोच अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति कर रही थी| यह अलग बात है कि वो परम्परागत मूल्यों को इंकार न करते हुए भी आधुनिक भावबोध और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगी थीं| 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में महिलओं में आई चेतना और उनकी उपलब्धियों को फ्रांचेस्का आर्सीनी उनके अंतर्विरोधों के साथ कुछ इस तरह से व्यक्त करती हैं -

“सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय स्त्रियों को, चाहे वे पत्र-पत्रिकाओं या शिक्षा या राष्ट्रीय आन्दोलन में काम करती थी, बहुत-सी सीमाओं के भीतर काम करना पड़ता था और भारतीय स्त्रीत्व की परम्परागत और सुधारवादी दोनों धारणाओं के साथ तालमेल बैठा कर काम करना पड़ता था|

इसके बावजूद, इन पहली औरतों ने जिन्हेंने हिंदी में नियंत्रित प्रवेश पहले-पहल ‘प्रदान’ किया गया था, अपने बारे में, स्त्रियों की भूमिकाओं और समाज के नियम-कायदों के बारे में सवाल उठाने और अभूतपूर्व ढंग से सार्वजनिक गतिविधियों में हिस्सा लेने के लिए उन महत्वपूर्ण औजारों को उठा लिया जो उन्होंने हासिल किये थे| ऐसा करने में, वे किसी हद तक भारतीय नारीत्व की प्रचलित धारणाओं और प्रतीकों (औचित्य, सेवा,मर्यादा आदि) से प्रभावित तो हुई, लेकिन इसी के साथ-साथ उन्होंने भी इन प्रतीकों को नए अर्थ देते हुए फिर

से ढाला- चाहे यह क्षेत्र साहित्य का था, या पत्र-पत्रिकाओं का, या अध्यापन का या फिर राजनैतिक सक्रियता का|"[252]

जाहिर है कि तमाम विरोधों, धार्मिक, नैतिक और पितृसत्तात्मक पाबंदियों के बावजूद महिलाएं अपनी भावनाओं; अपने अधिकारों के लिए भी सचेत होने लगी थी| सयुक्त प्रान्त में 20वीं शताब्दी की प्रारम्भिक स्त्री पत्रिकाओं का स्वरूप भी इसी तरह का परम्परागत आदर्शों को लिए हुए था लेकिन उसमें स्त्रियों को अपने लिए जगह बनाने की भी गुंजाइस थी, जिसे स्त्रियाँ अपने तरीके से अपने हित में भी परिभाषित कर रही थी| स्त्रियों द्वारा सम्पादित 20वीं शताब्दी की पहली ज्ञात हिंदी पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' भी अपने अंतर्वस्तु में परम्परागत और पारिवारिक आदर्शों को लिए हुए थी| फ्रांचेस्का आर्सीनी ने 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका के अंतर्वस्तु के बारे में लिखा हैं कि –

"कहने की जरुरत नहीं कि बल पूरी तरह से घर–परिवार पर था| बाहरी जगत से सम्बन्धित सामग्री केवल कुछ विचित्र सूचनाएं और स्त्री सम्बन्धी समाचार ही थी| एक अंक में कहानियां, नैतिक उपदेश वाले बहुत से छोटे-छोटे वार्तालाप, वीरांगनाओं पर ऐतिहासिक टिप्पणियाँ, बच्चों के पालन-पोषण पर या लड़कियों की शिक्षा पर और परदे की प्रथा पर संवाद, स्त्री-धर्म या पातिव्रत-धर्म पर या घर-परिवार के भीतर तनावों और उन्हें (बड़े-बुजुर्गों की इच्छा का पालन करके) सुलझाने के तरीकों पर, बुरी संगत या नकुसानदेह पढाई आदि से बचने की सलाह आदि पर लेख शामिल होते| सम्पादकीय, खाना बनाने की विधियों और स्कूली छात्राओं से लेखादि मंगाने और कपड़े धोने के तरीकों पर सुझाव देने तक सीमित रहते|"[253]

---

[252] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 299

[253] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 314-315

'गृहलक्ष्मी' पत्रिका अपनी अंतर्वस्तु में परम्परागत, आदर्शवादी, पारिवारिक और उपदेशात्मक होते हुए भी स्त्री-प्रश्न की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है क्योंकि भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'बालाबोधिनी'(1874) पत्रिका के बाद; 'गृहलक्ष्मी' 20 वीं शताब्दी के पहले दशक में महिलाओं द्वारा सम्पादित हिंदी की पहली ऐसी पत्रिका थी, जिसने महिलाओं को लिखने- बोलने और विचार-विमर्श करने के लिए सार्वजनिक मंच प्रदान किया| यह पत्रिका अपने पूर्ववर्ती 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिका बालाबोधिनी से इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि 'बालाबोधिनी' में स्त्रियों के लिए घरेलू-शिक्षा से सम्बन्धित उपदेशात्मक लेख ही सीमित मात्रा में प्रकाशित किया जाता था, उसके लेख सिर्फ पुरुषों द्वारा ही लिखा हुआ होता था| लेकिन 'गृहलक्ष्मी' ने स्त्रियों को भी अपना विचार रखने का मौका दिया| इस अवसर को स्त्रियों ने 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में, जो स्त्रियों द्वारा सम्पादित, संचालित होती थी, भरपूर लाभ उठाया| वैसे तो इन दोनों ही पत्रिकाओं (गृहलक्ष्मी और स्त्री-दर्पण) का समय एक ही (1909) था, लेकिन 'गृहलक्ष्मी' में स्त्री-चेतना का जो स्वर दबे रूप से बाहर निकलता था, 'स्त्री-दर्पण' में स्त्री-मुक्ति का स्वर विचारोत्तेजक रूप से सामने आने लगा| कभी-कभी तो 'स्त्री-दर्पण में जिन सवालों को लेकर बहस चलती, उसकी गूंज गृहलक्ष्मी में भी सुनाई पड़ती और कई बार बहसे दोनों पत्रिकाओं में मिलकर चलती| एक पत्रिका में छपे लेख का जवाब दूसरी पत्रिका में दिया जाता|'[254]

स्त्री-दर्पण' पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' से इस मायने में भी अलग थी; कि 'गृहलक्ष्मी' की अपेक्षा 'स्त्री-दर्पण' में न केवल स्त्रियों के अधिकारों को स्वयं स्त्रियों ने ही मुखर रूप से उठाया बल्कि पुरुषों की स्वार्थपरता पर भी सवाल खड़े किये| अभी तक जितनी भी 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थी, उसमें स्त्रियों को ही नैतिक उपदेश दिया जा रहा था, पुरुषों की स्वार्थपरता को आलोचना का विषय नहीं बनाया जा रहा था लेकिन 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में स्त्रियों के अधिकारों का सवाल खुलकर तो उठाया ही जा रहा था, पुरुषों को भी कठघरे में

[254] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 127

खड़ा किया जा रहा था| फ्रांचेस्का आर्सीनी 'गृहलक्ष्मी' और 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में आई महत्वपूर्ण अंतरों पर प्रकाश डालते हुए लिखती है कि –

" 'गृहलक्ष्मी' की तुलना में 'स्त्री-दर्पण' (स्थापित जुलाई 1909) जिसका सम्पादन नेहरु परिवार की महिलाओं (रामेश्वरी, रूपकुमारी, कमला और उमा) के हाथ में था और जिसमें रचनाएँ भेजने वाले पुरुषों और स्त्रियों का दायरा काफी व्यापक था, अपनी स्त्री-सम्बन्धी दृष्टिकोण में और स्त्रियों की अधिकारों की रक्षा करने में अधिक खुली और मुखर थी|"[255]

आखिर क्या कारण है कि पुरुषों के सम्पादकत्व में निकलने वाली 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाएं विचारधारात्मक और भाषाई स्वर में पारम्परिक आदर्शों और पितृसत्तात्मक मूल्यों की तरफ ज्यादा से ज्यादा झुकी हुई थी और महिलाओं द्वारा सम्पादित और संचालित पत्रिकाएं परम्परागत आदर्शों को भले ही पूरी तरह से न त्यागा हो लेकिन स्त्रियों के अधिकारों के सवाल को बेबाकी से उठाने में पीछे नहीं थी? भारतेंदु हरिश्चन्द्र के सम्पादकत्व में निकलने वाली 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिका 'बालाबोधिनी' जिस तरह से स्त्री अधीनता को बनाए रखने के लिए पितृसत्तात्मक मूल्यों को स्थापित करने और स्त्रियों को रूढ़ छवि में परिभाषित करती है, क्या उसी तरह से 'गृहलक्ष्मी' और 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका या 'चाँद' का स्वरूप रुढ़िवादी और पितृसत्तात्मक है? इस फर्क को किस तरह से देखा जाए? क्या इसे सही और गलत, न्याय और अन्याय तथा तार्किकता और अतार्किता की कसौटी पर रखकर, इस फर्क का मूल्यांकन करें? या जेंडर विभेदीकरण को ध्यान में रख कर या स्त्री-पुरुष के संवेदनात्मक गहराई को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करें? या समय के अन्तराल को ध्यान में रख कर इस फर्क का मूल्यांकन किया जाए? अगर समय के अन्तराल को ध्यान में रख कर इस फर्क का मूल्यांकन करते है तो उसी दौर के हिंदी क्षेत्र में ही 'सीमंतनी उपदेश' के विचारोत्तेजक लेखन के बारे में क्या कहा जाए? सावित्रीबाई फुले, फातिमा शेख, पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, रुख्माबाई और 20वीं शताब्दी की महिला आन्दोलन की नेत्रियों

[255] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 316

उमा नेहरु, महादेवी वर्मा और सुमित्राकुमारी सिन्हा तथा ज्योतिबा फुले, डा. आंबेडकर इत्यादि समाज सुधारकों और साहित्यकारों का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए? क्या इनका मूल्यांकन इस आधार पर किया जाए कि सामाजिक रुढियों, स्त्री-पुरुष असमानता का विरोध करने वाले लेखक और लेखिकाएं तथा विचारक अपने समय से काफी आगे चल रहे थे? या यह संवेदनाओं या भावनाओं का मसला है या सहानुभूति और स्वानुभूति का? या इस फर्क को वर्ग, जाति और जेंडर विभेदीकरण के बरक्स देखा जाए?

जिस तरह से पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों का मुख्यधारा के समाज में दखल था; जिस तरह से भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमचंद इत्यादि साहित्यकारों के विचारों को मान्यता प्राप्त थी; एक बड़ा वर्ग उनके विचारों का समर्थन करता था, क्या उसी तरह से पंडिता रमाबाई, रुख्माबाई, उमा नेहरू को समर्थन प्राप्त था? स्त्रियों के पक्ष में समानता की बात करने वाली इन नेत्रियों को मुख्यधारा के समाज सुधारकों से विरोधों का ही सामना करना पड़ता था, समर्थन की बात तो, बहुत दूर की बात है|

'स्त्री-दर्पण' पत्रिका के सम्पादकत्व और संचालन का कार्यभार पूरी तरह से महिलाओं के हाथ में था| इसका विचार और स्वर इसकी समकालीन पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' से काफी कुछ मामलों में प्रगतिशील था| 'स्त्री-दर्पण' सही मायने में हिंदी क्षेत्र में, हिंदी भाषा में और पूरी तरह से महिलाओं द्वारा सम्पादित-संचालित पत्रिका थी, जिसमें विशेष रूप से स्त्रियों की समस्याओं पर लेख, कहानी, कविता, नाटक के अलावा सम्पादकीय टिप्पणी और पुस्तक समीक्षा प्रकाशित होता था| 19वीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में अगर भारतेंदु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के साहित्यकारों के नेतृत्व में समाज सुधार आन्दोलन चल रहा था, तो 1920 के पूर्वार्द्ध का स्त्री आंदोलन का सम्बन्ध स्त्रियों के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन से था| 20वीं शताब्दी में स्त्री-चेतना को प्रसारित-प्रचारित करने में महिला-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में स्त्रियों की भूमिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुएं डा. वीर भारत तलवार ने लिखा हैं कि -

"19वीं शताब्दी के उतरार्ध में पुरुषों के सम्पादकत्व में निकली गयी पत्रिकाओं और पुरुष लेखक द्वारा लिखे गए उपन्यासों/ साहित्यिक रचनाओं से हिंदी में स्त्री-आंदोलन का कोई सिलसिला नहीं चला| 20वीं शताब्दी के आने के बाद ही हिंदी प्रदेश में स्त्री जागृति की लहर फ़ैल सकी| इस लहर का रिश्ता 19वीं सदी के पुरुष सुधारकों के प्रचार से न होकर 19वीं सदी के आखिरी दशकों में खुद स्त्रियों के नेतृत्व में उठे स्त्री-आन्दोलन से था|"[256]

स्त्री-आन्दोलन को गतिशील करने में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण थी| इसमें भी 1920 के शुरूवाती दौर में स्त्रियों की समस्याओं को मुखर रूप से उठाने में हिंदी की 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका का योगदान उल्लेखनीय है| शायद इसी कारण प्रो. वीर भारत तलवार हिंदी में 'स्त्री- मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका से मानते हैं|

'स्त्री-दर्पण' पत्रिका की शुरुआत तब हुई जब "1909 ई. में इलाहबाद में पहली बार रामेश्वरी नेहरु ने 'प्रयाग महिला समिति' का गठन किया और इसी के साथ एक गंभीर पत्रिका 'स्त्री-दर्पण' निकालना शुरू किया| इस पत्रिका के एक अन्तरंग भाग 'कुमारी दर्पण' नाम से छपता था जिसकी सम्पादिका रूपकुमारी नेहरु थी|"[257]

'स्त्री- दर्पण' पत्रिका ऐसी पहली पत्रिका थी, जिसने हिंदी क्षेत्र में स्त्री-आन्दोलन को सार्थक दिशा प्रदान किया| खुद "1919 में पत्रिका में किये गये प्रचार में यह दावा किया गया था कि यही एक मात्र पत्रिका थी जो स्त्रियों के उनके धर्म के साथ- साथ उनके अधिकारों की शिक्षा भी देती थी, क्योंकि पति,भाई और पिता स्त्रियों के साथ पशुओं जैसा बर्ताव करते हुए देश का कल्याण नहीं कर सकते थे|'[258]

---

[256] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 126

[257] वही, पृष्ठ 127

[258] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 316

अपनी पत्रिका 'बालाबोधिनी' में भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने जिस मूक स्त्री का निर्माण किया था, उसे आवाज देने का काम रामेश्वरी नेहरु, कमला नेहरु, उमा नेहरू और रूप कुमारी नेहरू ने 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका के माध्यम से किया| इस तरह हिंदी क्षेत्र में स्त्री-चेतना और स्त्री-आन्दोलन को सही मायने में आधार प्रदान करने में 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका का योगदान अपने पूर्ववर्ती 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिका और साहित्य से काफी प्रगतिशील था|

'गृहलक्ष्मी' की अपेक्षा 'स्त्री-दर्पण' में स्त्रियों की समस्या को ज्यादा स्थान दिया जाता था| 'स्त्री-दर्पण' की विषयगत व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए फ्रांचेस्का आर्सीनी ने लिखा है कि:

"स्त्री-उपयोगी विषयों और संख्या का दायरा 'गृहलक्ष्मी' की अपेक्षा 'स्त्री-दर्पण' में कहीं अधिक व्यापकता, पर्दे की प्रथा, महिलाओं की उत्कृष्टता के ऐतिहासिक उदाहरणों और स्वास्थ्य और साफ-सफाई पर सामान्य लेखों के आलावा उसमें भूमिका आधारित शिक्षा के खिलाफ़ लेख, भारत और विदेश में स्त्रियों की उपलब्धियों की खबरे और स्त्री संगठनों की बैठकों की रिपोर्ट भी छपती थी, साथ ही राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय समाचार भी- जैसे यूरोप में चल रहा युद्ध, भारत पर उसका बोझ और चीन में विद्रोह| पत्रिका में पास के बंगाल और पंजाब में स्त्रियों के जागरण का जायजा बड़ी दिलचस्पी से लिया जाता और युक्त-प्रान्त में स्त्रियों की दुर्दशा से उसकी तुलना की जाती थी |"[259]

युक्त-प्रान्त में स्त्रियों द्वारा सम्पादित संचालित यह पहली पत्रिका थी जिसके लेखों में 'नारीवादी दृष्टिकोण'[260] का पता चलता है| वैसे तो इस पत्रिका में 19वीं शताब्दी के दौर में उठाये गए स्त्री-प्रश्न पर भी विचार विमर्श हो रहा था लेकिन इन समस्याओं पर दृष्टिकोणों का फर्क साफ नज़र आने लगा था| 19वीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में पुरुषों के नेतृत्व में स्त्रियों की शिक्षा का जिस तरह से घरेलूकरण किया गया था, स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में उन विचारों की आलोचना 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में देखी जा सकती है| स्त्रैण भूमिकाओं के खिलाफ

---

[259] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 316

[260] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 129

भी पत्रिका में आवाज उठाया जा रहा था| स्त्रियों ने उन समस्याओं पर पहली बार लिखना शुरू किया जिन समस्याओं को पुरुष समाज सुधारक अभी तक चिन्हित भी नहीं कर पाए थे| जैसे कि पर्दा प्रथा और मृतस्त्रीक विवाह| इसे पहली बार स्त्रियों ने अपनी शिक्षा और स्वास्थ्य के साथ जोड़ कर देखा| सबसे बड़ी बात यह है कि पहली बार स्त्रियाँ अपनी समस्याओं के प्रति स्वयं जागरूक होने और एकजुट होकर अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों के खिलाफ लड़ने का आह्वान अपनी बहनों से कर रही थीं| देहरादून के एक कन्या विद्यालय की प्रधान अध्यापिका हुक्मा देवी ने स्त्रियों को सचेत और जागरूक करने के लिए उनसे यह अपील किया कि -

"बहिनों ! बहुत काल व्यतीत हो गया, अब निद्रा को त्याग दो| मान, मर्यादा, धर्म सब कुछ लुट गया; आँख खोलकर देखो, संसार में क्या हो रहा है? जब सारा संसार स्वतंत्रता का राग अलाप रहा है, तो क्या भारतीय स्त्री जाति को अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त करने, पुरुष जाती के घोर अत्याचार से बचने, जूते की पदवी से मुक्ति प्राप्त करने के वास्ते कुछ प्रयत्न न कर, इस स्वतंत्रता के युग में चुपचाप पड़ी रहना उचित है?"[261]

'स्त्री-दर्पण' पत्रिका युक्त प्रान्त में स्त्रियोपयोगी प्रमुख पत्रिका होने के बावजूद इसकी भी कुछ सीमाएं थी| 1923 में जब पत्रिका रामेश्वरी नेहरु के सम्पादकत्व से निकलकर कानपुर में सुमति देवी और फूलकुमारी मेहरोत्रा के सम्पादकत्व में आई, तब पत्रिका की वो धार जाती रही, जो पत्रिका के आरम्भिक दिनों में हुआ करती थी| फ्रांचेस्का आर्सीनी ने इस पत्रिका की सीमा रेखा के बारे में लिखा हैं कि –

[261] वही, पृष्ठ 132

"पत्रिका के रूप में 'स्त्री-दर्पण' एक सीमित पारिवारिक उपक्रम ही बनी रही, वह कभी 1000 प्रतियों की दहलीज को पर न कर पायी, और 'अखिल भारतीय सम्मेलन' जैसे अभिजन वर्गीय महिला आन्दोलन से जुड़ी रही|"[262]

'चाँद' पत्रिका के नवम्बर 1923 अंक के 'साहित्य संसार' स्तम्भ के अंतर्गत भी 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका की सीमाओं और कमियों की तरफ ध्यान आकर्षित कराया गया है –

"स्त्री-दर्पण– स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिका! सम्पादिका श्रीमती सुमति देवी बी. ए. और श्रीमती फूलकुमारी मेहरोत्रा| यह सबसे पुरानी और सर्वप्रथम स्त्री सम्बन्धिनी मासिक पत्रिका है| गत १४-१५ वर्ष से यह भारतीय स्त्री समाज की सेवा कर रही है| यदि यह कहा जाए कि भारतीय महिलाओं में पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने की चाह इसी ने उत्पन्न की है तो अनुचित न होगा| श्रीमती रामेश्वरी नेहरु के सम्पादन में अपने जन्म समय के बाद 7-8 वर्ष तक यह बड़े मनोहर और उपादेय रूप में निकल चुकी है| कानपुर के श्री.परशुरामजी महरोत्रा बी.ए. इसी पत्रिका को अब निकाल रहे है| पत्रिका को और भी उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है|

इसका दिसम्बर मास का अंक अच्छा निकला है| पर हम अवश्य कहेंगे कि पत्रिका की गल्प तथा कभी-कभी लेख भी उत्तम श्रेणी के नहीं होते| हमें आशा है कि इस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न अवश्य किया जायेगा|"[263]

पत्रिका के इस सीमित और पारिवारिक उपक्रम को तोड़कर स्त्रियों की समस्याओं को व्यापक रूप से राष्ट्रीय फलक पर लाने का काम 'चाँद' पत्रिका द्वारा ही पूरा हुआ| इस सम्बन्ध में फ्रांचेस्का आर्सीनी का कहना हैं कि-

---

[262] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 316

[263] रामरख सिंह सहगल (संपादक) चाँद, नवम्बर 1923, वर्ष 2, खण्ड 1,पृष्ठ 110

"अंतत: यह 'चाँद' पत्रिका ही थी जिसने न केवल स्त्री- उपयोगी साहित्य का सांचा ही तोड़ दिया बल्कि स्त्रियों के विषयों को राष्ट्रीय अभियान के केंद्र में स्थापित कर दिया, वैसे ही जैसे एक दशक बाद किसानों और आर्थिक प्रश्नों के सिलसिले में समाजवादी करने वाले थे|"[264]

सचित्र मासिक पत्रिका 'चाँद' का सम्पादन 1922 ई. में रामरख सिंह सहगल और रामकृष्ण मुकुंद लघाटे द्वारा किया गया| जिसकी संचालिका श्रीमती विद्यावती सहगल थी| चाँद' पत्रिका का आकर 100 पृष्ठों का था| 'चाँद' पत्रिका अपनी व्यापकता और सामग्री में अपने पूर्ववर्ती पत्रिकाओं से काफी आगे निकल गई| यह पत्रिका स्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण साबित तो हुई ही, अपनी विभिन्न विषय वस्तु और सामग्री की वजह से यह पत्रिका मुख्यधारा की पत्रिका बनने में सफलता भी हासिल किया| इसमें महादेवी वर्मा की कविता नियमित रूप से प्रकाशित होती थी 'जिसके माध्यम से पहली बार महादेवी वर्मा एक प्रतिभाशाली कवयित्री के रूप में उभर कर हिंदी जगत के सामने आई|'[265]

सामग्री की दृष्टि से इस पत्रिका में सम्पादकीय टिप्पणी, पत्र, समीक्षाएं, समाचार-संग्रह, व्यंग्य चित्र इत्यादि के साथ कविता, कहानी और धारावाहिक रूप से उपन्यास प्रचुर मात्रा में प्रकाशित होता था| इसके साथ ही विज्ञापन भी बड़े पैमाने पर निकला जाता था| इसकी व्यापक स्वीकृति और लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि –

"जल्द ही उसे युक्त-प्रान्त, पंजाब, बिहार और राजस्थान के शिक्षा विभागों के सार्वजनिक और स्कूली पुस्तकालयों के लिए अनुमोदन मिला और प्रारम्भिक 1000 प्रतियों और 1930 में 15000 प्रतियों के संस्करण तक पहुँच कर वह सबसे अधिक पाठक संख्या वाली पत्रिका बन गयी"[266]

---

[264] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 318

[265] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 128

[266] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 329

इस पत्रिका की एक विशेषता, इसका विभिन्न समस्याओं और विषयों पर विशेषांक निकला जाना भी है| जैसे कि– विदुषी अंक, शिक्षा अंक (अगस्त1932), बाल-विवाह अंक (सितम्बर-अक्तूबर1923), विधवा विवाह अंक, सती अंक, गल्पांक, अछूत अंक, मारवाड़ी अंक, कायस्थ अंक, राजपुताना अंक, समाज अंक, विवाह अंक १९४१) इत्यादि इस पत्रिका की प्रमुख उपलब्धियां मानी जा सकती है|

'चाँद' पत्रिका अपनी पूर्ववर्ती स्त्रियोपयोगी पत्रिकाओं 'बालाबोधिनी' से विविधता और प्रगतिशीलता के मामले में अलग तो थी ही, 'गृहलक्ष्मी' और 'स्त्री-दर्पण' से भी कई मामलों में गुणात्मक अंतर रखती थी| समाज सुधारकों और साहित्यकारों के नेतृत्व में चला स्त्री–उद्धार का आन्दोलन का स्वरूप मूल रूप से स्त्रियों की भूमिका को घरेलू- क्षेत्र के अंतर्गत ही परिभाषित करना था| वे किसी भी तरह अपने पितृसत्तात्मक वर्चस्व से समझौता नहीं करना चाहते थे| 'बालाबोधिनी' जो हिंदी- क्षेत्र की पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका मानी जाती है, वह पूरी तरह से पितृसत्तात्मक मूल्यों को स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध थी| 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका भी कहीं न कहीं परम्परागत मूल्यों का वगैर विरोध किये, स्त्रियों के उद्धार के लिए काम कर रही थी, लेकिन जब तक रुढ़िवादी परम्पराओं के प्रति प्रतिरोध का स्वर न हो तब-तक स्त्री-उद्धार के लिए किया गया प्रयत्न भी पूरी तरह से कामयाब नहीं होता है|

'चाँद' से पहले की स्त्रियोपयोगी पत्रिकाएँ पितृसत्तात्मक घेरे के अन्दर ही स्त्रियों के लिए सम्मान और सुधार का रास्ता खोज रही थी| इसलिए वो स्त्री-मुक्ति के लिए एक सशक्त आवाज बनकर नहीं उभर पाती है| 'गृहलक्ष्मी' की अपेक्षा 'स्त्री-दर्पण' स्त्रियों में आत्मसम्मान की भावना जागृत करने के साथ ही उन्हें अपने खिलाफ़ हुए अत्याचारों पर बोलने की जुबान देती है लेकिन यह जुबान भी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं था| स्त्री अधिकारों के मामले में निर्णय लेने में यह अभी भी अस्पष्टता की स्थिति से गुजर रही थी| 'शायद इसका कारण हिंदी-क्षेत्र के समाज सुधारकों और साहित्यकारों का स्त्रियों के सन्दर्भ में अतिपरम्परावादी और अतिनैतिकतावादी होना था, इसका नैतिक दबाव हिंदी क्षेत्र की महिलाओं पर भी अपना

प्रभाव बनाए हुए था| शायद इसलिए भी की हिंदी में महाराष्ट्र की तरह न कोई पंडिता रमाबाई थी न ताराबाई शिंदे और न ही रुख्माबाई जैसी नेत्रियां जो परम्परावादियों के तमाम विरोधों के बावजूद, उनके अन्यायपूर्ण विचारों और विरोधों के खिलाफ लड़ती रही| न बंगाल की तरह हिंदी में कोई विद्यासागर था जो विधवाओं के खिलाफ हो रहे अत्याचारों के खिलाफ तमाम विरोधों के बावजूद पीछे नहीं हटता| हिंदी क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चन्द्र थे जिन्होंने स्त्रियों की समस्याओं को कभी स्त्री समस्या के रूप में देखने का प्रयास ही नहीं किया, बकायदा वो तो अपनी पत्रिका 'बलाबोधोनी' में स्त्रियों को एक ऐसे कैदखाने में बंद करके रखना चाहते थे, जो देखने और सुनने में तो काफी आकर्षक है लेकिन यह एक ऐसा सोने का पिंजड़ा है जो देखने में वैभवशाली प्रतीत होने पर भी परतंत्रता का ही दूसरा रूप है| 'बालाबोधिनी' ने इसी पिजड़े का निर्माण किया था| स्त्रियों के सम्पादकत्व में निकलने वाली 'स्त्री-दर्पण' ने इन सारी पाबंदियों, चुप्पियों और सीमाओं को तोड़ने का प्रयास किया| लेकिन इस पत्रिका में जो अनिर्णय और अस्पष्टता बची हुई थी उसे दूर किया 'चाँद' पत्रिका ने| जैसा कि फ्रांचेस्का आर्सीनी ने 'चाँद' के बारे में लिखा हैं कि –

" 'चाँद' ने यह काम उन सीमाओं को तोड़ कर दिखाया कि 'औरतों को क्या जानना चाहिए' तथा 'औरतों को क्या बोलना चाहिए |"[267]

'चाँद' ने स्त्रियों को उनकी स्त्रैण भूमिकाओं से बाहर निकलकर सार्वजनिक-क्षेत्र में उन्हें स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया| चूँकि यह समय गांधीवादी आन्दोलन का भी समय था, अत: स्त्रियों को राष्ट्रीय निर्माण के आन्दोलन से जुड़ने में भी बेहद आसानी हुई| अब स्त्रियों की भूमिकाएं मात्र घरेलू भूमिकाओं के संदर्भ में ही परिभाषित नहीं किया जा रहा था बल्कि राष्ट निर्माण के लिए उनकी भागीदारी को महत्वपूर्ण माना जाने लगा था| स्त्रियों को घरेलू भूमिकाओं या भूमिका आधारित भूमिकाओं से बाहर निकल कर सार्वजनिक- क्षेत्र में स्थापित करने में 'चाँद' पत्रिका ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया|

[267] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 319

इसके लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन भी अनुकूल साबित हुआ| यही नहीं जिस तरह से भारतेंदु हरिश्चंद ने 'बालाबोधिनी' पत्रिका के माध्यम से स्त्रियों को एक निष्क्रिय आज्ञाकारिणी प्राणी बनाने का प्रयास किया था; उन्हें प्रतीकात्मक सम्मान देने के लुभावने वादे किये थे, उससे आगे बढ़ कर 'चाँद' पत्रिका ने स्त्रियों को एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने में विशेष योगदान दिया| स्त्रियों के लिए 'चाँद' पत्रिका ने क्या भूमिका निभाया, इसे फ्रांचेस्का आर्सीनी के इन बातों से बखूबी समझा जा सकता है-

'चाँद' ने "स्त्री को भारतीय समाज की और राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के आन्दोलन की नायिका और सक्रिय सदस्य के रूप में सम्बोधित करना, केवल (वीरांगना और भारत माता की तरह) प्रतीकात्मक रूप में ही नहीं, बल्कि शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों के रूप में भी| दूसरा महत्वपूर्ण कदम स्त्री को हर तरह के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक प्रश्नों के बारे में बराबर जानकार बनाना, बिना किसी प्रतिबन्ध के; अंत में महिला सत्याग्रहियों और नेताओं की खबरे छापते रहना और खुद पत्रिका की पहचान को राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ देना| रामरख सिंह की अपनी जोशीली सम्पादकीय टिप्पणियाँ 'चाँद' प्रेस पर सरकारी प्रतिबन्ध और सहगल का कारावास- इस सबसे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ पत्रिका और उसके पाठकों की पहचान और मजबूत हो गयी|"[268]

'चाँद' में एक महत्वपूर्ण स्तंभ 'समाचार संग्रह' नाम से छपता था| यह स्तंभ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें स्त्रियों से सम्बंधित समाचारों के साथ-साथ देश-विदेश की घटनाओं और खबरों के बारे में सही जानकारी प्राप्त होती है| यह सिर्फ साहित्यिक पत्रिका ही नहीं थी| इस दृष्टि से यह पत्रिका मात्र साहित्यिक ही नहीं, बल्कि वो अतिरिक्त घटनाओं से भी लोगों को जोड़े रखने का काम करती थी| ऐसा नहीं है कि और पत्रिकाएँ समाचार को जगह नहीं देती थी लेकिन 'चाँद' पत्रिका 'स्त्रियों की दूसरी किसी पत्रिका की तुलना में समाचारों को अधिक स्थान देती थी|'[269] मिसाल के लिए 'चाँद' के अक्तूबर 1928 के अंक में यह खबर

---

[268] वही, पृष्ठ 319

[269] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 319

छपी थी –'प्रयाग में महिलाओं का उत्साह' जिससे यह सूचना मिलती है कि महिलाएं किस तरह स्त्रियों की समस्याओं को लेकर राजनैतिक और क़ानूनी रूप से सक्रिय होती जा रही थी-

"विगत २री सितम्बर को श्रीमती उमा नेहरु की अध्यक्षता में इलाहाबाद में स्त्रियों की वृहद सभा हुई| प्राय: शहर की सभी प्रतिष्ठित देवियाँ उपस्थित थी| श्रीयुत चिंतामणि की धर्मपत्नी ने प्रस्ताव किया कि शारदा बिल का समर्थन किया जाए और बाल-विवाह की प्रथा बंद की जाए| श्रीमती एल. आर. जुत्शी ने प्रस्ताव किया कि यह प्रथा हमारी उन्नति की घातक है, अत: इसे शीघ्र ही उठा देना चाहिए| दोनों प्रस्ताव बहुमत से पास हो गए|"[270]

इसी तरह अनमेल विवाह, विधवा-विवाह, वृद्ध विवाह की भर्त्सना, देश-विदेश के स्त्रियों के बारे में खबरे भी छपती थी| जैसे इंग्लैड की स्त्रियों का उत्साह, स्त्रियों का देश, तैराक बालिका, रूसी स्त्रियाँ इत्यादि|

साहित्यिक रचनाओं के जरिये जहाँ लोगों की भावनाओं को मानवीय स्तर पर समझने और महसूस करने का अवसर मिलता है वही समाचार घटनाओं इत्यादि के ब्योरे समाज की सही तस्वीर पेश करते हैं | पत्र-पत्रिकाएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं| पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख जहाँ लोगों को आनन्द देने के साथ उनकी संवेदनाओं को झकझोरने का काम करती है, वहीं दूसरी तरफ पत्रिकाओं में प्रकाशित समाचार समाज में हो रहे घटनाओं को लोगों के सामने लाकर सही और गलत में फर्क करने और दूसरों के दुःख-दर्द को समझने का भी मौका देती है| 'चाँद' में 'विविध' और 'समाचार संग्रह' स्तंभ के अंतर्गत जिन घटनाओं का ब्योरा दिया जाता था, उससे वास्तविक दुनिया में क्या घटित हो रहा है, उसके बारे में सही जानकारी मिलती थी| यह जानकारी न केवल उस समय के लिहाज से महत्वपूर्ण था बल्कि आज भी जब हम उपनिवेशकालीन स्त्रियों की वास्तविक स्थिति के बारे में अध्ययन और मूल्यांकन कर रहे होते हैं, तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है| औपनिवेशिक काल में

[270] रामरख सिंह सहगल(संपादक) चाँद, अक्टूबर 1928, पृ. 14

महिलाओं की जिन समस्याओं पर ज्यादातर विचार-विमर्श चल रहा था उसमे स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह, बाल–विवाह, परदा प्रथा, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह तथा महिलओं के क़ानूनी और राजनैतिक अधिकारों का सवाल प्रमुख रूप से उठाया जा रहा था|

इन समस्याओं की वास्तविक स्थिति क्या थी; सुधार का कार्य किस गति से आगे बढ़ रहा था, इसे हम पत्रिकाओं के माध्यम से अच्छी तरह से समझ सकते है| हिंदी में स्त्री-विमर्श की वैचारिक स्थिति को मजबूत करने के लिए भी पत्रिकाओं का मूल्यांकन बेहद जरूरी है|

बाल-विवाह की समस्या, विधवाओं की समस्या तथा स्त्री-शिक्षा की समस्या और परदा प्रथा की समस्या एक दूसरे से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ था| हिंदी- क्षेत्र में सती प्रथा पर उस तरह से विचार-विमर्श नहीं हो रहा था जिस तरह से बंगाल में राजाराममोहन राय ने सती प्रथा के विरोध में आन्दोलन चलाया था| हालांकि हिंदी-क्षेत्र में सती की महिमा का गुणगान समाज सुधारकों और साहित्यकारों द्वारा बकायदा किया जा रहा था|

हिंदी-क्षेत्र में ही नहीं पूरे भारत में विधवाओं की समस्या एक विकट समस्या थी| 19वीं शताब्दी में भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'स्त्रियोपयोगी पत्रिका 'बालाबोधिनी' में स्त्रियों की शिक्षा का घरेलूकरण करने, उन्हें आदर्श पत्नी और माँ बनाने के सिवा किसी भी समस्या पर बात नहीं की गयी है| विधवाओं की समस्या पर तो किसी तरह की चर्चा भी नहीं किया गया है| 'गृहलक्ष्मी' और 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में स्त्रियों से सम्बन्धित सभी समस्याओं को विचार-विमर्श के केंद्र में लाया गया| 'चाँद' पत्रिका में तो बकायदा इन समस्याओं पर विशेषांक निकला गया| विधवा-पुनर्विवाह की क्या स्थिति थी इसे 'समाचार संग्रह' स्तंभ के अंतर्गत छपने वाली सूचनाओं से बखूबी समझा जा सकता है| 'चाँद' के जनवरी 1927 के अंक में समाचार 'संग्रह स्तंभ' के अंतर्गत विधवा-पुनर्विवाह के विषय में सूचनाएं प्रकाशित हुई थी जिससे पता चलता है कि देश के विभिन्न भागों में विधवा-विवाह की क्या स्थिति थी-

“लाहौर से ‘विधवा-विवाह सभा’ के मंत्री महोदय सूचित करते हैं कि सन १९२६ ई. के अक्टूबर और नवम्बर मास में सभा और उसकी शाखाओं द्वारा क्रमश: २०२ और ३१९ विधवाओं का पुनर्विवाह सकुशल सम्पन्न हुए| इस प्रकार पिछले १० महीनों (अर्थात पहली जनवरी सन १९२६ ई. से अक्टूबर सन १९२६ तक) में २४०६; तथा ११ महीनों (अर्थात प्रथम जनवरी सन १९२६ ई. से नवम्बर सन १९२६ तक में २७२५ विवाह हुए |”[271]

इसमें जाति और क्षेत्र के हिसाब से भी कितनी विधवाओं का पुनर्विवाह हुआ, इसका ब्यौरा दिया गया है| मिसाल के लिए इसे नीचे दिया जा रहा है –

जाति के हिसाब से ब्यौरा –

“अक्टूबर सन १९२६ तक -

ब्राह्मण ४४३, खत्री ३१५, अरोड़ा ४२९, अग्रवाल ३१८, कायस्थ ८७, राजपूत २१७, सिक्ख १९९, और फुटकर ३९८; कुल मिलाकर १४०६;

नवम्बर सन १९२६ तक :-

ब्राह्मण ४८७, खत्री ३४७, अरोड़ा ५५६, अग्रवाल ३२४, कायस्थ ९५, राजपूत २४९, सिक्ख २३४, और फुटकर ४३३ ; कुल मिलाकर २७२५;

प्रान्त के हिसाब से ब्यौरा :-

अक्टूबर सन १९२६ तक :-

पंजाब और सीमाप्रांत १४६२, सिंध १६३, दिल्ली ७५, युक्त-प्रान्त ५३४, बंगाल ९६, मद्रास ७, बम्बई ६, मध्यप्रांत ८, आसाम ६, बिहार और उड़ीसा ४९; कुल २४०६;

नवम्बर सन १९२६ तक :-

---

[271] रामरख सिंह सहगल (सम्पादक) चाँद, जनवरी 1927 (समाचार संग्रह) पृ. 364

पंजाब और सीमाप्रांत १६८१, सिंध २२९, दिल्ली ७९, युक्त-प्रान्त ५५५, बंगाल १०४, मद्रास ७, बम्बई ६, मध्यप्रांत ९, आसाम ६, बिहार और उड़ीसा ४९; कुल २७२५; |"[272]

अपनी किताब 'हिंदी का लोकवृत' में फ्रांचेस्का आर्सीनी ने सूचना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा हैं कि –

"सूचना के इस निर्बाध प्रभाव में यह विचार छिपा हुआ था, जो सार्वजनिक क्षेत्र के हेबरमास की अवधारणा के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, कि सूचना के सम्पर्क से ही सार्वजनिक मुद्दों को हर प्रभावित पाठक का सरोकार बना कर आप से आप आलोचनात्मक रवैया और राजनैतिक चेतना विकसित हो जातीहै| इस तरीके से 'चाँद' महिलाओं के अन्दर नागरिक और राजनैतिक चेतना का वैसा ही पोषण कर रहा था जैसा 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में किया था|"[273]

'समाचार संग्रह' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि इससे लोगों के अन्दर राजनैतिक और क़ानूनी चेतना के साथ-साथ सामाजिक चेतना का विकास बिना किसी तर्क-वितर्क किये ही पैदा हो सकता था| इसके माध्यम से लोग समस्याओं के विषय में स्वयं ही मूल्यांकन कर सकते थें| उदाहरण के लिए अगर हम 'चाँद' के जनवरी 1927 के अंक को पेश करें तो हम देखते हैं कि इससे स्त्रियों से सम्बंधित समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है| साथ ही अन्य समस्याओं के बारे में भी जानकारी दी गयी है| जैसा कि-

"विधवा- विवाह, दण्ड नहीं- विक्टोरिया फ़्रांस, बालिका पत्नी की नृशंस हत्या, अछूतों के लिए विशेष प्रबंध, रानी जगकुमारी देवी की मृत्यु, कालापानी से फांसी, दलितोंद्धार-सम्मेलन, एक प्रशंसनीय दान, भरतपुर राज्य में विधवा-विवाह, बम्बई स्त्री-शिक्षा-सम्मेलन, बनारस महिला-सम्मेलन, बगलौर महिला-कांफ्रेंस, मद्रास गवर्नर के पास महिला डेवूटेशन, मनिस्टर का उदार दान, बड़ौदा सरकार और अछूत, अछूत विद्यार्थी और कोचीन

[272] रामरख सिंह सहगल (सम्पादक) चाँद, जनवरी 1927 (समाचार संग्रह) पृ. 364

[273] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 320

सरकार, अछूत विद्यार्थी और मैसूर विश्वविद्यालय, अखिल भारतवर्षीय महिला-कानफ्रेन्स, बालकों की मृत्यु संख्या, प्रथम महिला डाक्टर, गुजरात-महिला-शिक्षा-सम्मेलन, अन्तर्जातीय विधवा-विवाह, हिन्दू युवती की आत्महत्या, सिपाही की नीयत, स्वामी श्रद्धानन्द जी का खून इत्यादि|"[274]

उपरोक्त समाचारों के विवरण से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि 'चाँद' का 'समाचार संग्रह' स्तम्भ कितना व्यापक और विविधता पूर्ण है| किसी भी साहित्यिक रचना या लेख की अपेक्षा इससे ज्यादा जानकारी और ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; आलोचनात्मक दृष्टि और राजनैतिक चेतना विकसित की जा सकती है| यह पत्रिका स्त्रियोपयोगी होते हुए भी मात्र स्त्रियोपयोगी नहीं थी और विविधता पूर्ण तथा व्यापक होते हुए भी स्त्रियों की समस्याओं के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध थी|

चाँद' की पूर्ववर्ती पत्रिकाओं में भी समाचार निकला जाता था, लेकिन उनका दायरा इतना व्यापक और विविधता पूर्ण नहीं था| इसके अलावा इससे पहले की पत्रिकाएँ उच्च और शिक्षित वर्ग की महिलओं के लिए ही सम्बोधित थी| उसमें भी महिलाओं के लिए ज्यादातर उपदेशात्मक और नैतिक- धार्मिक भावबोध से सम्बन्धित लेख ही देखने को मिलाता है लेकिन 'चाँद' पत्रिका में इन सारे दायरों को तोड़कर महिलाओं की समस्याओं को सिर्फ समाज और परिवार की समस्याओं के साथ ही जोड़कर नहीं देखा बल्कि एक व्यक्ति के रूप में स्त्री की समस्या को देखने; उनकी समस्याओं से लोगों को जोड़ने; उनके प्रति सहानुभति और बराबरी का भाव भरने का भी प्रयास किया| 'चाँद में छपे ज्यादातर लेख सामाजिक रूढ़ियों, स्त्री-विरोधी प्रथाओं के खिलाफ़ मुखर आवाज रखता था| अनमेल विवाह, बाल-विवाह, सती प्रथा इत्यादि स्त्री-विरोधी प्रथाओं के प्रति 'चाँद का रवैया काफी आलोचनात्मक और भर्त्सनापूर्ण हुआ करता था|

जाति-पांति के भेद के प्रति भी 'चाँद' आलोचनात्मक रुख रखता था| मार्च 1928 के अंक में 'हिन्दू समाज का कलंक' नामक शीर्षक में जाति भेद के शिकार एक अछूत विद्यार्थी के बारे

[274]रामरख सिंह सहगल, (सम्पादक) चाँद, जनवरी 1927 (समाचार संग्रह) पृष्ठ 364-368

में लिखा गया था, जिसमें उसके साथ भेदभाव करने वाले अध्यापकों और हिन्दुओं की भर्त्सना की गई है|

मार्च 1928के अंक में ही 'विवाह या बलिदान' शीर्षक समाचार में उदयपुर के महाराजकुमार द्वारा अपने से कम उम्र लड़की से विवाह करने पर उनकी भर्त्सना की गई है –

"हाल ही में उदयपुर के महाराजकुमार ने, जिनकी अवस्था पचास वर्ष की है, एक सत्रह वर्ष की बालिका से विवाह किया है| आप अपंग है, बिना दो आदमियों के सहारे उठ- बैठ नहीं सकते| इसके पूर्व दो विवाह कर चुके है, लेकिन फिर भी आप की हवस पूरी नहीं हुई| आपने तीसरी शादी का आयोजन कर ही डाला| कहते है कि लड़की ने इस विवाह की बात जानकर खाना-पीना सब छोड़ दिया था| यह भी सुना जाता है कि उस पर पहरा बिठा रखा था, जिससे वह कही आत्महत्या न कर ले| हम नहीं समझ सकते, कि इस बेचारी अबला का यह विवाह था या बलिदान| क्या उदयपुर के जिम्मेदार नागरिक इस विषय में समूची प्रकाश डालेंगे ?"[275]

रामरख सिंह सहगल के सम्पादकत्व में सम्पादित 'चाँद' की एक और विशेषता यह थी कि यह पत्रिका स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं को मात्र उच्चवर्गीय शिक्षित महिलाओं तक ही सीमित नहीं रखता था, बल्कि 'चाँद' ने सभी वर्ग की महिलाओं को सामाजिक- राजनैतिक क्षेत्र से जोड़ने का प्रयास किया| जैसा कि फ्रांचेस्का आर्सीनी लिखती हैं कि –

"चाँद की एक और ताकत यह भी थी कि उसने अपने दायरे को केवल शिक्षित महिलाओं तक ही सीमित नहीं रखा (जो उसकी वास्तविक ग्राहक थी) बल्कि उसने देश भर की और तमाम समाजिक वर्गों की सभी स्त्रियों की वाणी बनने का प्रयास किया| उसने 'समाज सुधार' का अभिप्राय ही बदल दिया: स्त्रियों पर केन्द्रित पहले की पत्रिकाओं के विपरीत समाज सुधार का मतलब अब स्त्रियों को 'सीखाना' या 'सुधारना' नहीं, बल्कि उनकी ओर से समाज को सुधारना था| इस तरह उसका रवैया 'स्त्री-उद्धार' का नैतिक उपदेशपरक रवैया न होकर,

[275] रामरख सहगल (संपादक) चाँद, मार्च 1928, पृ. 656

स्त्रियों की ओर से समाज की मुखर और तीखी आलोचना करने वाला रवैया था| इसलिए भले ही सम्पादक और उपसम्पादक पुरुष थे, 'चाँद' महिलाओं की जागरूकता और आत्मसजगता का महत्वपूर्ण मंच तथा हिंदी क्षेत्र के राजनीतिकरण का महत्वपूर्ण साधन बनने में सफल रही|"[276]

'चाँद' के प्रगतिशील और क्रांतिकारी उद्देश्य को इस बात से भी अंदाजा लगाया जा सकता है कि पत्रिका के मुखपृष्ठ पर स्त्रियों के लिए किसी तरह का नैतिक या धार्मिक उपदेश नहीं दिया गया था| मिसाल के लिए अगस्त 1932 के अंक के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ उद्देश्य, उसके मुखर होने का संकेत देता है-

"स्त्रियों के स्वत्वों की रक्षा करना तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध क्रांति उत्पन्न करना ही पत्रिका का उद्देश्य है|"

औपनिवेशिक भारत में स्त्रियों की जिन समस्याओं को उठाया गया उनमे बाल-विवाह की समस्या बहुत गंभीर समस्या थी| इसे महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकाओं ने स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में सबसे बड़ी रुकावट के रूप में परिभाषित किया| 'चाँद' पत्रिका के सितम्बर-अक्टूबर 1923 का अंक बाल-विवाह से सम्बन्धित विशेषांक था| इससे पहले 'चाँद' ने 'शिक्षा-अंक' विशेषांक निकाला था| इससे स्त्रियों के प्रति 'चाँद' कितनी प्रतिबद्ध थी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है| बाल-विवाह अंक में पहला लेख डाक्टर एनी विसेंट का था, जिसका शीर्षक था- 'बाल-विवाह और उसके भयंकर दुष्परिणाम' यह व्यख्यान एनी विसेंट ने 17 अक्तुबर को मद्रास में अंग्रेजी में दिया था, जिसे 'चाँद' ने हिंदी में अनुवाद करके प्रकाशित किया था| बाल-विवाह को विधवा होने के संदर्भ से जोड़ा गया; कि बचपन में शादी हो जाने की वजह से विधवाओं की संख्या में बढ़ोतरी हुई है और बचपन में विवाह हो जाने के कारण ही लड़कियों की पढाई नहीं हो पाती है और उनकी शिक्षा बीच में ही अधूरी छूट जाती है|

[276] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 323

प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे ने 'युक्तप्रांत में हिन्दुओं में बाल-विवाह' नामक शीर्षक में बाल-विधवाओं का आकड़ा पेश किया है| 'अखिल भारतवर्षीय हिन्दू महासभा के अधिवेशन में यह प्रस्ताव सर्वानुमति से स्वीकृत हो चुका है कि १८ वर्ष उम्र का लड़का और १२ वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह न किया जाए|"[277]

'बाल-विवाह' नामक लेख में श्रीमती दमयंती देवी ने विधवाओं की अत्यधिक संख्या का सम्बन्ध बाल-विवाह से जोड़ा है-

"इस कुरीति से सब से बड़ी हानि जो हम देख्रते है वह यह है कि आज समाज में अनगिनत विधवाएं कलपती हुई दृष्टिगोचर हो रही है| सन १९११ की मनीषी गणना की सरकारी रिपोर्ट नीचे दी जा रही है उसे हम कलेजे पर हाथ रख कर जरा ध्यान से देखें|

१ वर्ष आयु के अंदर की विधवाएं - १०६४

१ से २ वर्ष आयु तक की विधवाएं – १,२१७

२ से ३ वर्ष आयु तक की विधवाएं -२२७१

३ से ४ वर्ष आयु तक की विधवाएं – ४५१३

४ से ५ वर्ष आयु तक की विधवाएं – १०,४२२

१० से १५ वर्ष आयु तक की विधवाएं – २७५,८६२

जोड़ – ३,९१,१४७ |"[278]

1920 का दशक हिंदी क्षेत्र की महिलओं के लिए काफी महत्वपूर्ण था| क्योंकि यही वह समय था जब भारी संख्या में महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ने लगी थीं| इसके पीछे गाँधी जी

[277] रामरख सिंह स्हगल,(संपादक) चाँद, अक्टूबर 1923, पृ. 291
[278] रामरख सिंह सहगल (संपादक) चाँद, अक्टूबर 1923, पृ. 301

द्वारा चलाया गया स्वतंत्रता आन्दोलन का हाथ तो था ही, शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण भी महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय हो रही थी| इस दशक में शिक्षित महिलाओं की संख्या में काफी इजाफा हुआ| यही कारण है कि इस दशक में महिलाओं द्वारा लिखे गए साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर मात्रा में प्रकाशित होने लगा था| महिलाएं हिंदी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्त करने लगी थीं| इसके कारणों का उल्लेख्य करते हुए फ्रांचेस्का आर्सीनी का कहना हैं कि –

"निस्संदेह इसके पीछे हिंदी साक्षरता, शिक्षा और छपाई के सामान्य विस्तार का हाथ था, साथ ही प्रथम विश्व युद्ध और असहयोग आन्दोलन के बाद राष्ट्रवादी आन्दोलन में लोगों की अधिक व्यापक हिस्सेदारी का भी|"[279]

शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि 'चाँद' ने अगस्त 1923 में शिक्षा पर एक विशेषांक निकला था| शिक्षा के महत्व पर सम्पादक ने 'सम्पादकीय विचार' के अंतर्गत लिखा हैं कि -

"सभी लोग इस बात को स्वीकार करते है कि शिक्षा का व्यक्तियों के ऊपर और इस कारण समाज के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है| व्यक्तियों का चरित्र और समाज का स्वरूप शिक्षा के स्वभाव पर ही निर्भर है| अगर कोई जाति संसार के इतिहास में अपने महान कारनामों को सोने के अक्षरों में लिख जाती है तो अपने शिक्षा के स्वरूप के कारण| और अगर कोई संसार की समस्त जातियों में अपनी जलील जिन्दगी बिताते हुए धीरे-धीरे रसातल की ओर बढ़ती जाती है तो वह भी शिक्षा के कारण |"[280]

सम्पादकीय विचार में शिक्षा के विषय में सम्पादक के अभिव्यक्त विचारों से यह समझा जा सकता है कि शिक्षा को कितने व्यापक अर्थ में लोगों के सामने रखा गया है| अपने सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादक ने स्त्री-शिक्षा के विशेष महत्व के विषय में भी विस्तार से

---

[279] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 298-299

[280] रामरख सिंह सहगल(संपादक) चाँद, अगस्त 1923, (शिक्षा-विशेषांक) पृ. 205

विचार किया है| स्त्रियों को शिक्षित करने के संदर्भ में सम्पादक का विचार परम्परागत विचार से बहुत ज्यादा अलग तो नहीं कहा जा सकता है लेकिन स्त्रियों को शिक्षित करने के प्रति इनकी जो चिंता है वो इनके लेखन से साफ जाहिर होता है| सम्पादक ने स्त्रियों के शिक्षा के सवाल को घरेलू संदर्भ में भी परिभाषित किया है, लेकिन इसके सही कारणों की तरफ भी ध्यान आकर्षित किया है|

19वीं शताब्दी में भी समाज सुधारक स्त्री-शिक्षा के महत्व को भावी संतान के पालन-पोषण से जोड़कर देखते थे, यहाँ 20वीं शताब्दी में भी'चाँद' के सम्पादक ने स्त्री-शिक्षा का महत्व भावी सन्तान के शिक्षित करने के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया है-

"स्त्री जाति की शिक्षा पर जिस पर हम इस समय कुछ विचार करना चाहते हैं, विशेष महत्व रखती है| क्योंकि इस का प्रभाव समाज के उस अंग पर पड़ता है कि जो भावी संतान और समाज के भविष्य को निश्चित करने में, शिक्षा के बाद, सबसे ज्यादा प्रभावशाली है| समाज के व्यक्तियों के चरित्र को बनाने में सबसे पहले जो चीज अपना असर डालती है वह माता है| बच्चे के कोमल ह्रदय पर बाल्यावस्था में माता का जो प्रभाव पड़ता है| इसलिए माता की शिक्षा का प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण है|"[281]

स्त्रियों को धार्मिक शिक्षा दिये जाने के सन्दर्भ में 'चाँद' का विचार अपने पूर्ववर्ती स्त्रियोपयोगी पत्रिकाओं से काफी अलग है| 'बालाबोधिनी' इत्यादि पत्रिकाओं की तरह इसका उद्देश्य स्त्रियों को मात्र सती-सावित्री का पाठ पढ़ाना नहीं है, बल्कि सम्पादक का कहना है कि –

"अगर धार्मिक शिक्षा का यह अर्थ है कि बालिकाओं के ह्रदय में पीपल भक्ति, बरगद भक्ति, शीतला उपासना, सर्प उपासना आदि अन्धविश्वासों का प्रचार किया जाए, उनके ह्रदय को नरक के भय से त्रसित करके पति-उपासना में ही लगाये रखा जाए, तो जाहिर है कि हम ऐसी धार्मिक शिक्षा के सख्त खिलाफ है, किन्तु अगर धार्मिक शिक्षा के यह माने है कि स्त्रियों

[281] वही, पृष्ठ 205

के हृदय में सहानुभूति, वीरता, दृढ़ता, कर्तव्यपरायणता, परोपकार और सदाचार आदि गुणों का संचार किया जाय तो हम इसकी महान आवश्यकता का जोरदार से जोरदार शब्दों में समर्थन करेंगे|"[282]

जाहिर है कि 1920 के दशक में भी स्त्री-शिक्षा का मायने बहुत कुछ बदला नहीं था, लेकिन उसके उद्देश्य और भाव में बहुत कुछ विस्तार देखने को मिलता है| जिस तरह से 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में पुरुष साहित्यकारों द्वारा सम्पादित पत्रिकाओं और हिंदी साहित्य में स्त्रियों को मात्र एक निष्क्रिय घरेलू औरत में तब्दील करना था, वह निष्क्रियता 1920 के दशक में बहुत कुछ समाप्त हो चुका था| अब वो निष्क्रियता सक्रियता में तब्दील हो चुकी थी, जिसे बहुत हद तक 'चाँद' ने सम्भव करके दिखाया| 'चाँद' के लिए स्त्री-शिक्षा का मतलब मात्र स्त्री को आज्ञाकारिणी, अनुगामिनी तथा सती-सावित्री के निष्क्रिय और प्रतीकात्मक भूमिका में तब्दील नहीं करना था बल्कि उसके बुद्धि को परिपक्व और उसमें दृढ़ता भी प्रदान करना था| 'चाँद के सम्पादकीय में यह विचार स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है| आखिर 'चाँद' के सम्पादक रामरख सिंह सहगल के इस सुलझे हुए विचार के पीछे क्या कारण हो सकता है ?

महिला आन्दोलन की नेत्रियों और हिंदी की लेखिकाओं ने स्त्री-शिक्षा के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट बाल-विवाह और परदा प्रथा को माना| उनका तर्क था कि बाल-विवाह के कारण लड़कियों की शादी छोटी उम्र में ही हो जाती है, जिसके कारण उनकी शिक्षा बीच में ही अधूरी रह जाती है| यही कारण है कि लेखिकाएं बाल-विवाह को न केवल विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या से जोड़कर देख रही थी बल्कि बाल-विवाह को शिक्षा के रास्ते में भी सबसे बड़ी समस्या के सन्दर्भ में परिभाषित कर रही थीं|

इसी तरह परदा प्रथा को भी स्त्री-शिक्षा के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट के रूप में देखा जा रहा था| लेकिन अभी भी कुछ ऐसे परम्परावादी थे जो परदा को 'इज्जत' के साथ जोड़कर

[282] रामरख सिंह सहगल(संपादक) चाँद, अगस्त 1923, (शिक्षा-विशेषांक), सम्पादकीय विचार, पृष्ठ 205

देख रहे थें| 'चाँद' के अगस्त 1923 के 'शिक्षा- अंक' में प्रकाशित 'स्त्री-शिक्षा स्वाधीनता और परदा' शीर्षक लेख के लेखक श्रीयुत रमेशप्रसाद परदा को स्त्री की स्वतंत्रता में किसी तरह की रुकावट नहीं मान रहे थे| उनके लिए परदा स्त्री पराधीनता का सूचक नहीं है| उन्होंने इसकी पुष्टि भूपाल की बेगम साहिबा से बातचीत के आधार पर करने की कोशिश की है, जबकि 20वीं शताब्दी के पहले दशक ही स्त्रियाँ पर्दे के खिलाफ आवाज उठा रही थी| 'स्त्री-दर्पण' (1909) पत्रिका में लेखिकाओं और महिला आन्दोलन की नेत्रियों ने परदे को स्त्री-शिक्षा के लिए रुकावट माना और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसे हानिकारक माना| पद्मसिंह शर्मा ने 'गृहलक्ष्मी' में 'स्त्री-शिक्षा पर अकबर के विचार' शीर्षक लेख में उर्दू कवि अकबर के स्त्री विरोधी विचार का जब समर्थन किया था तब 'स्त्री-दर्पण' के जून 1917 के अंक में भी ह्दयमोहिनी नाम की लेखिका ने उनके विचारों को बहुत बेबाकी से आलोचना की थी| उन्होंने लिखा कि– 'अकबर महाशय के विचार घुने हुए पुराने गेंहू है| यह इतने संकीर्ण है की कदापि मानने योग्य नहीं|'[283]

इसके उलट श्रीयुत रमेशप्रसाद परदा प्रथा को न्यायसंगत ठहराने के लिए भूपाल की बेगम साहिबा का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि –

"बेगम साहिबा उच्च शिक्षिता महिला है| उनसा देश- विदेश की अभिज्ञता रखने वाले मनुष्य बहुत कम है| दर्शन,राजनीति, धर्म, लोक-शिक्षा इत्यादि विषयों पर वो किसी से कम नहीं है| पृथ्वी के अधिकांश देशों में उन्होंने भ्रमण किया है| राजाओं के साथ उनका सर्वदा काम रहता है क्योंकि वे स्वयं एक शासन चलाती है| एक बड़े देश की मालकिन है .. शिक्षा विस्तार को वे पूरी पक्षपाती है, अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय की चैन्सेलर है| उनके विद्योत्साह के विषय में इतना कहना यथेष्ट है| इतना होने पर भी वो पर्दानशीन है|" [284]

---

[283] वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृतियाँ, प्रकाशक, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993 पृष्ठ 137-138

[284] रामरख सिंह सहगल(संपादक) चाँद, अगस्त 1923, शिक्षा- अंक, पृष्ठ 234

बेगम साहिबा भी पर्दे को स्त्री-स्वतंत्रता के लिए किसी तरह का रुकावट नहीं मानती थी| श्रीयुत रमेश प्रसाद द्वारा यह उदाहरण देने का साफ मतलब यही है कि ये भी पर्दे को स्त्रियों की शिक्षा में किसी तरह की रुकावट नहीं मानते है लेकिन इसी दशक में बिहार में परदे के खिलाफ हो रहे आन्दोलन की 'चाँद ' ने भूरी- भूरी प्रशंसा की है|

इस तरह कुछ लोग अभी भी स्त्रियों से सम्बन्धित परम्परिक रूढ़ियों का समर्थन कर रहे थे| जबकि लेखिकाएं पर्दे के खिलाफ एकजुट हो रही थी| उनके लिए परदा स्त्रियों की स्वतन्त्रता, शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए अनर्थकारी था| 'चाँद' के 'शिक्षा-अंक' में जितना भी लेख प्रकाशित हुआ था उसमे से ज्यादातर लेख अपनी प्रकृति में स्त्री की भूमिका आधारित शिक्षा के ज्यादा हिमायती है|

'चाँद' जिस तरह से स्त्रियों की समस्याओं के साथ-साथ उस दौर में चल रहे राष्ट्रीय,राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर अपना बेबाक विचार रखता था, शायद स्त्री-शिक्षा के संदर्भ में निकली गयी 'शिक्षा-अंक' विशेषांक में वो बात नज़र नहीं आती है| हालांकि कुछ शर्त और सुधार के साथ स्त्रियों को एक सक्रिय नागरिक की भूमिका में स्थापित करने में, उसे प्रतीकात्मक भूमिकाओं से बाहर निकाल कर देश की सदस्य के रूप में स्थापित करने में 'चाँद' ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, इसमें कोई शक नहीं है|

रामरख सिंह सहगल के बाद 'चाँद' के सम्पादकीय कार्य नवजादिकलाल श्रीवास्तव के हाथ में आया| ये इससे पहले 'मतवाला' के सम्पादक भी रह चुके थे| सितम्बर 1935 में 'चाँद' के सम्पादकीय से बर्ख़ास्त होने के बाद 'चाँद' का सम्पादन 1935 से 1938 तक महादेवी वर्मा ने किया| इसके बाद चतुरसेन शास्त्री ने 'चाँद' का सम्पादकीय कार्यभार संभाला| जनवरी 1941 के अंक के अनुसार 'चाँद का सम्पादन का कार्य श्री सत्यभक्त के हाथ में आ चुका था| इन सम्पादकों के बारे में फ्रांचेस्का आर्सीनी का मानना हैं कि-

"हालांकि ये सभी योग्य संपादक थे और 'चाँद' एक बहुत आकर्षण पत्रिका बनी रही, पत्रिका की तीखी, राजनैतिक और परिवर्तनकामी धार जाती रही| महादेवी जी के सम्पादन में 'चाँद'

महिलाओं की पत्रिका अधिक बन गयी (उन्होंने सामग्री में लेखिकाओं को प्रश्रय देना शुरू किया) और साथ ही उनकी साहित्यिकता भी बढ़ गयी| चिंताओं और सरोकारों का जो सतत विस्तार सहगल ने अपनी महत्वाकांक्षी योजना के अंतर्गत परिकल्पित किया था, वह अब ऐसी शिक्षित महिलाओं की सुरुचिपूर्ण पत्रिका के सरोकारों में बदल गयी, जो सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक और राजनैतिक स्वाधीनता से प्रतिबद्ध थी, मगर स्त्रीत्व की मध्यवर्गीय धरणा के अनुसार, जहाँ मर्यादा का आत्मसम्मान फिर से परिभाषित किया गया था |"[285]

जहाँ तक महादेवी वर्मा का 'चाँद' में महिलाओं को अत्यधिक प्रश्रय देने का सवाल है तो रामरख सिंह सहगल के सम्पादन में महिलाओं का लेखन बहुत कम मात्रा में अपनी जगह बना पाता है| जो रामरख सिंह की एक सीमा को ही दर्शाता है| रामरख सिंह सहगल के सम्पादन में अगर 'चाँद' अत्यधिक 'तीखी, राजनैतिक और परिवर्तनकामी' पत्रिका सिद्ध होती है तो उसमें महिलाओं का लेखन बहुत कम मात्रा में आना, जबकि यही वह समय था जब, हिंदी के साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में अधिक संख्या में महिलाएं शिरकत करती है, इस सन्दर्भ से अगर मूल्यांकन किया जाये तो, यह पत्रिका की सीमा को ही प्रमाणित करता है| हालांकि इसके बावजूद पत्रिका स्त्रियों की समस्याओं के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध थी|

30 और 40 के दशक में सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की सक्रियता अत्यधिक बढ़ जाती है| सविनय अवज्ञा-आन्दोलन में महिलाओं की व्यापक भागीदारी देखने को मिलती है| शायद यही कारण है की 30 और 40 के दशक में स्त्रैण भूमिकओं को फिर से परिभाषित किया जाने लगा| स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद तो स्त्रियों को बकायदा अपनी घरेलू भूमिकओं में फिर से लौटना पड़ता है| इसलिए, क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन में स्त्रियों को जिस उद्देश्य के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से जोड़ा गया था वो उद्देश्य शायद अब पूरा

[285] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011 पृ. 323

हो चुका था| 40 के दशक के आते-आते गाँधी जी भी उस तरह से देश की स्वतंत्रता के लिए प्रासंगिक नहीं रह जाते जिस तरह से 20 और 30 के दशक में उनकी प्रासंगिकता थी| हालांकि गाँधी के इतर भी क्रांतिकारी गतिविधियां जारी थी| बावजूद इसके अगर पुरानी परम्पराएँ पूरी तरह से नहीं बदलती है तो यह भी सच है कि जो बदल चुका है उसे वापस पूरी तरह से उसी रूप में लाना भी आसान नहीं है| स्त्रियों के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है|

महादेवी वर्मा के सम्पादन में 'चाँद' का महिला केन्द्रित हो जाना और लेखिकाओं को अत्यधिक जगह देना एक ओर महादेवी वर्मा की दृष्टिकोण की सीमारेखा को प्रमाणित करता है, तो दूसरी तरफ स्त्रियों के प्रति उनकी विशेष जिम्मेदारी और चिंता को भी दर्शाता है| महादेवी के सम्पादन में पत्रिका की साहित्यिकता का बढ़ जाना, उन आलोचकों के सवालों का जवाब है, जो यह मानते है कि स्त्रियों की भाषा में साहित्यिकता की बड़ी कमी होती है| महादेवी वर्मा ने 'चाँद' के सम्पादन द्वारा पुरुषों की इस पूर्वाग्रह को भी तोड़ा है|

जहाँ तक पत्रिका का 'शिक्षित महिलाओं' की सुरुचिपूर्ण सरोकारों में बदलने का सवाल है तो, शुरू से ही, स्वतन्त्रता-आन्दोलन और सामाजिक सुधारों के आन्दोलन का स्वरूप उच्चवर्गीय सवर्ण हिन्दुओं के सरोकार के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है| अगर डा. आंबेडकर ने सामाजिक आन्दोलन को अछूतों और महिलाओं के सवाल से जोड़ने का प्रयास किया भी तो उनको ज्यादा महत्व नहीं दिया गया| स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों के भाग लेने का सवाल हो या स्त्रियों को शिक्षित और उद्धार करने का सवाल, सवर्ण और मध्यवर्गीय स्त्रियाँ ही इसके अंतर्गत परिभाषित की जाती रही| कुछ मामलों में लेखिकाओं ने इस सीमा को तोड़ने का प्रयास अपने साहित्यिक रचनाओं के जरिये किया है ,जिसे अलग से मूल्यांकन करने की जरूरत है|

जाहिर है कि ऐसी स्थिति में न केवल स्त्रियों का प्रश्न और सामाजिक सुधार का सरोकार शिक्षित महिलाओं के सुरुचिपूर्ण सरोकारों में तब्दील होता बल्कि पूरा का पूरा ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन ही सवर्ण हिंदुओं के हित में परिभाषित हो रहा था| 1947 के आते-आते

तो आजादी की पूरी बागडोर कुछ सवर्ण हिन्दुओं तक ही सीमित होकर रह गया| अम्बेडकर के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन को ज्यादा तवज्जों नहीं दिया गया| यहाँ तक की अब गाँधी भी हाशिये का सवाल बनते जा रहे थे| यहाँ पर इतिहासकारों और आलोचकों के दृष्टिकोणों और उनके मूल्यांकन की सीमाओं का भी सवाल है| जिस तरफ उनका ध्यान नहीं गया है|

महादेवी वर्मा के सम्पादन में 'चाँद' का फिर से स्त्रीत्व की मध्यवर्गीय धारणा के अनुसार जहाँ मर्यादा का आत्मसम्मान द्वारा फिर से परिभाषित किये जाने का सवाल है तो, यह सच है कि शुरू से ही स्त्री-प्रश्न मान-सम्मान मर्यादा, और पितृसत्तात्मक मूल्यों के इर्द गिर्द घूमता रहा| समाज सुधारकों द्वारा चलाया गया स्त्री-आन्दोलन का सरोकार कभी भी स्त्री की मर्यादा और मूल्यों के विरोध में नहीं रहा बल्कि सुधार के नाम पर इन मूल्यों और मर्यादाओं का ही ज्यादा पोषण किया जाता था| इसके आलावा स्त्री-आंदोलन का सरोकार कभी भी भारत की बहुसंख्यक आबादी नहीं रही, यह आन्दोलन कभी भी ग्रामीण और अशिक्षित स्त्रियों के सरोकारों को लेकर नहीं चला| जबकि 'अवध के किसान आन्दोलन' में भारी संख्या में किसान महिलाओं ने हिस्सेदारी की| हिंदी साहित्य में उनके आन्दोलन के परिभाषित करने की जरूरत अभी भी बनी हुई है|

दूसरी तरफ हिंदी साहित्य की अधिकांश लेखिकाओं का ताल्लुक उच्चमध्यवर्गीय परिवारों से ही था| ऐसी स्थिति में उनके लेखन का दायरा भी 'इज्जतदार' और 'कुलीन' घरों की स्त्रियों की मान-मर्यादाओं तक ही सीमित रह जाता था| लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि स्त्रियों ने कुलीन घरों की स्त्रियों पर 'इज्जत' और मर्यादा' के नाम पर हो रहे अत्याचारों का विरोध नहीं किया है| दूसरी तरफ ये लेखिकाएं कम संख्या में ही सही मजदूर और हाशिये की स्त्रियों की समस्याओं को भी अपने लेखन में जगह देना शुरू कर दिया था| जिसका मूल्यांकन अलग से करने की जरूरत है|

महादेवी वर्मा भले ही अपने विचारप्रधान लेखन 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में शिक्षित स्त्रियों के सुरुचुपूर्ण सरोकारों को ध्यान में रख कर स्त्रियों की समस्याओं पर विचार करती है, लेकिन

उन्होंने कुलीन घर की स्त्रियों की झूठी मान-मर्यादाओं को ध्यान में रख कर भी स्त्री-प्रश्न पर विचार किया है |

'चाँद' और अन्य 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाओं में जो सबसे महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलता है, वो है पुरुषों द्वारा परिभाषित स्त्रियों की स्त्रैण भूमिकाओं पर सवाल खड़ा करना तथा पुरुषों के स्वार्थपूर्ण रवैयों की आलोचना और भर्त्सना करना| पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने जिस तरह 'मातृत्व' और पत्नीत्व' की भूमिका को स्त्रियों के लिए आदर्श कर्तव्य मानकर उन्हें घरेलू- क्षेत्र में सीमित करने की कोशिश की, उसी 'मातृत्व' के आधार पर महिलाओं ने अपने लिए सार्वजनिक-क्षेत्र में जगह बनाने की कोशिश किया|

'चाँद' में वीरांगना स्त्रियों का जीवन चरित्र का उल्लेख्य किया जाता था| जिससे स्त्रियों में भी यह भावना आती थी की स्त्रियाँ भी कोई निष्क्रिय और कमजोर प्राणी नहीं है| जरूरत पड़ने पर वो भी अपने स्वत्व की और देश की रक्षा कर सकती है| सती-सावित्री की तरह वीरांगना स्त्रियों का जीवन चरित्र कोई काल्पनिक चरित्र नहीं था, बल्कि यह एक हकीकत था| इस तरह स्त्रियाँ अब प्रतीकात्मक और काल्पनिक स्त्रीत्व की भूमिका से बाहर निकल चुकी थी| उनके सामने अब ऐसी ऐतिहासिक वीर महिलाओं का उदाहरण दिया जा रहा था, जो हकीकत में अपना अस्तित्व रखती थी|

1930 के दशक में 'चाँद' पत्रिका की सीमाओं के बारे में फ्रांचेस्का आर्सीनी महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कड़ियाँ' को आधार बना कर लिखती हैं कि –

"दूसरी प्रक्रिया जो1930 के दशक में 'चाँद' के विकास में परिलक्षित होती है, यह उजागर करती है कि जब वो परिवर्तनकामी धार गवां दी गयी तो स्त्री की भूमिका की नयी परिभाषा महज मध्यवर्गीय सुसंस्कृत स्त्री जो वर्गों और जाति-पांति के उच्च-नीच का भेदभाव और लिंग-भेद पर आधारित सीमाएं स्वीकार करती थी| यह परिवर्तन, जो मुख्यधारा की अन्य हिंदी पत्रिकाओं में भी प्रगट होता है, भाषा के प्रयोग में (अधिक शिष्ट और नियंत्रित

आर्यभाषा), छायावाद और विदेशी काव्य की ओर अधिक उन्मुख अभिरुचियों में और चिंताओं की अधिक सीमित और अमूर्त बनने में नज़र आता है|"[286]

'श्रृंखला की कड़ियाँ' में संकलित स्त्रियों से सम्बन्धित निबंध, जब महादेवी वर्मा 1935 में 'चाँद' का सम्पादन का कार्यभार अपने हाथ में लेती है, उस समय, समय-समय पर लिखे गए लेख है, जो 1942 में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में संकलित है| जैसा कि फ्रांचेस्का आर्सीनी का मानना हैं कि 1930 के दशक में 'चाँद' महिलाओं के स्त्रैण भूमिकाओं को फिर से परिभाषित करने लगी थी, जो भाषा के स्तर पर में देखने को मिलता है | अगर हम इस बात को इंकार नहीं भी करते है तो यह भी सही है कि महादेवी वर्मा अगर 'मातृत्व' को स्त्री के लिए महत्वपूर्ण मानती है तो वह यह भी मानती थी कि –

"स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में हो सकती है, परन्तु यह कर्तव्य उसे अपने मानसिक और शारीरिक शक्तियों को तोल कर स्वेच्छा से स्वीकार करना चाहिए, परवश होकर नहीं| कोई अन्य मार्ग न होने पर बाध्य होकर जो स्वीकार किया जाता है वह कर्तव्य नहीं कहा जा सकता|"[287]

भले ही 1930 के दशक में महादेवी वर्मा के सम्पादन में 'चाँद' 'महज़ मध्यवर्गीय सुसंस्कृत' स्त्री के निर्माण तक सीमित रह गयी; चाहे भाषा के प्रयोग में अधिक शिष्ट और नियंत्रित आर्यभाषा के रूप में बदलती गयी तथा स्त्रैण भूमिकाओं- मातृत्व और पत्नीत्व को फिर से परिभाषित किया जाने लगा, लेकिन इन सब के बावजूद महादेवी वर्मा 'मातृत्व' का जबरदस्ती महिमागान और आदर्शीकरण करने के खिलाफ थी| वो स्त्रियों के कर्तव्य को मात्र 'मातृत्व' के दायरे में सीमित कर देने के खिलाफ थी| जिस तरह से पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्रियों को मातृत्व की भूमिका में पूरी तरह से कैद करके रखना चाहा, यह तर्क देकर कि राष्ट्र के लिए सुयोग्य संतान पैदा करने के लिए स्त्रियों को पहले आदर्श माता बनना जरूरी है,

---

[286] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, (अनुवाद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 324

[287] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 1912, पृ. 68

महादेवी वर्मा इसके खिलाफ थी| वो मातृत्व को स्वेच्छा पर आधारित कर्तव्य मानती थी| महादेवी वर्मा इसके सम्बन्ध में लिखती हैं कि –

"राष्ट्र की सुयोग्य सन्तान की माता बनना उनका कर्तव्य हो सकता है, परन्तु केवल उसी पर उनके नागरिकता के सारे अधिकारों का निर्भर रहना अन्याय ही कहा जायेगा|"[288]

'चाँद' में प्रकाशित 'हिन्दू स्त्री का पत्नीत्व' शीर्षक लेख में, जो 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में संकलित है, महादेवी वर्मा स्त्रियों की सारी समस्याओं का निदान विवाह कर देने और विवाह को ही उनकी जीविकोपार्जन का सबसे बड़ा साधन मानने की मानसिकता पर सवाल उठती है | वो लिखती हैं कि –

"यदि उनके जन्म के साथ उनके विवाह की चिंता न कर उनके विकास के सधानों की चिंता की जावें, उनके लिए रूचि के अनुसार कला, उद्योग-धंधे तथा शिक्षा के द्वार खुले हो, जो उन्हें स्वावलंबी बना सकें और तब अपनी शक्ति और इच्छा को समझकर यदि वे जीवनसंगी चुन सकें तो विवाह उनके लिए तीर्थ होगा, जहाँ वे अपनी संकीर्णता मिटा सकेंगी, व्यक्तिगत स्वार्थ को बहा सकेंगी और उनका जीवन उज्ज्वल से उज्ज्वलतर हो सकेगा| इस समय उनके त्याग पर अभिमान करना वैसा ही उपहासास्पद है, जैसा चिड़िया को पिंजड़े में बंद करके उसके, परवशता से स्वीकृत जीवन- उत्सर्ग का गुणगान|"[289]

महादेवी वर्मा नारीत्व के जिस रूप का समर्थन\कर रही थी, वो समर्थन जबरदस्ती पर आधारित नहीं था बल्कि उसमें स्त्रियों की इच्छा और उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें निर्णय का अधिकार भी दिया गया है| नारीत्व के महिमामंडन को महादेवी वर्मा तब-तक उपहासास्पद मानती थी, जब-तक कि महिलाएं अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार अपनी भूमिकाओं और अपने कर्तव्यों का निर्धारण नहीं कर लेती है| शायद इसीलिए महादेवी वर्मा 'नारीत्व एक वरदान' निबंध न लिखकर 'नारीत्व का अभिशाप' शीर्षक नामक निबन्ध

---

[288] वही, पृ. 69

[289] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 1912, पृ. 68

लिखती है| इस निबंध में पितृसत्तात्मक समाज में प्राप्त स्त्री की स्थिति को महादेवी वर्मा बखूबी रेखांकित करती है| पितृसत्तात्मक समाज में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक स्त्रियों की क्या हैसियत होती है, इसका वास्तविक चित्रण 'नारीत्व के अभिशाप' निबंध में देखा जा सकता है| महादेवी वर्मा लिखती हैं कि –

"हिन्दू नारी का, घर और समाज इन्हीं दो से विशेष सम्पर्क रहता है| परन्तु इन दोनों ही स्थानों में उसकी स्थिति कितनी करुण है इसके विचार मात्र से ही किसी भी सहृदय का हृदय कांपे बिना नहीं रहता| अपने पितृगृह में उसे वैसा ही स्थान मिलता है जैसा किसी दुकान में उस वस्तु को प्राप्त होता है जिसके रखने और बेचने में दुकानदार को हानि की सम्भावना रहती है|"[290]

औपनिवेशिक काल में पुरुष समाज सुधारकों ने भारतीय धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को देवी माने जाने की प्रतीकात्मक धारणा को बहुत ही महत्व दिया था| लेकिन इस देवी की अवधारणा ने स्त्रियों को किस तरह से मनुष्य की बुनियादी जरूरतों से भी विमुख कर दिया, इसे महादेवी वर्मा ने उजागर किया है –

"उनके विचार में नारी मानवी नहीं, देवी है और देवताओं को मनुष्य के लिए आवश्यक सुविधाओं का करना ही क्या ! नारी के देवत्व की कैसी विडम्बना है!"[291]

यह सही है कि महिलाओं को एक नियंत्रित भूमिका के अंतर्गत ही परिभाषित करने की कोशिश की जा रही थी; उनकी स्वतन्त्रता को पितृसत्तात्मक दायरे के अन्दर ही परिभाषित किया जा रहा था, लेकिन हिंदी साहित्य की लेखिकाओं ने और विशेषरूप से स्त्री पत्रिकाओं ने पहली बार महिलाओं की भावनाओं और इच्छाओं को पारिवारिक दायरे से बाहर निकल कर सार्वजनिक दायरे में लाकर खड़ा कर दिया| इस दौर की पत्रिकाओं विशेषरूप से 'चाँद' में महिलाओं की भावनाओं और इच्छाओं को अभिव्यक्त करने के लिए विशेष स्पेस प्राप्त था,

---

[290] वही, पृ. 34

[291] महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 1912, पृ. 35

जहाँ पर उनके पतन का कारण उनकी अपनी भूल या कामना नहीं बल्कि समाज और पुरुषों का स्त्रियों की समस्याओं और भावनाओं के प्रति अत्यधिक असहिष्णु और असम्वेदनशील होना है|

'चाँद' में प्रकाशित एक स्तंभ 'चिट्ठी-पत्री' को महिमलाओं की भावनाओं का सच्चा दस्तावेज कहा जा सकता है| 'चाँद' ने चिट्ठी-पत्री स्तंभ के अंतर्गत महिलाओं को वो स्थल प्रदान किया जहाँ महिलाएं अपनी समस्याओं को सार्वजनिक रूप से सब के सामने ला सकती थी| अपने लिए लोगों के मन में सहानुभूति प्राप्त कर सकती थी और अपने प्रति हो रहे अन्याय के खिलाफ आवाज उठा सकती थी तथा लोगों को सहायता के लिए पुकार सकती थी, अपनी समस्याओं पर सलाह-मशविरा मांग सकती थी| इसके साथ ही यह स्तंभ महिलाओं की राजनैतिक- सामाजिक चेतना का भी सूचक था, जहाँ महिलाएं निःसंकोच भाव से अपनी भावनाओं और समाज के पाखंडपूर्ण रवैयों के खिलाफ आवाज उठा रही थीं|

'चाँद' के 'चिट्ठी-पत्री स्तंभ में एक लड़की ने अपने विवाह में आने वाली समस्याओं के बारे में लिखा है कि –

"मैं एक ऐसे परिवार की लड़की हूँ जहाँ मेरे सिवाय आठ और लड़कियां है| हम सभी अविवाहिता है| मेरी अवस्था १९ वर्ष की है तथा मुझसे छोटी की सत्रह वर्ष की है| मेरे अभिभावक लोग वर्षों से मेरी शादी की तलाश में है; पर कही घर मिलता है तो वर नहीं वर मिलता है तो घर नहीं और जहाँ दोनों मिलते है, वहाँ लम्बी–लम्बी रकमे दहेज़ में मांगी जाती है| ऐसी दशा में मैं क्या बताऊ की मुझ पर क्या बीतती है| सोचती हूँ मैं यमुना में कूंद पड़ू ताकि एक की चिंता से तो मेरे घर का छुटकारा हो जाय| अब आप राय दे कि मै क्या करूँ|"[292]

इसी तरह चाँद के नवम्बर 1927 के अंक में एक लड़की ने अपने से ज्यादा उम्र के बूढ़े आदमी के साथ जबरदस्ती शादी किये जाने के खिलाफ सम्पादक को चिठ्ठी लिख कर सहायता की

[292] श्री. सत्यभक्त (संपादक) चाँद, फरवरी 1941, पृ. 247

मांग करती है| इससे पुरुषों की असंवेदशीलता और स्वार्थों का पता चलता है| इसे संपादक ने 'नरक का सौदा' शीर्षक से प्रकाशित किया था| इसी अंक में 'बलात विवाह' शीर्षक से एक चिठ्ठी प्रकाशित हुआ था| महेश्वरी समाज की एक सिंघी घराने की लड़की ने अपने पिता द्वारा किसी बड़े उम्र के व्यक्ति से शादी किये जाने पर 'चाँद' को लिखी अपनी चिठ्ठी में परामर्श और सहायता की मांग करती है| इस तरह के विवाह को 'नरक का सौदा' मानते हुए सम्पादक ने उसके पिता की कड़े शब्दों में भर्त्सना की हैं –

"हम इस प्रकार के अनमेल और बलात विवाह को 'नरक का सौदा' कहते है| हमारी दृष्टि में इस तरह के विवाह का हर उचित तरीके से विरोध करना पवित्र और न्याय संगत है| कुमारी जी का इस समय समाज, देश, धर्म और सारी हिन्दू जाति के प्रति तथा अपने प्रति भी यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वे पूर्ण शक्ति से इस विवाह का विरोध करें| यदि पिता जानबूझ कर अपनी पुत्री के लिए 'नरक का सौदा' करता है, तो पुत्री को उसकी ख़ुशी और नाराजगी का ध्यान न देकर अपने पिता को पाप के पथ से हटाने का यत्न करना चाहिए|...इस स्थिति में हमारा दृढ़ विचार है कि कुमारी जी कभी भी और किसी भी अवस्था में इस प्रकार के घृणित विवाह के लिए राजी न हो, चाहे इसके लिए उन्हें जो कुछ भी कष्ट सहना पड़े|

हम 'अखिल भारतवर्षीय महेश्वरी सभा से तथा भिन्न-भिन्न महेश्वरी पंचायतों का ध्यान इस 'नरक के सौदा' की ओर आकर्षित करते हैं, और अनुरोध करते है कि वे इस अभागिनी कन्या को सत्यानाश से बचने का समुचित प्रबंध कर पुण्य के भागी बनें| साथ ही हम कलकत्ते के मारवाड़ी समाज का इस बलि की ओर आकर्षित करते हुए पूछना चाहते है कि क्या वह इस नारकीय बूढ़े का– जो विवाह का उम्मीदवार है तथा कन्या के पिता का, जो अपनी कन्या के गले पर छुरी फेरने जा रहा है– सामाजिक बहिष्कार कर अपने औचित्य का पालन करेंगा?"[293]

[293] चाँद, नवम्बर 1927, पृ. 184-185

स्थिति अब बिलकुल उलट हो गयी थी| पहले इस बात पर जोर दिया जाता था कि स्त्रियों को कैसे रहना चाहिए| लेकिन अब पुरुषों के स्वार्थपरता को भी निशाने पर लिया जा रहा था| 'चाँद' ने जिस तरह से लड़की के पक्ष में अपनी संवेदना प्रकट की और उसे इस अन्याय के खिलाफ लड़ने की हिम्मत दिया तथा साथ ही जिस तरह से अखिल भारतवर्षीय महेश्वरी सभा और महेश्वरी पंचायतों को भी इस अन्याय के प्रति कदम उठाने के लिए प्रेरित किया यहीं नहीं उस व्यक्ति को जो अपनी बेटी की उम्र की लड़की से शादी करना चाहता था, उसका सामाजिक बहिष्कार करने के नैतिक कर्तव्य की तरफ भी ध्यान दिलाया, शायद यह काम 'चाँद' पत्रिका ही कर सकती थी| 'चाँद' के सम्पादक का यह लहजा निश्चय ही स्त्रियों को हिम्मत प्रदान करने और अपने प्रति हो रहे अन्याय का विरोध करने के लिए प्रेरित करता होगा|

दूसरी बात संपादक ने जिस तरह से लड़की की समस्या को समाज, देश, धर्म और सारी हिन्दू जाति के प्रति हो रहे अन्याय के साथ जोड़ा है वह निश्चय ही पुरुषों को लड़की की समस्या के प्रति संवेदना का भाव जगाया होगा और इस तरह के पुरुषों के प्रति अवहेलना की भावना तो जरूर ही आयी होगी| 'चाँद' का चिठ्ठी पत्री स्तंभ उन लोगो को सोचने- समझने और उनकी मानसिकता को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी जो लोग यह समझते है कि लड़कियां अपनी स्थिति के लिए खुद जिम्मेदार है|

1920 और 1930 के दशक में रामरख सिंह सहगल और महादेवी वर्मा के सम्पादन में 'चाँद' स्त्रियों के अन्दर साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है| जहाँ रामरखसिंह सहगल के सम्पादन में 'चाँद' अपने समय के विभिन्न समस्याओं से आम देशववासियों को भी जोड़ने का प्रयास करता है ; उन्हें मानसिक शक्ति प्रदान करता है तथा स्त्रियों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक करता है, साथ ही उनमें राजनैतिक सक्रियता को बढ़ावा देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, तो महादेवी वर्मा के सम्पादन में 'चाँद' स्त्रियों को साहित्यिक क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा जगह देकर और स्त्री-प्रश्न को प्रमुखता देकर स्त्रियों में साहित्यिक चेतना का विकास करता है|

1940 के दशक में श्री. सत्यभक्त के सम्पादन में 'चाँद' अपने विभिन्न उपलब्धियों और सीमाओं के साथ आगे बढ़ती है| मार्च 1941 के अंक में 'विवाह-अंक' निकालना 'चाँद' का विशेषांकों के संदर्भ में एक और उपलब्धि कहाँ जा सकता है| इससे पहले के अंक में (फरवरी1941) 'अपनी बात' के अंतर्गत मनु के विवाह सम्बन्धी धारणाओं तथा स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु के संकीर्ण विचारों की आलोचना करना, अपने आप में काफी प्रगतिशील कहाँ जा सकता है| विवाह और स्त्रियों के सम्बन्ध मनु के विचारों की आलोचना करते हुए 'चाँद' के तत्कालीन सम्पादक श्री. सत्यभक्त लिखते हैं कि –

"मनुस्मृति विवाह में कन्या का कोई अस्तित्व नहीं समझती| यद्यपि स्त्रियों की प्रतिष्ठा के बारे में कुछ बाते मनु लिखता है, और कहता है कि स्त्रियों की पूजा होनी उचित है परन्तु स्त्रियों की स्वतन्त्रता को वह पसंद नहीं करता| स्त्रियाँ सदैव परतंत्र और पुरुषों के अधीन रहे, यही उसकी इच्छा है| पुरुष स्त्रियों से सम्मान और प्रेम का व्यवहार तो रखें, पर वे उनके शरीर और आत्मा के स्वामी है|

जो आठ प्रकार के विवाह मनुस्मृति में बतलाये गये है उनकी परिभाषा पर ध्यान देने से आप जान सकते है कि मनु ने विवाह के सम्बन्ध में कन्याओं की बिलकुल स्वतन्त्रता हरण कर ली है| और अपराध के दर्जे तक पहुँचे हुए मामलों को भी विवाह के नाम से स्वीकार कर लिया है|

ये उद्धरण स्पष्ट करते है कि मनु की दृष्टि में स्त्रियों की नैतिक मर्यादा कितनी नीची है| ..इन विवाहों मे आप देख सकते है कि कन्या एक ऐसी वस्तु हो गयी है, जिसकी इच्छा के बिना ही उसे दान कर दिया जा सकता है, या वह एक गाय-बैल के जोड़े के बदले या कुछ धन के बदले बेच दी जा सकती है| 'दैव' विवाह तो और भी अद्‌भुत है, जहाँ यजमान की लड़कियां पुरोहित को दक्षिणा के तौर पर दे दी जा सकती है, फिर वह यजमान चाहे राजा ही क्यों न हो इससे पुरोहितों के जघन्य तथा असाध्य अधिकार का पता लगता है| हिंदू समाज में

विवाह के नामपर कन्याओं के साथ कैसे अत्याचार किये जाते है| और इतने पर भी सभ्यता का आदि गुरु और ईश्वर का सबसे बढ़ कर प्रेम पात्र होने का दावा करता है|"[294]

कहने की जरूरत नहीं है कि 'चाँद' के सम्पादक सत्यभक्त जी ने कितना मुखर हो कर मनु द्वारा सुझाये गए विवाह की अवधारणा को स्त्रियो के विरोध में माना है | हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों में प्रमुख मनुस्मृति की आलोचना करना बहुत बड़ी बात है|

1920 और 1940 के दशक में हिंदी–क्षेत्र में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र से जोड़ने और शिक्षा के प्रति उन्हें जागरूक करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया| काफी संख्या में स्त्रियों का लेखन और स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याएं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही थी| जिस तरह से हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने युक्त-प्रान्त की स्त्रियों को जागरूक करने; उनका राजनीतिकरण करने और उन्हें शिक्षित करने में योगदान दिया शायद ही कोई और तरीका इतना प्रभावकारी होता| 'गृहलक्ष्मी' 'स्त्री-दर्पण' इत्यादि प्रारम्भिक 'स्त्रियोपयोगी' पत्रिकाओं ने अगर स्त्रियों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में जगह बनाने, उनके सोचने–समझने के तरीकों को बदलने में योगदान दिया; उनकी अपनी समस्याओं पर स्वयं ही आवाज उठाने की काबिलियत प्रदान की तो, 'चाँद' ने स्त्रियों को यह सिखाया कि उन्हें अपने अधिकारों के प्रति किस तरह से आवाज उठानी चाहिए| और सारी समस्याओं को स्त्रियों के सर पर मढ़ने और उसे सुधारने की सारी जिम्मेदारी स्त्रियों की है, इस मानसिकता का प्रतिकार करना सिखाया|

30-40 के दशक में स्त्रियों ने पुरुषों की स्वार्थपरता और उनकी वर्चस्वशाली प्रवृति के खिलाफ खुलकर आवाज उठाना शुरू कर दिया था| पुरुष साहित्यकार और समाज सुधारक भी पुरुषों की स्वार्थपरता और स्त्रियों को अपने अधीन रखने की प्रवृति पर सवाल उठाने लगे थे| शिक्षा के पढ़ते हुए प्रभाव ने स्त्रियों को एक चेतनाशील प्राणी में तब्दील करने, अपने प्रति हो रहे अन्याय पर आवाज उठाने में उनकी मदद की तो, परम्परागत भारतीय समाज और

[294] श्री. सत्यभक्त (सम्पादक) चाँद, फरवरी 1941, पृ. 193

पितृसत्तात्मक समाज में कुछ नई समस्याओं और सवालों को भी जन्म दिया| जिसमें विवाह की भारतीय प्रणालियों पर भी सवाल उठाया जाने लगा|

अब समस्या अशिक्षित पति-पत्नी या समाज के बीच नहीं था और न ही शिक्षित पुरुष और अशिक्षित स्त्री (पत्नी) के बीच बल्कि शिक्षित स्त्री और पुरुष के बीच नये सवालों और समस्याओं को लेकर संघर्ष शुरू हो चुका था| शिक्षा के प्रति बढ़ते हुए रुझान ने स्त्री और पुरुष के सोचने–समझने के तरीकों को काफी बदल दिया था| विशेषकर शिक्षित स्त्रियाँ अपने बारे में और अपने विवाह के विषय में पारम्परिक विचारों से अलग दृष्टिकोण रखने लगी थीं, इससे कुछ परम्परागत स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के हिमायती और पितृसत्तात्मक मूल्यों के पक्षधर पुरुष स्वीकार नहीं कर पा रहे थें| इससे शिक्षित स्त्री-पुरुष के बीच विवाह सम्बन्धों में नई समस्याएं पैदा हो गयी थी| विशेषकर विवाह के बारे में लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा था| यह बदलता हुआ दृष्टिकोण जहाँ स्त्रियों को अत्यधिक जागरूक और स्वतंत्र बना रहा था तो दूसरी पुरुषों के परम्परागत अधिकारों को चुनौती दे रहा था|

'चाँद के फरवरी 1941 के अंक में जहाँ सम्पादक ने मनु के विवाह सम्बन्धी अवधारणओं को नैतिक रूप से स्त्रियों के विरोध में बताया है, तो इसी अंक में उन्होंने स्त्री शिक्षा के फल स्वरूप पैदा ही रही नई समस्याओं पर भी अपनी बात रखी है| यह टिप्पणी सम्पादक (सत्यभक्त) ने श्री रामस्वरूप व्यास द्वारा लिखित लेख 'शिक्षित पति-पत्नी के संघर्ष' के सन्दर्भ में लिखा है,जिसे मिसाल के लिए नीचे दिया जा रहा है-

"स्त्री-शिक्षा के प्रचार से जहाँ अनेक प्रकार के कार्य सुफल हो रहे है, दो-एक बाते ऐसी भी पैदा होती जान पड़ती हैं जिन्हें एक विशेष श्रेणी के व्यक्ति पसंद नहीं करते| इन्हीं में से एक बात है स्त्रियों की स्वतन्त्रता| पुराने विचारों के लोगों ने अब संसार की परिवर्तित अवस्था को देख कर स्त्री शिक्षा के सिद्धन्त को तो स्वीकार कर लिया है; पर इससे आगे बढ़ने पर वे

विरोध करते हैं| सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों को भाग लेना अभी हिन्दुओं को सह्य नहीं है|"[295]

जाहिर है कि सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की चहलकदमी से न केवल पुरुषों के घरेलू सुख-सुविधाओं में खलल पड़ रहा होगा बल्कि शिक्षित स्त्रियां जब सार्वजनिक क्षेत्र में निकलती होगी तो वो दूसरे पुरुष और महिलओं के सम्पर्क में भी आती होगी, जिससे पुरुष असुरक्षित महसूस करता होगा| इसमें से कुछ पढ़ी-लिखी ऐसी स्त्रियाँ भी थी जो आर्थिक रूप से स्वतंत्र थी, जिससे पुरुषों के अन्दर असुरक्षा की भावना प्रबल होता जा रहा होगा|

1940 के फरवरी अंक में ही शिवरानी देवी की कहानी 'प्रेमा' प्रकाशित हुई थी, जिसकी नायिका प्रेमा, जो शिक्षित है, विवाह नहीं करना चाहती है क्योंकि उसे लगता है कि विवाह करना अब पहले की तरह लड़कियों के लिए जरूरी नहीं रह गया है| वो अपनी पढ़ाई को देश की विधवाओं और उपेक्षित स्त्रियों के उद्धार में लगाना चाहती है| वह अपने बचपन की मंगनी को भी तोड़ देती है| यहीं नहीं अंत में उसकी माँ भी उसके इस निर्णय में साथ देती है|

शिक्षित स्त्रियों के प्रति पुरुषों की मानसिकता को श्री. रामस्वरूप व्यास ने अपने लेख 'शिक्षित पति-पत्नी का संघर्ष' में बहुत अच्छी तरह से दिखाया है; कि किस तरह से पति अपने लिए शिक्षित पत्नी तो चाहता है लेकिन उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को वह अभी भी स्वीकार नहीं करना चाहता है| शिक्षा के शुरुआती प्रचार-प्रसार के दौरान जब ज्यादातर संख्या में पुरुष ही शिक्षित थे, तो अनपढ़ स्त्रियों के साथ उनका निर्वाह नहीं हो पा रहा था| लेकिन स्त्रियाँ जब पढ़ लिख कर स्वतंत्र विचार रखने लगी तो पुरुषों को यह असह्य होने लगा| रामस्वरूप व्यास पुरुषों की इस मानसिकता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि –

"पढ़े-लिखे लड़कों के लिए भी जब तक शिक्षित लड़कियां उनके प्रभाव को बढ़ाने वाली, श्रृंगार की सामग्री रही, तब तक तो बहुत अच्छा था, परन्तु बाद में जब उन्होंने अपनी

[295] श्री. सत्यभक्त (सम्पादक) चाँद, फरवरी 1940

स्थिति तथा समाज की व्यवस्था को समझना शुरू किया, और अपने व्यक्तिगत हितों को समझकर उन्हें प्राप्त करने में सचेष्ट हुई, तब पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों, विशेष कर पति-पत्नियों में एक प्रकार की विषमता पैदा हो गई|

रामस्वरूप व्यास आगे लिखते है कि- इस विषम स्थिति के दो मूल कारण है| एक तो शिक्षित स्त्री अपने लिए अधिकार मांगती है जो समान्यता उसकी अपढ़ बहिन को प्राप्त नहीं है| दूसरे पुरुष पढ़ी-लिखी स्त्री की शोभा व संस्कृति तो चाहता है; परन्तु उसकी स्वतंत्रता को स्वीकार करने में आनाकानी करता है| एक प्रकार से वह स्त्री में से अनुकूल वस्तु ले लेना चाहता है और अपने प्रतिकूल वस्तु को अस्वीकार कर देता है| पुरुष यह तो चाहता है कि स्त्री शिक्षित हो, परन्तु जब वह अपने मनुष्योचित्त अधिकारों की मांग करती है तब पुरुष उसे सहन नहीं कर सकता और इस कारण संघर्ष उत्पन्न होता है|" [296]

सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों के बढ़ते हुए दायरे ने भी पुरुषों के अन्दर स्त्रियों के प्रति शंका और असुरक्षा की भावना को बढ़ाने का काम किया| रामस्वरूप व्यास इसके सम्बन्ध में लिखते है कि –

"पति पढ़ी-लिखी पत्नी के प्रति तब तक सहनशक्ति रखता है जब तक उसका स्वतंत्र आचरण पति के बनाये हुए दायरे के अन्दर ही रहता है|...उसका घर के बाहर कुछ सामाजिक जीवन होगा ही| और जब यह सामाजिक जीवन प्राप्त करने स्त्री जाती है तब पति व समाज दोनों ही उसकी ओर क्रुद्ध दृष्टि से देखते है| और इसी को कही बहुत बढ़ा कर स्त्री को बुरा-भला भी कहा जाता है| व्यग्य चित्रों में इस प्रकार कटाक्ष किया जाता है कि पति महाशय तो बच्चों को खिला रहे है और पत्नी उपन्यास पढ़ने में लगी हुई है| इस प्रकार स्त्रियों के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रति हमारे मन में घृणा पैदा करने का प्रयास किया जाता है|"[297]

[296] श्री. सत्यभक्त (संपादक) चाँद, फरवरी 1941, पृ. 112

[297] वही, पृ. 113

1940 के दशक में पुरुषों के इस स्वार्थपूर्ण और वर्चस्वशाली मानसिकता को 'चाँद' ने बखूबी रेखांकित करने का प्रयास किया है| हर समस्या के पीछे स्त्रियों को दोष देने, उन्हें बदनाम करने, उनके प्रति लोगों के मन में घृणा पैदा करने और उन्हें नियंत्रित करने की, पुरुषों की मानसिकता को 'चाँद' ने पर्दाफास करने का प्रयास किया है| मार्च 1941 का 'विवाह-अंक' भी शायद इसी का अगली कड़ी है, जिसमे वैवाहिक सम्बन्धों, विवाह की जरूरतों और परम्परागत विवाह की अवधारणाओं पर विचार-विमर्श किया गया है| अब विवाह की जरूरत स्त्री-पुरुष के लिए, खासकर स्त्री के लिए पहले की तरह नहीं रहा, जिस तरह से 20 के दशक के पहले हुआ करता था|

इसके अलावा विवाह में लड़की की सम्मति की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए दुर्गा शंकर व्यास ने 'विवाह में लड़की की सम्मति आवश्यक है' शीर्षक लेख लिखा है| जिसमें लड़कियों को भी अपने विवाह के विषय में निर्णय लेने तथा उनकी सहमति को आवश्यक बताया गया है| दुर्गाशंकर व्यास विवाह के लिए लड़की की सहमति के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि –

"ऐसे उदाहरण तो अनेक मिलते है जहाँ कितनी ही लड़कियां विवाह से पूर्व अपना हृदय किसी प्रेमी को दे चुकी होती है; परन्तु किसी दूसरे ही अपरचित व्यक्ति से उसे विवाह- बंधन में डालने से पहले लड़की से सम्मति नहीं ली जाती, जिसका परिणाम यह होता है कि ऐसा विवाह उन दोनों के जीवन के लिए बोझ हो जाता है| जिन घरों अथवा देशों में वरान्वेषण के समय लड़कियों से पूरी सलाह ली जाती है, वहाँ उनका वैवाहिक जीवन सर्वागीण रूप से सुन्दर दृष्टिगोचर होता है|"[298]

अगर वैवाहिक सम्बन्धों को फिर से परिभाषित करने की जरूरत आ पड़ी थी; विवाह के सम्बन्ध में स्त्रियों की सहमति असहमति का सवाल अहम बन गया था तथा विवाह कि आवश्यकता पर ही सवाल उठाया जाने लगा था तो, जाहिर है कि वैवाहिक सम्बन्धों से

[298] श्री. सत्यभक्त (संपादक) चाँद, फरवरी 1941, पृ. 236

विच्छेद का भी सवाल भी उठाया जायेंगा| यह सवाल भी पत्र-पत्रिकाओं से अछूता नहीं रहा| 'चाँद' के जनवरी 1941 के अंक में 'तलाक की समस्या' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक थे श्री. सुरेन्द्र बालुपुरी| तलाक की समस्या के बारे में चाँद' के तत्कालीन सम्पादक सत्यभक्त ने लिखा है कि –

"तलाक की समस्या भारतीय समाज में ज्यादा पुरानी नहीं है| मुसलमानों और हिन्दू समाज की छोटी जातियों में उसका प्रचार सदा से पाया जाता है; पर उच्च जाति के हिन्दू अब भी उसका नाम सुनकर कानों पर हाथ रखते है| धार्मिक विचारों के व्यक्ति तो शायद उसे स्वप्न में भी स्वीकार करने को तैयार न होंगे| पर इन सब बातों के होते हुए भी काल-प्रभाव से यह प्रश्न दिन पर दिन जोड़ पकड़ रहा है|"[299]

तलाक के सम्बन्ध में श्री. सुरेन्द्र बालुपुरी ने अपने लेख 'तलाक की समस्या' में सामाजिक ओद्योगिक परिवर्तनों और प्रभावों को देखते हुए वे तलाक को मध्यवर्गीय स्त्रियों के लिए आवश्यक मानते है| क्योंकि उनका यह मानना है कि निम्नवर्ग की स्त्रियों में सम्बन्ध- विच्छेद तो पहले से ही मान्य है| उनकी जातिगत प्रथाओं के आधार पर| बदलते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य में तलाक की आवश्यकता पर बल देते हुए लेखक का कहना है कि –

"सो पिसे हुए नारीत्व का वह अंश, जो मध्यकाल के लुभावने सुखद, सुनहरे सपनों की माया तोड़ कर जा चुका है, अगर तलाक जैसे अधिकार की मांग की जा रही है तो यह सर्वथा न्यायपूर्ण है, नितांत वैध और पूर्णत: कल्याण इसी में है कि हमारी परम्परा और रुढ़िवादी इतिहास की प्रचंड शक्तियों के सामने आज घुटने टेक दे, कल तो उसे मजबूरन करना ही होगा|"[300]

---

[299] वही, पृ. 122

[300] श्री. सत्यभक्त (संपादक) चाँद, जनवरी 1941, पृ. 127

'चाँद' के अप्रैल 1941 के अंक में भी 'हिन्दू-स्त्री और विवाह-विच्छेद' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक थे श्री. रामस्वरूप व्यास| इस लेख के संदर्भ में अपने सम्पादकीय टिप्पणी में श्री. सत्यभक्त लिखते हैं कि –

"हिन्दू- समाज में विवाह –विच्छेद का नाम भी चौकाने वाला है| हम लोग रूढ़ियों और परम्परा के ऐसे अंधभक्त हो गये है कि लकीर पर चलने के सिवाय और कोई बात हमारे दिमाग में घुसती ही नहीं| हम यह नहीं कहते कि विवाह-विच्छेद कोई बहुर अच्छी या प्रशंसनीय चीज है, पर यदि समय की गति उसकी मांग पेश करती है तो हमको उससे घबड़ाना नहीं चाहिए| मुख्य चीज समाज है न कि स्त्रियाँ या प्रथाएं| आज हम जिन प्रथाओं का पालन कर रहे है, हमारा ख्याल है उनमे से आधी से अधिक ऐसी है जिनका ५०० वर्ष पहले नाम भी न होगा| इस लिए विवाह-विच्छेद का नाम सुनकर भड़कने की जरूरत नहीं वरन, उस पर हमको गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए|"[301]

उस दौर में 'विवाह–विच्छेद के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तों की धारा-सभाओं में इस सम्बन्ध में कुछ बिल आ भी चुके हैं, हालांकि अभी किसी ने कानून का रूप धारण नहीं किया है| बड़ौदा राज्य में विवाह-विच्छेद का कानून है |'[302]

बदलते समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए श्री. रामस्वरूप व्यास 'हिंदी-स्त्री और विवाह-विच्छेद' शीर्षक लेख में लिखते हैं कि –

"जो यह मानते है कि विवाह-विच्छेद से हिन्दू समाज का अहित होगा, उनके लिए कोई जबरदस्ती नहीं है कि वह विवाह-विच्छेद के फंदे में फंसे| यदि वास्तव में हिन्दू समाज को विवाह-विच्छेद की जरूरत न होगी तो उसका उपयोग भी न होगा, और यदि हिन्दू-विवाह सचमुच आत्मा का मिलन होता है तो वह इन प्रहारों के सामने न टिक सकेगा| परन्तु हम

[301] श्री. सत्यभक्त (सम्पादक) चाँद, अप्रैल 1941, पृ. 407
[302] वही, पृ. 407

सत्य को सुन्दर शब्दों के आवरण में छिपा नहीं सकते| हिन्दू-विवाह-संस्था खोखली पड़ गयी है| इसके जीर्ण कलेवर में फिर से जान डालनी होगी और इसमें आवश्यक परिवर्तन भी करने होंगे| हम व्यक्तियों की धधकती असंतोष की आग को यो ही न बुझा सकेंगे, और केवल पुरातनता या हिन्दू- संस्कृति की दुहाई देने से काम न चलेगा| समयानुकूल परिवर्तन करके ही हम जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंगे| विवाह-विच्छेद इस प्रकार के परिवर्तनों में एक आवश्यक परिवर्तन है|"[303]

चाँद में छपे इन लेखों और बहसों से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि 'चाँद' का जो तेवर उसके शुरूआती दिनों में बना हुआ था वो तेवर और आलोचनात्मक दृष्टि 40 के दशक में भी बना हुआ था| सामाजिक समस्याओं पर विशेष रूप से स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं पर 'चाँद' का स्पष्टवादी बयान उसकी बेबाकी न्याय के प्रति उसका विशेष समर्पित होने का सबूत है| समस्याओं के प्रति जज्बाती हुए बिना जिस तरह से 'चाँद' समस्याओं में सुधार के साथ परिवर्तन का भी हिमायत करता है, उससे 'चाँद' की निष्पक्षता और स्पष्टवादिता प्रकट होती है|

इस तरह पत्रिकाओं ने स्त्रियों से सम्बन्धित सभी समस्याओं को विचार-विमर्श के केंद्र में स्थापित किया| चाहे वो सामाजिक समस्याएं हो या राजनैतिक समस्याएं, पत्रिकाओं ने इन सब से स्त्रियों को जोड़ने और उस पर विचार-विमर्श करने का सुअवसर प्रदान किया| स्त्रियों को राजनैतिक क्षेत्र से जोड़ने और उन्हें एक नागरिक के रूप में स्थापित और परिभाषित करने में पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी| स्त्रियों के सन्दर्भ में पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका के बारे में फ्रांचेस्का आर्सीनी ने लिखा हैं कि –

"पत्रिकाओं ने राष्ट्रवादी परियोजना के अभिन्न अंग के रूप में स्त्रियों के सशक्तिकरण और उनकी पहलकदमियों का स्वागत किया|उन्होंने जाँच-परख और आलोचना-मूल्यांकन के महत्वपूर्ण साधन और राजनैतिक तथा ऐतिहासिक चेतना विकसित करने में मदद की,जिसके

[303] श्री. सत्यभक्त (सम्पादक) चाँद, अप्रैल 1941, पृ. 410

बल पर महिलाएं पितृसत्ता के दोहरे मानदंडों पर सवाल करने लगी और सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी का दावा भी|"[304]

[304] फ्रांचेस्का आर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, (अनुवद) नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण2011 पृ. 323

पंचम अध्याय

स्त्री-गद्य-लेखन का शिल्प

5.1 स्त्री और पुरुष का लिखना

5.2 भाषा में भावुकता का सवाल और स्त्री-लेखन का शिल्प

5.3 एक स्त्री का लिखना

5.4 पुरुष और स्त्री की भाषा में पृथकता का सवाल

5.5 शैलीगत नवीनता और स्त्रियों की भाषा

5.6 आत्मकथात्मक शैली और स्त्रियाँ

5.7 जाति और वर्ग के आधार पर भाषा का मूल्यांकन

किसी भी रचनाकार का भाषा-शिल्प दूसरे रचनाकार की भाषा शिल्प से अलग होता है| क्योंकि भाषा शिल्प का आधार रचनाकार की भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति पर भी निर्भर करता है| आज के दौर में, जब साहित्य विमर्शों के बरक्स लिखी और पढ़ी जाती हो तो, भाषा शिल्प का बनना साहित्यकार के भावनाओं और विचारों पर विशेष रूप से निर्भर करता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता है| चूँकि भाषा-शिल्प रचना को कहने और लिखने की अपनी-अपनी शैली होती है अत: प्रत्येक रचनाकार की रचना को लिखने का ढंग अलग-अलग हो सकता है| लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि किसी रचनाकार के 'पाठ' का शिल्प किसी दूसरे रचनाकार के शिल्प से बिल्कुल ही अलग हो| क्योंकि यह भी हो सकता है कि एक रचनाकार दूसरे रचनाकार के 'पाठ' के कहने के ढंग से प्रभावित हो| लेकिन यह ज्यादा सम्भव है कि वह तभी प्रभावित हो सकता है जब कोई शिल्प उसके विचारों और भावनाओं को सही तरीके से अभिव्यक्त करने में सक्षम हो|

पर सामान्य तौर पर यह भी माना जाता है कि एक परिपक्व रचनाकार के 'रचना शिल्प' उसकी अपनी विशेषता पर ज्यादा निर्भर करता है| शायद इसलिए भी क्योंकि विधागत और आंतरिक विषय वस्तु एक होते हुए भी प्रत्येक रचनाकर के 'पाठ' की अपनी विशेषता होती है| संरचना के आधार पर भी प्रत्येक विधा का अपना स्वरूप और शैली होता है| इस तरह रचना-शिल्प एक ऐसा सैद्धांतिक पक्ष होता है जो रचनाकार के कलात्मक अभिव्यक्ति को एक नया और अलग आयाम के रूप में प्रतिष्ठित करता है| रचनाकार की भावनाएं और उसके सोचने-समझने, महसूस करने तथा ग्रहण करने की शक्ति उसके कलात्मक अभिव्यक्ति को भी प्रभावित करती है| अगर प्रत्येक साहित्यकार की 'रचना शिल्प' का अपना ढंग होता है, तो यह भी सम्भव है कि उसकी रचना शिल्प उसके परिवेश और उसकी स्थिति के अनुसार अपना आकार ग्रहण करती हो|

सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक परिवेश जहाँ हमारे सोचने-समझने और विचार करने की शक्ति को गहरे में प्रभावित करता है, तो हमारे कलात्मक स्तर को भी; हमारे लिखने के ढंग को भी गहराई से जरूर प्रभावित करता होगा| फिर तो रचनाकार की अभिव्यक्ति की

क्षमता उसके सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना के आधार पर भी निर्भर करता होगा और उसे ध्यान में रखकर ही हम उसके आंतरिक और कलात्मक अभिव्यक्ति का सही परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन कर सकते है| इस दृष्टि से देखे तो स्त्री-पुरुष के रचना 'शिल्प' का अपना-अपना ढंग हो सकता है| रचनाकार के रचना 'शिल्प' का मूल्यांकन उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर भी किया जाना चाहिए| दूसरी तरफ कलात्मकता का तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए की वो देखने में बेहद आकर्षक हो| भाषा काफी लावण्यमयी और अलंकरण युक्त तथा शब्दों और वाक्यों का ऐसा गुम्फन हो कि 'पाठक' उस में उलझ कर रह जाए| किसी रचना का कलात्मक पक्ष का महत्व तभी सार्थक हो सकता है जब उसमें रचना के अंतर्वस्तु को सहज सम्प्रेषणीय बनाने की क्षमता हो|

5.1 स्त्री-और पुरुष का लिखना :

स्त्री और पुरुष रचनाकार की रचनाओं में संवेदनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति की पृथकता देखी जा सकती है| लेकिन यह प्रत्येक रचनाकार और रचना के साथ हो, यह भी पूरी तरह से सम्भव नहीं है| इस दृष्टि से देखे तो प्रत्येक रचनाकार की रचना चाहे वो स्त्री हो या पुरुष भाषा शिल्प के स्तर पर भिन्नता को रेखांकित किया जा सकता है| पुरुष और पुरुष, स्त्री और स्त्री रचनाकार के भाषा शिल्प में भी भिन्नता देखी जा सकती है| लेकिन जब हम विमर्शों के सिलसिले में विशेष रूप से स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में स्त्री और पुरुष की भाषा शिल्प पर विचार करते है तो सवाल भाषा शिल्प और शैली की भिन्नता का न होकर भाषा शिल्प में गुणात्मक भिन्नता का सवाल प्रमुख हो जाता है| जिसमें सामान्य तौर पर यह मानकर चला जाता है स्त्री रचनाकार की भाषा पुरुष रचनाकार की भाषा शिल्प से गुणात्मक रूप से कमतर और हीन है| स्त्री रचनाकार की इसी कमतरी को परिभाषित करने के लिए स्त्री रचनाकार की भाषा और शिल्प को 'घरेलू' भाषा कहकर उसकी आलोचना की जाती है|

किसी रचना की शिल्पगत गुणवत्ता को अगर हम जेंडर पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर करते है और इसी आधार पर स्त्री-पुरुष की रचना में गुणात्मक भिन्नता का मुल्यांकन करते है तो हम स्त्री-पुरुष के सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों को भिन्नता को झुठला रहे होते है| विमर्शों के

सन्दर्भ में स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता को नकार कर अगर रचना की संरचना का मूल्यांकन करते है तो जाहिर है कि मूल्यांकन का आधार मात्र 'पाठ' है न की रचनाकार|ऐसी स्थिति में स्त्री और पुरुष का सवाल ही नहीं बनता | लेकिन रचना के साथ रचनाकार अभिन्न रूप से जुड़ा रहता है, इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता है| इसके साथ ही रचनाकार के सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का सवाल भी जुड़ा हुआ है| इसका ध्यान रखे बगैर स्त्री और पुरुष रचनाकार की रचना की संरचना का मूल्यांकन सम्पूर्णता में नहीं किया जा सकता है| यह अलग बात है कि पाठक उसे किस तरह से देखता है| यह इस पर भी निर्भर करता है कि उसके लिए रचना का महत्व क्या है?

किसी रचना की संरचना का मूल्यांकन करते समय रचनाकार को; उसके परिवेश को हम ध्यान में रखे बगैर अगर उसका मूल्यांकन करते है तो हम इस बात से अनजान रह जाते है कि एक रचनाकार 'पाठ' का निर्माण करते समय किन-किन परिस्थितियों और मानसिक तनाव से गुजरता है| यह परिस्थितियाँ और तनाव स्त्री-पुरुष की रचना के सन्दर्भ में विशेष रूप से लागू होती है| क्योंकि हम इस बात से अनजान नहीं है कि हमारे समाज में स्त्री और पुरुष के बीच कितनी बड़ी असमानता है| समाज का स्वरूप पितृसत्तात्मक होने के कारण स्त्रियों की स्थिति हमेशा दोयम दर्जे की मानी जाती रही है| स्त्री को हमेशा ही पुरुष के संरक्षण में रखा जाता रहा है| पुरुषों के अधीन रहने के कारण और बेहद सीमित दायरे में रहने के कारण स्त्रियों का अनुभव क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है| इसके साथ ही स्त्रियों को पढ़ाई- लिखाई से दूर रखने के कारण भी उनका कलात्मक और विचारात्मक विकास उस तरह से नहीं हो पाता है जिस तरह से एक पुरुष का| अगर स्त्रियाँ किसी तरह पढ़ भी जाए तो उन्हें वो अवसर और सुविधा नहीं प्राप्त होती है जो एक पुरुष रचनाकार को प्राप्त है| लेकिन यहाँ मेरे कहने का सिर्फ यह मतलब नहीं है कि चूँकि पुरुष रचनाकार को विशेष सुविधा प्राप्त है अत: उसकी रचना गुणात्मक दृष्टि से स्त्रियों की अपेक्षा ज्यादा महत्व रखती है| स्त्रियों द्वारा लिखी हुई ऐसी बहुत सी रचनाएँ मिल जाएँगी जो बेहद संघर्ष में लिखने के बावजूद पुरुषों की रचनाओं से किसी भी तरह कमतर नहीं है|

हिंदी की शुरूआती दौर की रचनाओं को हम उदाहरण के रूप में ले सकते है| नीचे प्रेमचंद और सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों को उदहारण के रूप में दिया जा रहा है| जिससे उन की शिल्पगत गुणवत्ता और भाषिक संरचना समझा जा सकता है|

प्रेमचन्द – "आनंदी अपने नये घर में आयी, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा| जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी| हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहली तक न थी| रेशमी स्लीपर साथ लायी थी; पर यहाँ बाग कहाँ| माकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें|"[305]

सुभद्राकुमारी चौहान – "दूसरे दिन आचानक मुहल्ले भर में यह हवा फ़ैल गयी कि मनोहर की दूसरी स्त्री का भी हार्टफेल हो गया| अर्थी के साथ बहुत से लोग थे जो असली वाक़ये से वाकिफ़ थे मगर शहर के इतने बड़े और पायेदार आदमी के खिलाफ़ जबान खोलने की किसे हिम्मत थी|"[306]

उपरोक्त उदहारण में दो पंक्तियों के बीच जिस प्रकार 'असली वाकये' का राज खुलता है, वह दिलचस्प है|

सुभद्रा कुमारी चौहान का लेखन का दायरा प्रेमचंद की अपेक्षा बहुत ही कम है| सुभद्रा कुमारी एक ही साथ विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय थी| घर-परिवार बच्चे, साहित्य और राजनीति कोई भी क्षेत्र इनसे अछूता नहीं था | और प्रेमचंद का सारा ध्यान विशेष रूप से लेखन पर लगा हुआ था| ऐसा नहीं था कि प्रेमचंद के जीवन में किसी तरह का कोई संघर्ष नहीं था लेकिन एक साथ विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय रहने के बावजूद सुभद्राकुमारी की रचनाओं और

---

[305] प्रेमचंद, बड़े घर की बेटी (प्रेमचंद की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 2) सुमित्र प्रकाशन, इलाहबाद, नवां संस्करण 2013, पृष्ठ 476

[306] सुभद्रा कुमारी चौहान, बड़े घर की बात (सीधे-सादे चित्र) हंस प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण सितम्बर 1983, पृष्ठ 274

उस समय को देखते हुए किसी पुरुष रचनाकार की संरचना से कमतर नहीं आँका जा सकता है|

हालांकि परिस्थितियां स्त्री-पुरुष के भाषाई और शिल्पगत संरचना की भिन्नता की दृष्टि से एक बहुत बड़ा कारण है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता है|

कोई कलाकार किसी कला का निर्माण करते समय किस तरह की मानसिक तनाव या ख़ुशी से गुजर रहा है, यह स्थिति कला की स्थिति का भी बयान करता है| मूर्ति या पेंटिंग्स का निर्माण करते समय एक कलाकार किस खुशी किस गम और किस तरह के मानसिक सामाजिक- सांस्कृतिक तनाव से गुजरता है, ये सारी परिस्थितियां कला के निर्माण को खासे प्रभावित करती है| इसी तरह रचना के निर्माण में भी ये परिस्थितियां प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार होती है| हमारे मनोभाव और हमारी परिस्थितियां किसी भी कला और रचना के निर्माण की आधार शिला है| रचना हमारे समाज के साथ हमारे मनोभावों की भी अभिव्यक्ति होती है| ऐसे तो कलात्मक और संरचनात्मक पक्ष कहने को तो रचना का बाहरी पक्ष होता है लेकिन यह अपना आकर ग्रहण रचना के आंतरिक विषयों, जो मनोभावों और परिस्थितियों के संश्लेष्ण से बना होता है, पर निर्भर करता है|

अस्तित्ववादी साहित्य विमर्श चाहे नारीवादी विमर्श की बात हो, दलित, आदिवासी विमर्श की बात हो, प्रवासी या पसमांदा साहित्य विमर्श की बात, इसमें एक खास वर्ग के मनोभावों, सामाजिक-सांस्कृतिक पिछड़ेपन आर्थिक-राजनीतिक परेशानियों और उसके कारणों को केंद्र में रखकर रचना का निर्माण किया जाता है| इन खास वर्गों की समस्याओं का आधार उनकी व्यक्तिगत परेशानियों का हिस्सा ज्यादा लगता है, लेकिन इसका आधार हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक असमानताओं से उपजा संवेदनात्मक पक्ष होता है| शोषण और अमानवीय अत्याचारों के खिलाफ़ वैचारिक विरोध दर्ज करना विमर्शों का अपना सच होता है जिसका सम्बन्ध सामाजिक असमानताओं पर आधारित होता है| इस तरह इन विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अगर किसी 'रचना' का मूल्यांकन किया जाएँ तो यह सम्भव है कि किसी रचना को या विशेष रूप से किसी खास

वर्ग की रचना को संरचननात्मक दृष्टि से कमजोर कहके उसकी उपेक्षा करने से बच जाए| नारीवादी साहित्य विमर्श के सन्दर्भ में स्त्री-लेखन के आंतरिक और कलात्मक पक्ष को 'सीमित', 'घरेलू' और 'अतिभावुक' कहकर उपेक्षा करना, स्त्री की सामाजिक- सांस्कृतिक पिछड़ेपन तथा जेंडर विभेदीकरण को नजरअंदाज करना है|

जहाँ तक स्त्री-लेखन पर 'अतिभावुकता' का आरोप लगाने का सवाल है, तो यह स्थिति किसी पुरुष रचनाकर के रचना के सन्दर्भ में भी सही हो सकता है, अगर पूर्वाग्रह रहित होकर उसका मूल्यांकन किया जाए तो|

भाषा का अपना एक समाजशास्त्र होता है| इसका राजनैतिक आधार भी होता है| इस राजनैतिक आधार को ध्यान में रखे बगैर भाषा के समाजशास्त्र को नहीं समझा जा सकता है| इसके आधार पर ही किसी भाषा को कमतर और किसी भाषा को समाज में केन्द्रीय महत्व प्राप्त है| स्त्री और पुरुष के सन्दर्भ में भी यह बात सच है| कहने को तो स्त्री और पुरुष एक ही समाज में, एक साथ, एक ही घर में होते है, लेकिन समाज में इन दोनों की सामाजिक और राजनैतिक हैसियत अलग-अलग होती है| एक को समाज में सारे अधिकार प्राप्त है और तो और वो दूसरे के अधिकारों का हनन करने का भी हक और शक्ति रखता है| दूसरे के पास बुनियादी सुविधाओं का भी अभाव है| वह दूसरे के संरक्षण और अधीन रहने के लिए मजबूर है| ऐसी स्थिति में स्त्री और पुरुष की रचना के आंतरिक पक्ष की बात हो या संरचना का सवाल,दोनों में भिन्नता का होना लाजमी है| लेकिन यह हमेशा सही हो, यह भी सच नहीं है|

5.2 भाषा में भावुकता का सवाल और स्त्री-लेखन का शिल्प :

औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों और भारतीयों के बीच का संघर्ष जितना राजनैतिक था उससे कही ज्यादा यह संघर्ष वैचारिक और सांस्कृतिक भी था| इस राजनैतिक और सांस्कृतिक संघर्ष में महिलाएं भी समान रूप से भागीदार थीं| आधुनिक भारत में यह पहली बार था जब महिलाएं विभिन्न स्तरों पर संघर्षरत थी| राजनैतिक स्तर पर उनका संघर्ष अगर औपनिवेशिक सत्ता से था तो सामाजिक रूप से उनकी लड़ाई पितृसत्तात्मक समाज से

था| भारतीय पुरुष भी सामाजिक लड़ाई लड़ रहा था लेकिन उसकी लड़ाई पितृसत्ता से नहीं थी|उनकी लड़ाई समाज के बदसूरत और असभ्य दिखाई देने वाले रूप से था| इसे सिर्फ वैचारिक आधार पर ही नहीं लड़ा जा सकता था| इसके लिए उस भाषा की भी जरूरत थी जो उनके हितों की रक्षा करने के अनुकूल हो| स्त्री-उद्धार के संदर्भ में समाज सुधारकों की भाषा का स्वरूप ऐसा था जो पितृसत्तात्मक आचार संहिताओं को उदार और आकर्षण रूप में पेश करता था| स्त्री-प्रश्न के सन्दर्भ में उनके शब्दों का चुनाव पितृसत्तात्मक शाब्दिक संरचना पर ही आधारित था| 'मातृत्व' का महिमामंडन करने का सवाल हो या नारीत्व को देवी के रूप में प्रतिष्ठित करने का सवाल, ये शब्द पितृसत्तात्मक स्वरूप को परिभाषित करने के लिए काफी अनुकूल थे| स्त्रियों के सन्दर्भ में 'सेवाभाव' की अवधारणा भी इसी रूप में लिया जाता था, भले ही इसे राष्ट्रीयता के साथ क्यों न जोड़ कर देखा जाता रहा हो|

औपनेशिक काल में स्त्रियाँ अपनी भावनाओं को पहली बार किसी भाषा के स्तर पर अभिव्यक्त कर रही थी| इस दौर में स्त्रियों की समस्याओं का सम्बन्ध जितना सामाजिक और वैचारिक था, उतना ही भावनात्मक भी था| स्त्री- लेखन की शैली का मूल्यांकन उस दौर के भावनात्मक संघर्ष के आलोक में भी देखा जाना चाहिए| स्त्रियों की भाषिक संरचना पर 'अतिभुवुकता' का जो आरोप लगाया जाता है, उसका सम्बंध स्त्रियों के उस भावनात्मक संघर्ष से था जो वो अपने और अपने परिवार के स्तर पर लड़ रही थी| साहित्य की जिन विधाओं में- कहानियों, उपन्यासों, चिट्ठी-पत्री के माध्यम से महिलाएं अपनी समस्याओं को अभिव्यक्त कर रही थी, उसका सम्बन्ध उनकी भावनाओं से ज्यादा था| ऐसी स्थिति में उनकी भाषिक संरचना का 'भावुकतापूर्ण' होना कोई बड़ी बात नहीं है और न ही साहित्यिक संरचना की दृष्टि से इसे गलत माना जा सकता है| साहित्यिक रचनाओं में संवेदना का होना रचना की कमजोरी नहीं बल्कि रचना की ताकत है| यह भावुकता ही है जो साहित्य को इतिहास से अलग करती है| साहित्य में पाठक के भावों को उद्वेलित करने की शक्ति होनी चाहिए|

अंग्रेजी राज्य में भारतीयों की लड़ाई मात्र राजनैतिक और वैचारिक नहीं रह गया था बल्कि यह लड़ाई ज्यादा भावनात्मक हो गया था| भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु इत्यादि क्रांतिकारियों के संघर्ष को किस तरह से देखा जाये| इनका संघर्ष अगर वैचारिक धरातल पर ही लड़ा जा रहा था तो इनका हँसी-ख़ुशी फांसी पर चढ़ जाना किस तरह से देखा जाना चाहिए? क्या यह मात्र वैचारिक था? या भावना से भी इसका कुछ सम्बन्ध था?

महिलाएं जब लिख रही होती है तो उनकी लड़ाई जितनी सामाजिक होती है उतनी ही वह अपने आप से भी वह लड़ती है| अपने आप से लड़ना इंसान को अतिसम्वेदनशील बना देता है| स्त्रियों की रचनाओं को भी इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए| वैसे रचना में अलंकरण को ही सौन्दर्य समझने वाले आलोचक भावनाओं को नहीं समझ सकते है| उषा देवी मित्रा की रचनाओं में भावुकता के आरोप लगाये जाने के सन्दर्भ में प्रभा सक्सेना अपने शोध- ग्रन्थ 'उषादेवी मित्रा व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में लिखती हैं कि –

"उन पर प्राय: भावुकता का आरोप लगाया जाता है| कहा जाता है उनकी कहानियां कही-कही गद्य-काव्य हो जाती है पर यह बात तो चंडीप्रसाद पर भी लागू होती है| उषा जी का हृदय कवि हृदय था| वह बंगला में कविता लिखा भी करती थी| अत: स्थान-स्थान पर काव्यात्मक आनन्द रसात्मकता में बाधक नहीं होता|"[307]

इस दौर की लेखिकाओं की रचना शैली के सम्बन्ध में डा. प्रभा सक्सेना 'हिंदी साहित्यकोष' (भाग दो) के हवाले से लिखती हैं कि –

"महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' में जिस मानवीय करुणा, सन्निकटता और सहजता को अत्यंत निश्छलता के साथ विकसित किया था, उसी संवेदना और उसी वातावरण को सर्वथा नये सन्दर्भों के साथ जोड़कर उषादेवी मित्रा ने उस परम्परा में एक नयी कड़ी जोड़ी हैं|

[307] डा. प्रभा सक्सेना, उषादेवी मित्रा व्यक्तित्व और कृतित्व, पंचशील प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृष्ठ 207

सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों में लक्ष्य-पूर्ति की ओर विशेष आग्रह मिलता है लेकिन उषादेवी मित्रा की शैली उस भावुकता से ऊपर उठ जाती है|"[308]

अगर स्त्री-लेखन में भावुकता की अधिकता है तो यह भावुकता तार्किकता से भी परे नहीं है| इस भावुकता में सामाजिक असमानताओं विशेषकर स्त्रियों से सम्बन्धित शोषण के स्वरूपों पर कटाक्षपूर्ण चुभते हुए व्यंग और शोषण के खिलाफ गुस्सा भी है| मिसाल के लिए महादेवी वर्मा की रचनाओं में जिस पितृसत्तात्मक मूल्यों और रीति-रिवाजों तले दबी हुई हिन्दू स्त्री की बेबसी और लचारी को दिखाया गया है, उसमे भावुकता मिश्रित व्यंग का दर्शन होता है| इस भावुकता में तर्क भी है और इसका वैचारिक आधार भी है| इस दौर की लेखिकाएं जब स्त्रियों की दयनीय दशा; उन पर हो रहे अत्याचारों तथा अमानवीय व्यवहारों के बारे में लिखती है और पुरुषों के स्वार्थों का खुलासा करती है तो उनकी भाषा शिल्प भावुक होते हुए भी पाठक को सोचने- समझने के लिए मजबूर करती है| कही-कही उनकी भाषा में व्यंग का पुट भी होता है, तो वह पाठक को हँसने का अवसर दिए बगैर स्त्रियों के साथ हो रहे अन्याय के प्रति पाठक को सोचने-समझने के लिए प्रेरित भी करता है| मिसाल के लिए –

"वृद्ध जीवन के कम से कम 54 बसंत और पतझड़ देख चुके होंगे – दो अर्धांगिनियाँ मानो उनके जीवन की द्रुत गति से पग न मिला सकने के कारण ही उसका संग छोड़ गई है| उनसे मिले उपहार स्वरूप दो पुत्रों में से एक कलकत्ते में कोई व्यवसाय करता है और इस बार उन्होंने एक पैतीस वर्ष की बाल विधवा का उद्धार किया है|"[309]

इस भाषा की संरचना पर सिर्फ स्त्रियों की बेबसी पर करुणा का ही भाव उदित नहीं होता बल्कि समाज की क्रूरता और पुरुषों की स्वार्थपरता पर वितृष्णा और क्रोध भी आता है| लेकिन यह क्रोध पाठक के मन में स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता पर तार्किक रूप से सोचने

[308] वही, पृष्ठ 207-208

[309] निर्मला जैन (संपादित), महादेवी साहित्य खण्ड 3, (महादेवी वर्मा, बिट्टो, अतीत के चलचित्र) वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, संस्करण 1969, पृष्ठ 38-39

का भी अवसर प्रदान करता है| पुरुषों की मानसिकता पर कटाक्ष करते हुए एक लेखिका का लिखना हैं कि –

"इंग्लैड की स्त्रियाँ चाहे नाजियों के बम्बार्डमेंट से बच जाएँ और टपटप ओंलो की वृष्टि में खड़े पके खेतों के बचाव का भी चाहे कोई वैज्ञानिक प्रबंध कर दे, पर हिंदुस्तान की स्त्रियाँ पुरुषों के घुर से नहीं बच सकती! कम से कम अभी तो बहुत दिनों तक|"[310]

स्त्रियों के लेखकीय बुनावट में मात्र भावुकता नहीं है व्यंग और तर्क भी है|

5.3 एक स्त्री का लिखना :

नारीवादी विमर्श को ध्यान में रख कर अगर महिला- लेखन की भाषा के सौन्दर्य पक्ष की बात करे तो, यह बात तो जाहिर ही है कि लेखिकाएं स्त्रियों की वास्तविक जीवन की कठिनाइयों, उनके संघर्षों और उनकी पराधीनता को अपनी रचनाओं का विषय बनती है| किसी स्त्री द्वारा किसी स्त्री के दुःख दर्द को उसकी पराधीनता को लिखना कही न कही आत्मीय रूप से लेखिका की जिन्दगी से भी जुड़ता होगा| ऐसी स्थिति में स्त्री-लेखन में भावुकता का पाया जाना उसकी शिल्पगत कमजोरी नहीं उसकी संवेदनात्मक जटिलता को सामने लाता है| बीसवीं सदी की लिखिकाएं पहली बार स्त्रियों की समस्याएं और उनके प्रति हो रही ज्यादतियों को अपनी रचना का विषय बनती है| ये समस्याएं सिर्फ किसी दूसरी स्त्री का ही नहीं था बल्कि ये समस्याएं उनकी अपनी भी समस्याएं थी| वो कही न कही अपनी समस्याओं से भी लड़ रही थी| किसी साहित्यकार की रचना में भावुकता उसके मानवीय दृष्टिकोण से आता है| स्त्रियों के लेखन में अगर भावुकता पाया जाता है तो यह भावुकता उनकी कमजोरी नहीं बल्कि उनके लेखन की उर्जा है| यह भी देखने को मिलता है कि जब एक लेखक पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के आत्मीय सम्बन्धों का वर्णन करता है तो उसके वर्णन में अत्यधिक खुलापन पाया जाता है| प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ उनके सौन्दर्य की

[310] चन्द्रवती ऋषभ सैन जैन, नींव की ईट, प्रकाशक : जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर, संस्करण 1942 पृष्ठ 143

तुलना की जाती है| कल्पना का सहारा ज्यादा से ज्यादा लिया जाता है| वह भाषिक संरचना को अत्यधिक आकर्षण रूप में पेश करता है| लेकिन जैसे ही स्त्रियों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से पुरुष कोई रचना करता है तो उसमे नैतिकतावादी स्वर ज्यादा सुनाई देता है| उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के पुरुष लेखन में यह देखा जा सकता है| स्त्रियों की भाषिक संरचना का सम्बन्ध स्त्रियों के वास्तविक जीवन की समस्याओं के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है| ऐसी स्थिति में उनकी भाषिक संरचना में कल्पना का कम समावेश होना लाजमी है| यह दौर स्त्रियों के सम्बन्ध में अतिनैतिकता का दौर था| चंद्रवती ऋषभसैन जैन को शायद अतिनैतिकतावादी दृष्टिकोण की वजह से ही यह कहना पड़ा हैं कि –

“बीसवीं सदी की कहानी लेखिका को साहित्य के नभ में, कल्पना के सहारे, उड़ान भरने का अधिकार एक सीमा तक ही है, नहीं तो नवल-दम्पत्ति के इस मधुर-मिलन पर आकाश से फुल बरस पड़ते, दिशाएं हंसने लगती और स्वर्ग के देवता, विमानों पर बैठ, प्रेम के इस महोत्सव को देखने दौड़ आते|

बीसवीं शताब्दी के पाबंदियों का भय न होता तो कहानी-लेखिका उपमाओं और अलंकरों का ऐसा जाल बिछाती कि पाठक उर्दू मुशायरों की तरह वाह-वाह से आकाश गुंजा देते|”[311]

चंद्रवती ऋषभसैन जैन स्त्रियों के सम्बन्ध में जिस दबाव और पाबंदियों की बात कर रही है, वह दबाव और पाबंदियां उस युग की विशेषता थी| इसके बाहर कदम रखने पर उन्हें सामाजिक विरोधों का सामना तो करना ही पड़ता, मानसिक तनाव से भी गुजरना पड़ता| महादेवी वर्मा ने अकेले रहते हुए भी अपनी जिन्दगी को बड़ी सावधानी के साथ आधुनिकता और पारम्परिकता के साथ तालमेल बैठा लिया था| जिस नैतिक दबाव के साथ वो रह रही थी और लिख रही थी, उसका अंदाजा हम उनके लेखन की संरचना से लगा सकते है| किसी युग के साहित्यिक संरचना का मूल्यांकन करते समय उस युग के तनावों को विशेषरूप से स्त्रियाँ जिन परिस्थितियों में लिख रही थी इसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है|

---

311 चन्द्रवती ऋषभ सैन जैन, नींव की ईट, प्रकाशक : जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर, संस्करण 1942, पृष्ठ 8-9-13

छायावाद का कवि प्रकृति की जुल्फों से खेल सकता था'बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दू लोचन' 'जूही की कली' के उन्मुक्त प्रेम को साहित्य का विषय बना सकता था| उसपे उसे वाहवाही भी मिल सकती थी| लेकिन लेखिकाओं के लिए यह स्पेस शायद आज भी नहीं मिल पाया है| अगर लेखिकाएं इस सीमा को लाँघ कर बाहर निकलती भी है तो उनके साहित्य को सिर्फ स्त्री की यौनिक स्वछंदता तक सीमित किया जाना कोई बड़ी बात नहीं है|

कल्पनालोक में विचरण करना अलंकारों से खेलना, रसों का स्वाद लेना नायिकाओं को उपमाओं की लड़ी पहनना पुरुषों के साहित्यिक सौन्दर्य का मानदंड है| इस सौन्दर्य को विमर्शों के सन्दर्भ में मिलना शायद आसन नहीं है| क्योंकि नारीवादी विमर्श हो या दलित विमर्श या इस तरह के तमाम विमर्श, उनका सौन्दर्यबोध तो इन सब के विरोध में ही छुपा हुआ है, जो आसानी से नज़र नहीं आ सकता| इसके लिए साहित्यिक सौन्दर्य के पूर्वाग्रह से निकलने की जरूरत है| हिंदी का साहित्यिक लोक को इसे आसानी से स्वीकार करने में शायद अभी समय लगेगा|

भाषिक संरचना शिल्प का अपना सौन्दर्य और अपना आकर्षण होता है| लेकिन महिला-लेखन में भाषिक शिल्पगत सौन्दर्य को खोजने से पहले, इस बात की पड़ताल करने की भी जरूरत है कि क्या जिन परिस्थितियों में पुरुष अपनी अभिव्यक्ति को, अपने मनोभावों और विचारों को एक रचना के रूप में रूपायित करता है, क्या उन्हीं परिस्थितियों में एक स्त्री भी अपने भावों और विचारों को रचना में रूपायित करती है| एक स्त्री जब लिखती है तो वह विभिन्न मोर्चों पर संघर्ष करती है| तमाम तरह के तनावों से दो-चार होती हो| जिस समाज में स्त्री को पढ़े जाने की मनाही हो, उस समाज में स्त्रियों का लिखना कितना तनावपूर्ण होगा| इससे कोई अनजान नहीं है कि किस तरह से अपने शुरूआती दौर में, सबसे छुपकर स्त्रियाँ पढ़ना और लिखना सीख रही थी| जो लिख भी रही थी उसका छपना नामुमकिन था| और अगर उनकी रचनाएँ प्रकाशित भी हुई तो किसी स्त्री लेखिका के नाम पर नहीं बल्कि पुरुष के नाम पर| शार्लोट ब्रान्टे बहनों का साहित्यिक लेखन का इतिहास किसी से छिपा नहीं है|

'ए रूम आफ़ वंस ओन' (अपना कमरा) की लेखिका वर्जिनिया वुल्फ सृजनात्मक कार्य के लिए एक व्यक्ति को किस तरह की मानसिक स्थिति की जरूरत होती है| स्त्री और पुरुष को किस तरह की परिस्थितियाँ मिलती है? उन दोनों की प्रतिभा पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर विचार करते हुए शेक्सपियर की काल्पनिक बहन की कल्पना करते हुए लिखती हैं कि–

"शेक्सपियर के जमाने में शेक्सपियर के नाटक लिखना किसी भी औरत के लिए पूर्णतया असंभव रहा होगा| अब तथ्यों का पता चलना हबूत मुश्किल है इसलिए मुझे कल्पना करने दीजिये कि अगर शेक्सपियर की एक अद्भुत प्रतिभासम्पन्न बहन रही होती, मान लीजिए की उसका नाम जूडिथ था, तो क्या होता| संभव ही शेक्सपियर व्यकरण के स्कूल गया हो- आख़िर उसकी माँ कुलीन थी- जहां उसने लैटिन- ओविड, वर्जिल और होरेस- तथा व्याकरण और तर्कशास्त्र का ज्ञान हासिल किया हो| सब लोग जानते हैं कि वह ऊधमी बच्चा था....

अब मान लीजिए कि उसकी असाधारण प्रतिभासम्पन्न बहन इस दरम्यान घर पर बनी रही| वह शेक्सपियर जितना ही साहसी, कल्पनाप्रवण और दुनिया देखने के लिए उत्कंठित थी| लेकिन उसे स्कूल नहीं भेजा गया| उसके लिए व्याकरण और तर्कशास्त्र सीखने का कोई मौका नहीं था, होरेस और वर्जिन को पढ़ने की तो बठी छोड़िये| वह कभी-कभी कोई किताब उठा लेती थी, शायद अपने भाई की, और कुछेक पृष्ठ पढ़ती थी| लेकिन तभी उसके माँ-बाप आ जातेऔर उससे मोजों को ठीक करने या शोरबे का ख्याल रखने के लिए कहते और किताब कागज़ में खोए रहने ऐ मना करते| उन्होंने कड़ाई से बोला होगा लेकिन वे दयालु थे, दुनिया देखे हुए थे और औरत की ज़िन्दगी के हालत से वाकिफ़ थे| ..पड़ोस के ऊन का धंधा करने वाले के बेटे से उसकी सगाई हो गयी| वह चीखी-चिल्लाई कि शादी से उसे नफ़रत है...."[312]

जाहिर है कि वर्जिनिया वुल्फ स्त्री और पुरुष के उन अलग-अलग परिस्थितियों के बारे में बात कर रही है, जो पुरुष और स्त्री को प्राप्त होता है|

---

[312] वर्जिनिया वुल्फ, अपना कमरा (अनुवाद) गोपाल प्रधान,संवाद प्रकाशन मेरठ, संस्करण 2008, पृष्ठ 55

यह लेखिकाओं की पहली दूसरी पीढ़ी थी, जो किसी भी भाषा में पढ़ने-लिखने का काम कर रही थी| यह समय महिलाओं के लिए सिखने-समझने का समय था| उन पर तमाम तरह की जिम्मेदारियों के साथ तमाम तरह की पाबंदियां भी थी| सृजनात्मक और कलात्मक कृति का निर्माण करने में, शिल्पगत सौन्दर्य को निखारने के लिए जिस तरह की मानसिक शांति की जरूरत होती है क्या उस तरह की मानसिक शांति स्त्रियों को प्राप्त थी? अपनी कृति को कलात्मक संरचना और बौद्धिक उच्चता प्रदान करने के लिए पुरुषों को अनुकूल स्थितियां मिली हुई थीं, लेकिन एक स्त्री के लिए अनुकूल परिस्थितियों की उम्मीद करना बहुत मुश्किल है|

क्या जिस तरह की मानसिक अनुकूलता और परिस्थितियाँ प्रेमचंद इत्यादि लेखकों को मिली हुई थी क्या वैसी ही परिस्थितियां शिवरानी देवी इत्यादि लेखिकाओं को भी मिली हुई थीं?

प्रेमचंद लम्बे अर्से से लिखते आ रहे थे और आजीवन लिखते रहे| शिवरानी देवी अपना लेखन कार्य बहुत बाद में शुरू करती है| उनका लेखन भी प्रेमचंद की तरह व्यापक और विस्तृत नहीं है| शिवरानी देवी को न तो उस तरह की परिस्थितियाँ मिली, जिससे वह अपने लेखन को अधिक से अधिक सृजनात्मक और व्यापक बना सके| प्रेमचन्द या अन्य पुरुष रचनाकारों को जिस तरह का बौद्धिक माहौल प्राप्त होगा क्या उसी तरह का बौद्धिक माहौल स्त्रियों को भी प्राप्त होगा? अधिकांश महिलाएं तो घर के कामों से फुर्सत मिलने के बाद ही कुछ लिखने के लिए मौका निकाल पाती है| इस सब के बावजूद महिलाओं की लेखन- शैली शायद ही पुरुषों की लेखन- शैली से कमतरी का हैसियत रखती है|

महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में हिंदी भाषा पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा| इनके समय में रचना के कथ्य के साथ ही रचना की भाषा पर भी लेखकों ने ध्यान देना शुरु कर दिया था,विशेषरूप से 'सरस्वती' पत्रिका के सन्दर्भ में| हिंदी में 1920 के दशक में ही बड़ी संख्या में महिलाएं लेखन कार्य से जुड़ती हैं| जब तक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन चलता रहता है तब-तक तो महिलाएं भी लेखन के साथ विभिन्न बौद्धिक मंचों का हिस्सा बनी रहती है लेकिन जैसे ही आज़ादी की लड़ाई समाप्त होती है और भारत का विभाजन होता है,

बौद्धिक क्षेत्र से महिलाएं गायब होने लगती है कुछ गिनी- चुनी महिलाएं ही साहित्यिक-क्षेत्र में बनी रहती है| इसके बाद तो साठ के दशक और विशेषरूप से सत्तर के दशक में महिलाएं साहित्यिक क्षेत्र में नज़र आती है| इस तरह महिलाओं को बौद्धिक माहौल सीमित ही मिल पाता है|

1920 के बाद के महिला लेखन की भाषिक संरचना में काफी बदलाव देखने को मिलता है, विशेषकर उन महिला लेखिकाओं में जो लेखन को विशेषरूप से अपना हिस्सा बना चुकी थीं| महादेवी वर्मा के निबन्धों, रेखाचित्रों और संस्मरणों की भाषिक संरचना में जिस तरह का बौद्धिक और संवेदनात्मक संश्लेषण देखने को मिलता है, वह अभूतपूर्व है| इस दौर की और लेखिकाओं की अपेक्षा महादेवी वर्मा की भाषिक संरचना अत्यधिक सृजनात्मक, संगठित और सुचारू दिखाई देती है क्या इसलिए कि महादेवी वर्मा अपनी पूरी जिन्दगी घर-परिवार से दूर, सिर्फ सृजनात्मक कार्यों में व्यस्त रहती है? इनका लेखन भी और लेखिकओं की अपेक्षा व्यापक और विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है| अन्य लेखिकाएं –शिवरानी देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, सुमित्राकुमारी सिन्हा, कमला चौधरी, सत्यवती मलिक, हीरादेवी चतुर्वेदी, यशोदा देवी, तेजरानी पाठक इत्यादि लेखिकाएं घर परिवार की जिम्मेदारियों को निभाते हुए ही लेखन कार्य में अपना समय दे पाती है| संरचनात्मक दृष्टि से सत्यवती मलिक सुमित्राकुमारी सिन्हा इत्यादि लेखिकाओं का भाषा शिल्प किसी भी पुरुष लेखन की भाषिक संरचना की अपेक्षा कमजोर नहीं कहा जा सकता है| बस जरूरत है पूर्वाग्रह रहित होकर उनकी रचना का मूल्यांकन करने की|

विमर्शों के सन्दर्भ में भाषा की संरचना के स्तर पर अत्यधिक कलात्मकता, सौन्दर्य-विधान कथ्य के उद्देश्य को प्रकट करने के बजाय विरोधाभाष ज्यादा पैदा करता है| उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के पुरुष लेखकों ने स्त्रियों के समस्याओं के सम्बन्ध में जिस तरह की भाषिक संरचना का प्रयोग किया है, वह उनकी बौद्धिक संचेतना और तार्किकता को अत्यधिक बाधित ही करता है| स्त्रियों के सन्दर्भ में पितृसत्तात्मक मूल्यों और धार्मिक मान्यताओं को बचाए रखने के लिए, उसे न्यायसंगत ठहराने के लिए जिस तरह से अतिनैतिक्तावादी शब्दों

वाक्यों विशेषरूप से स्त्रैण-भूमिकाओं का महिमामंडन करने लिए भाषिक संरचना का निर्माण देखने को मिलता है, वह सही और गलत के बीच की तार्किकता को मिटा देता है|

स्त्रियों की भाषिक संरचना अगर अतिभावुकतापूर्ण होता है, तो क्या वह बौद्धिकता के विपरीत होता है? भावनात्मक होना किस तरह से अबौद्धिक होना है? क्या जो भावुक होता है वो बौद्धिक नहीं होता? बीसवीं सदी के लेखन को उस दौर के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक उथल-पुथल को ध्यान में रखकर इस सवाल का जबाब शायद कुछ हद तक खोजा जा सकता है| हिंदी के सार्वजनिक–क्षेत्र में पहली बार महिलाओं को अपनी तकलीफों को सार्वजनिक करने का अवसर मिलता है| अपनी समस्याओं को, जिन्हें वो अपना नियति समझकर झेल रही थी शायद उन्हें पहली बार (आधुनिक भारत में) सार्वजनिक रूप यह कहने का अवसर मिला कि उनकी पराधीनता और दयनीयता, उनकी नियति नहीं बल्कि समाज द्वारा गढ़ी गयी है| इसका जिम्मेदार उनका स्त्री होना नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था है, जो असमानता पर टिकी हुई है| पुरुषों के वर्चस्ववादी और स्वार्थपूर्ण रवैये के खिलाफ वो पहली बार आवाज उठती है| एक सम्वेदनशील व्यक्ति भी जब किसी दूसरों की तकलीफों को अपने साहित्य के जरिये अभिव्यक्त करता है तो उसकी भाषिक संरचना भावुक होने से नहीं बच पाती है ,फिर तो स्वयं स्त्रियाँ ही अपनी समस्याओं के बारे में अपनी तकलीफों के बारे में लिख रही थी, अपने क्रोध का इजहार कर रही थी, फिर उनकी भाषिक संरचना में भावुकता न हो, यह कैसे हो सकता है? प्रेमचंद ने जिस तरह से पढ़ी-लिखी मालती (गोदान की स्त्री-पत्र) के चरित्र गढ़ा है, क्या लेखिकाएं भी मालती का चरित्र चित्रण उसी तरह से करती? मालती अगर पुरुषों के साथ बेतल्कुफी से मिलती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह चारित्रिक रूप से हीन है| इसका चित्रण सुभद्रा कुमारी चौहान कैसे करती? इसे उनकी कहानी 'दुनिया' से अच्छी तरह से समझा जा सकता है| सुभद्रा कुमारी चौहान एक पढ़ी-लिखी, पुरुषों से अच्छा व्यवहार करने वाली स्त्री मिसेज चोपड़ा के चरित्र के बारे में कुछ इस तरह से लिखती हैं -

"उनकी वाणी में वह मिठास थी, चितवन में वह मोहकता थी कि कभी-कभी मैं भी शक करने लगता कि शायद उनका मेरे साथ अनुचित तरह का प्यार हो, किन्तु दूसरे ही क्षण मैं होश में आ जाता जब मैं देखता, ठीक वैसा ही व्यवहार वह दूसरों से भी करती है| वह इतनी मिलनसार थी; स्वभाव में इतनी मधुरता थी कि हर एक मिलने वाला यही सोचता हुआ जाता कि उसके साथ ही ऐसा व्यवहार किया गया है| और साथ ही दुष्ट प्रकृति वाले यह भी सोचते कि वह उन पर आसक्त है |इसीलिए ऐसा व्यवहार करती है|"[313]

किसी स्त्री के चरित्र चित्रण में जिस तरह की भाषिक संरचना पुरुषों की रहती है महिलाओं का स्वर बिल्कुल पृथक होता है| यह स्वर भाषिक संरचना के आधार पर ही अपना आकर ग्रहण करता है| सुभद्राकुमारी चौहान पढ़ी-लिखी, सभा-सोसाइटियों में जाने वाली पुरुषों के साथ हंस कर बात करने वाली वीणा की चारित्रिक विशेषता के बारे में 'तितली' की तरह नहीं बल्कि कुछ इस तरह से करती हैं-

"वीणा अपने माता-पिता के साथ छुटपन से ही सभा- सोसाइटियों में जाती थी और अक्सर व्याख्यान भी दिया करती थी| स्त्री-पुरुष उसके लिए समान थे| वह पुरुषों से भी उसी प्रकार निःसंकोच भाव से मिल सकती थी जैसे स्त्रियों से| लेकिन पिछड़े हुए समाज में वीणा का इस तरह से निःसंकोच भाव से मिलना, अकेली सभा-सोसाइटियों में चले जाना, किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अकेली वापस आना, पाप हो गया| पहले तो लोग कुछ अधिक न कह सकते थ, किन्तु इधर जब से अछूतोंद्धारिणी सभा का निर्वाचन हुआ और शहर में इतने महानुभावों के रहते हुए भी अछूतोंद्धारिणी सभा की अध्यक्षा वीणादेवी चुनी गयी और इस सिलसिले में उन्हें बहुत से व्यक्तियों से मिलना-जुलना पड़ा.बहुत जगह आना जाना पड़ा, कई ऐसे व्यक्तियों से भी संसर्ग रखना पड़ा, जिससे शायद वीणा कभी मिलाना भीं चाहती हो, तो उन लोगों को खुलेआम बकने का मौका मिला| जिन्हें वीणा की चल-ढाल न पसंद थी उन्हें वीणा वीणा कोडिया हुआ सम्मान फुटी आँखों न सुहाता था| एक, दो, तीन, चार नहीं वीणा केसाथ

[313] सुभद्राकुमारी चौहान, (दुनिया) सीधे-सादे चित्र, हंस प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण सितम्बर 1983, पृष्ठ312

जिसने भी सहानुभूति प्रदर्शित की जिस किसी ने उसके साथ घंटे आध घंटे बात की वीणा का प्रेमी हो गया|"[314]

जाहिर है कि स्त्रियों के मनोभावों और पुरुषों की मानसिकता का चित्रण जिस तरह से लेखिकाएं कर रही थी, पुरुष लेखक शायद ही कर सकते थे| उनकी भाषिक संरचना बेहद रुढ़िवादी वाक्यों और शब्दों को लिए हुए होती थी| शायद अभी स्त्रियों के चरित्र को परिभाषित करने के लिए पुरुषों के पास वो भाषिक संरचना की कमी थी, जिसे समझने के लिए उन्हें और समय की ज़रूरत थी|

अगर किसी रचना में भावुकता का आधिक्य है,तो इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें बौद्धिकता की कमी है या उसमें विचारात्मकता का अभाव है; तार्किक रूप से कमजोर है| उषादेवी मित्रा हो, महादेवी वर्मा हो, हीरादेवी चतुर्वेदी हो या इस दौर की तमाम लेखिकाओं की रचनाएँ, अगर उस में भावुकता है तो तार्किकता और बौद्धिकता की भी कोई कमी नहीं है| उनकी भावुकता भी विचार-विमर्श के रास्ते खोलती है|

दूसरी बात जो स्त्रियों की भाषा के सम्बन्ध में कहा जाता है वह यह है कि स्त्रियों की भाषा को 'घरेलू भाषा' कहकर उस पर आपत्ति जतलाई जाती है| पुरुषों की भाषा से कमतर आँका जाता है| 'घरेलू भाषा' से क्या मतलब है? क्या भाषा का विविधतापूर्ण न होना?

इस आपत्ति पर ध्यान दे तो यह कहा जा सकता है कि भाषा का विविधतापूर्ण होना सराहनीय बात है लेकिन इस आधार पर भाषा का 'घरेलूपन' होना कोई आपतिजनक बात तो नहीं हो सकती? स्त्रियों की भाषा का विकास एक सीमित दायरे में ही होता है| जिस तरह से एक पुरुष रचनाकार को बाहर की दुनिया से सम्पर्क रहता है, स्त्रियों के लिए शायद बीसवीं सदी की स्त्रियों के लिए और भी मुश्किल हो| भारतेंदु हरिश्चंद, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला इत्यादि पुरुष साहित्यकारों

[314] वही, पृष्ठ 313

का सम्पर्क जिस तरह से बाहरी दुनिया से होता होगा क्या राजेन्द्र बाला घोष इत्यादि लेखिकाओं को विस्तृत और व्यापक स्पेस मिल पाया होगा?

स्त्रियों की भाषा को 'घरेलू भाषा' कहकर आलोचना इसलिए भी किया गया है क्योंकि इसमें भी जेंडर विभेदीकरण आड़े आता है| कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' कहकर उपेक्षा करना, किस मानसिकता का द्योतक है? 1930-40 के दशक आते–आते स्त्रियों की भाषिक संरचना में काफ़ी परिपक्वता आ जाती है| मिसाल के लिए कुछ लेखिकाओं की रचनाओं का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है –

कमला चौधरी – "मैं भ्रम में था| जिसे अब-तक स्वप्न समझा था, वास्तव में हकीकत थी, और जिसे हकीकत समझी थी, वही स्वप्न था| मुझे अपने मार्ग का दिग्दर्शन अब हुआ| मैं जाता हूँ और आश्रम का भार तुम दोनों पर छोड़ता हूँ| तुम सुरीला से विवाह कर लो, तुम्हारा कल्याण होगा| मानुषिक प्रेम द्वारा ही तुम्हें दिव्य प्रेम का परिचय मिलेगा| प्रवृतियों के दमन करने से नहीं, बल्कि उन्हें आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित करने से ही वास्तविक शक्ति की प्राप्ति होगी"[315]

हीरादेवी चतुर्वेदी –"नीलम- लेकिन विवाह का जहाँ तक सम्बन्ध है, इन सारी बातों का पता दो-एक दिन में लगा लेना सम्भव नहीं, राकेश बाबू! जिस प्रकार लड़का स्वयं लड़की को देखकर अपना निर्णय देता है, उसी प्रकार लड़की का निर्णय भी अभिभावकों को लेना चाहिए| लड़की से भी यह पूछना चाहिए कि जिस लड़के ने उसके रूप-सौन्दर्य का मोल-तोल किया है उसका भी रूप-रंग और आचरण लड़की को पसंद है या नहीं|"[316]

शिवरानी देवी (प्रेमचंद घर में) – "वे हंस कर बोले– 'अब तो मैंने आपको मालिक बना दिया|' 'मुझे मालिक बना दिया| एक की मिट्टी- पलीद कर दी| जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा

[315] कमला चौधरी, (स्वप्न) पिकनिक, सरस्वती प्रेस, बनारस, संस्करण 1939, पृष्ठ 15

[316] हीरादेवी चतुर्वेदी, (अदृश्य दीवार) रंगीन पर्दा,(एकांकी संग्रह) इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1952, पृष्ठ 103

होती है| जिसे मैं बुरा समझती हूँ, वह हमारे ही यहाँ हो और हमारे हाथों हो| मैं स्वयं तकलीफ सहने को तैयार हूँ; परन्तु स्त्री जाति की तकलीफ मैं नहीं देख सकती| उस का प्रायश्चित शायद मुझे भी करना पड़ेगा; हालांकि मैं बेगुनाह हूँ| मेरे पिता को मालूम होता तो आपके साथ मेरी शादी हर्गिज न करते|"[317]

5.4 पुरुष और स्त्री की भाषा में पृथकता का सवाल -

क्या स्त्री और पुरुष की भाषा अलग-अलग होती है? इस सम्बन्ध में जगदीश्वर चतुर्वेदी ने डी केमरून और रोविन लेकाफ़ के हवाले से लिखा है :

"डी. केमरून ने "फेमिनिज्म एंड लिंग्विस्टिक' (1985) एवं 'दि फेमिनिस्ट क्रिटिक आफ़ लैग्वेज ए रीडर' (संपादित) में रेखांकित किया है कि स्त्री भाषा में पुरुषों की भाषा की तुलना में विचलन दिखाई देती है| स्त्रियाँ उन शब्दों का प्रयोग करती है जो मर्द नहीं करते|"[318]

"रोविन लेकाफ़ ने 'लैंग्वेज एंड वुमेन्स प्लेस' (1975) और डाली स्पेंडर ने 'मैन- मेड लैंग्वेज' (1980) में ;लिखा है कि स्त्रियों की भाषा स्वतंत्र होती है| वे मर्दों से भिन्न भाषा बोलती है| स्त्री एवं पुरुष भाषा का फर्क शक्ति के आधार पर होता है| स्त्री और पुरुष की शक्ति के अंतर से इसका गहरा सम्बन्ध है|"[319]

-स्त्री की बोलचाल की भाषा में पुरुषों की तुलना में ज्यादा झिझक, धाराप्रवाह का अभाव, कम से कम तार्किक और कम से कम स्वग्रही होती है| स्त्रियाँ अमूमन पुरुषों की तुलना में ज्यादा खामोश, कम से कम दखलंदाजी करने वाली, ज्यादातर इशारों की भाषा में बोलने वाली, और पुरुषों से ज्यादा क्रियाओं का प्रयोग करती है, बातचीत में प्रतिस्पर्धा की बजाय सहयोग की रणनीति पर जोर देती है|"[320]

---

[317] शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में (जीवनी) आत्माराम एंड संस, दिल्ली 2006, पृष्ठ 26

[318] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्र.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ 270

[319] वही, पृष्ठ 270

[320] वही , पृष्ठ 270

स्त्री और पुरुष की भाषा में पृथकता का जहाँ तक सवाल है, तो रचना के स्तर पर प्रत्येक साहित्यकार की भाषा अलग-अलग हो सकती है| स्त्री और पुरुष की भाषा में पृथकता तो अलग बात है, रचना के स्तर पर पुरुष-पुरुष की भाषा में अलगाव रेखांकित किया जा सकता है| क्या जिस तरह की भाषिक संरचना प्रेमचंद के उपन्यासों की है, वही भाषिक संरचना प्रसाद निराला या हजारीप्रसाद द्ववेदी की भी है? क्या जैनेन्द्र की भाषा और अज्ञेय की भाषा को एक जैसा कहा जा सकता है? फिर स्त्री और पुरुष की भाषा को अलग-अलग मानने का आधार क्या हो सकता है? भाषा का जो स्वरूप उस दौर के पुरुष लेखकों में पाया जाता है क्या वही भाषिक संरचना शिवरानी देवी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा इत्यादि लेखिकाओं में दिखाई देता है? व्यक्ति-व्यक्ति के आधार पर भाषा का स्वरूप पृथक हो सकता है |

स्त्री और पुरुष की भाषा के पृथक होने का सवाल जेंडर असमानता के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और इसी के आधार पर स्त्री और पुरुष की भाषा की पृथकता के सवाल का मूल्यांकन किया जा सकता है| सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक रूप से स्त्री और पुरुष के बीच गहरी खाई है पुरुष जहाँ शक्ति का केंद्र होता है, स्त्री शक्ति विहीन होती है| पुरुष का क्षेत्र विस्तृत और व्यापक होता है और स्त्री का दायरा बहुत ही सीमित| ऐसी स्थिति में एक स्त्री जब लिखना शुरू करती है तो, जाहिर है कि उसके लेखन में शब्दों और वाक्यों का सीमित रूप देखने को मिले|

दूसरी, जेंडर विभेदीकरण के आधार पर स्त्री और पुरुष की भाषिक संरचना में अलगाव वहाँ देखने को मिलता है जब स्त्री और पुरुष के बीच बराबरी का सवाल आता है| हमारा समाज पितृसत्तात्मक समाज है| यहाँ पुरुष वर्चस्व की स्थिति में और स्त्री अधीनता की स्थिति में होती है|पराधीन व्यक्तियों के प्रति जिस तरह उपेक्षापूर्ण शब्दों घृणास्पद वाक्यों. मुहावरों, कहावतों इत्यादि का प्रयोग होता है, स्त्री के प्रति भी तिरस्कारपूर्ण और लिंगीय पूर्वाग्रह से ग्रसित भाषा का प्रयोग किया जाता है|

स्त्री जब एक लेखिका के रूप मे लेखन कार्य से जुड़ती है तो, उसे भाषा के स्तर पर एक नयी भाषा की जरूरत पड़ती है, जो लिंगीय पूर्वाग्रह से ग्रसित न हो लेकिन यह सम्भव नहीं हो

पाता, क्योंकि उसकी भाषा में भी शब्दों इत्यादि का प्रयोग उसी परिप्रेक्ष्य में होता है, जिस परिप्रेक्ष्य में पुरुष लेखन में किया जाता रहा है, क्योंकि भाषा भी वर्चस्ववादी और शासित वर्ग के मुताबिक ही गढ़ा गया है| आज के नारीवादी लेखन में भाषा के इस स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है|

रचना के स्तर पर स्त्री और पुरुष की भाषा में अंतर संवेदना के आधार पर भी देखा जा सकता है| स्त्रियों की समस्याओं को आधार बनाकर जब कोई रचना की जाती है या सामान्य रचना में भी स्त्रियों के सन्दर्भ में पुरुष साहित्यकार की भाषा उनकी तकलीफों उनके प्रति हो रही ज्यादतियों से वो तादतम्य नहीं स्थापित कर पाते है ,जो एक स्त्री रचनाकार की भाषिक संरचना में देखने को मिलता है| स्त्री और पुरुष के बीच समानता को आधार बनाकर कोई पुरुष रचनाकार रचना का निर्माण करता है तो उसकी रचना में स्त्री-पुरुष की समानता की बात 'लेकिन' 'परन्तु' के साथ आता है लेकिन स्त्रियों की रचनाओं में अक्सर तादतम्यपूर्ण भाषा का प्रयोग किया जाता है|

रचना के स्तर पर स्त्री-पुरुष की भाषा में जहाँ तक तार्किकता का सवाल है तो इसका निर्धारण गलत और सही के आधार पर किया जाना चाहिए| किसी रचना को विशेषरूप से साहित्य का मतलब तभी फलीभूत हो सकता है जब रचना मानवीय आधार पर किसी भी व्यक्ति को इन्सान के रूप में प्रतिष्टित करती हो| मिसाल के लिए हम बौद्ध साहित्य और ब्राह्मण ग्रंथो की भाषा का मूल्यांकन का आधार क्या बना सकते है? बौद्ध भिक्षुणियों और भिक्षुओं की कविताओं के भाषिक संरचना के मूल्यांकन का आधार क्या होना चाहिए? तुलसी की भाषा ज्यादा संगठित वाक्य विन्यास ज्यादा गठे हुए है और कबीर की भाषा उनकी अपेक्षा कोमल और आकर्षण नहीं है, इसका मूल्यांकन का आधार क्या है? स्त्रियों के सन्दर्भ में प्रेमचंद की भाषा ज्यादा सही है या महादेवी और शिवरानी देवी की?

मिसाल के लिए नीचे दो उदाहरण दिया जा रहा है| एक पुरुष लेखक का मातृत्व सम्बन्धी विचार है और एक स्त्री लेखिका का मातृत्व सम्बन्धी विचार है| विचारों के साथ भाषिक संरचना का स्वरूप भी अपना आकर ग्रहण करता है -

"अब तुम मुझे कैसे खिलाती हो? स्त्री में स्त्रीत्व भी नहीं; बल्कि मातृत्व भी होना चाहिए| जब तक वो भाव न हो, तब तक किसी से प्यार,पालन कुछ भी सम्भव नहीं|"[321]

"स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में हो सकती है, परन्तु यह कर्तव्य उसे अपनी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों के तोल कर स्वेच्छा से स्वीकार करना चाहिए, परवश होकर नहीं| कोई अन्य मार्ग न होने पर बाध्य होकर जो स्वीकार किया जाता है वह कर्तव्य नहीं कहा जा सकता है|"[322]

इन दोनों ही उदाहरणों में मातृत्व के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किया गया है, यहाँ भाषिक संरचना विचारों के आधार पर अपना स्वरूप ग्रहण करती हुई नजर आती है|

स्त्री और पुरुष की भाषा की प्रकृति परिस्थितियों और परिप्रेक्ष्य के आधार पर भी बदलती रहती है| रचनाकार का दृष्टिकोण भाषिक सौन्दर्य को विशेषरूप से प्रभावित करता है| कभी-कभी सजावट का समान एक ही होता है लेकिन सजाने के तरीके बदल जाता है| सजाने का मानदंड रचनाकार की विचारशीलता और उसकी स्थिति के आधार पर भी तय होता है| किसी का मन बेहद शांत है और कोई सामाजिक बुराइयों को देखकर बेहद खिन्न और दुखी है| ऐसी स्थिति में भाषिक संरचना किस तरह की हो सकती है| इसका सबसे बड़ा उदाहरण तुलसी और कबीर की भाषिक संरचना है| स्त्रियों के सन्दर्भ में भी यह बात काफी हद तक लागू होती है|

जगदीश्वर चतुर्वेदी ने केमरोन के हवाले से यह लिखा है कि :

"केमरोन ने मेडागास्कर के पुरुषों की भाषा का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मर्द संकीर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं| इनके यहाँ संकीर्णतावादी नजरिए को कौशल के साथ सकारात्मक गुण में बदल दिया जाता है|"[323]

---

321 शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में (जीवनी) आत्माराम एंड संस, दिल्ली 2006, पृष्ठ 24

322 महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 1995, पृष्ठ 68

323 जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्र.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ 271

केमरोन के मेडागास्कर पुरुषों की भाषा सम्बन्धी विचारों के हिंदी साहित्यकारों की भाषा पर भी लागू किया जा सकता है| जातिय और लिंगीय भेदभाव के कारण पुरुष रचनाकारों की स्त्री सम्बन्धी विचारों में संकीर्णता देखी जा सकती है| उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के दौरान जब स्त्रियों की अच्छाई- बुराई और उनकी समस्याओं का विश्लेष्ण किया जा रहा था, उस समय स्त्रियों को स्वतन्त्रता देने के मामले में पुरुष समाज सुधारक संकीर्णता से काम ले रहे थे| उस दौर में 'मातृत्व' और स्त्रैण भूमिकाओं की जिस तरह से व्याख्या की गयी है, उसमें संकीर्णता के स्वर को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है| पुरुष रचनाकारों ने स्त्रियों की अधीनता सम्बन्धी मूल्यों का इस तरह से व्याख्यातित किया है कि यह प्रमाणित करना कठिन हो जाता है की पुरुष स्त्रियों का उद्धार करना चाहते है या कि परम्परागत मूल्यों में बंधना उनका लक्ष्य था| मातृत्व वैधव्य और स्त्रीत्व का पुरुष रचनाकारों ने जिस तरह से महिमामंडन किया है, उसने स्त्री को स्वतंत्र करने की बजाय अधीनता को ही मजबूती प्रदान किया है| स्त्रियों की समस्याओं में सुधार करने के लिए सीता, सावित्री इत्यादि मिथकीय स्त्री पात्रों के आदर्शों का उदाहरण दिया जाना भी पुरुषों के संकीर्णतावादी विचार को ही प्रदर्शित करता है जिसे बड़ी कुशलता से प्रयोग में लाया गया है| देवी की अवधारणा भी इसी मानसिकता को दर्शाता है जिसे बड़ी कुशलता के साथ प्रयोग करके स्त्रियों की अधीनता को ही मजबूत किया गया है| अतिनैतिकतावादी और आदर्शवादी भाषिक संरचना इस दौर की रचनाओं की विशेषता है|

स्त्रियाँ भी नैतिकतावादी और आदर्श भाषा का प्रयोग करती है लेकिन उनकी भाषी संरचना में संकीर्णता का नहीं बल्कि स्त्रियों की समस्याओं को लेकर आत्मीयता, सहानुभूती, करुणा और क्रोध का मिला-जुला स्वर सुनाई देता है|

5.5 शैलीगत नवीनता और स्त्रियों की भाषा :

जगदीश्वर चतुर्वेदी ने मेरी हाइट के हवाले से यह लिखा हैं कि –

“स्त्रियाँ जब भाषा में शैलीगत नवीनता लाने की कोशिश करती है तो, पुरुषों की तुलना में ज्यादा संकीर्ण होती है|”[324]

अपने शुरूआती दौर में स्त्रियों ने कहानी और विशेषरूप से उपन्यास विधा को लेखन के लिए अपनाया| लेखिकाओं ने उपन्यास विधा को क्यों अपनाया; इसका क्या कारण हो सकता है, इस सम्बन्ध में वर्जिनिया वुल्फ ने अपनी किताब ‘अपना कमरा’ में लिखा है कि :

“अब हम उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत पर आ पहुँचे है; और पहली बार मुझे दिखाई दे रहा है कि कई आलमारियां पूरी की पूरी औरतों की रचनाओं से भरी हुई है| लेकिन उन पर निगाह दौड़ते हुए मैं यह पूछने से अपने आप को रोक न सकी कि कुछेक अपवादों को छोड़कर वे सब उपन्यास क्यों है?... जब उन्होंने लिखा तो उपन्यास लिखने के लिए मजबूर हो गई| क्या इसका कोई सम्बन्ध उनकी मध्यवर्गीय पैदाइस से है, मैंने पूछा; और इस तथ्य से; जिसे मिस एमिली डेविस ने कुछ दिनों बाद प्रमुखता से उजागर किया, कि उन्नीसवी शताब्दी के शुरू में किसी मध्यवर्गीय परिवार में सबके लिए एक अकेली बैठक हुआ करती थी? अगर कोई औरत लिखती तो उसे सबकी साझा बैठक में ही लिखना पड़ता| और जैसा कि मिस नाइटिंगेल ने इतना जोर दे कर लिखा,- औरतों को कभी आधा घंटा भी नहीं मिलता... जिसे वे अपना कह सके’- वहां भी उसे हमेशा विघ्न-बाधा पहुचती रहती, फिर भी वहाँ बैठकर गद्य और कथा- साहित्य लिखना ज्यादा आसान थी बनिस्पत कविता या नाटक लिखने के| इसमें ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत होती है|”[325]

---

[324] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्र.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ 271

[325] वर्जिनिया वुल्फ, ए रूम आफ वंस ओन, (अपना कमरा), (अनुवाद) गोपाल प्रधान,संस्करण फरवरी 2008, पृष्ठ 72

जिस तरह से पश्चिम में शुरूआती उन्नीसवीं शताब्दी की महिलाएं उपन्यास, कथा–साहित्य को अपने लेखन की विधा के रूप में अपनाती है, भारतीय स्त्रियाँ भी जब गद्य में लिखना शुरू करती है तो, कथा-साहित्य की विधा ही ज्यादा अपनाती| हालांकि अन्य विधाओं में भी लिखती है लेकिन कथा-साहित्य की संख्या ही ज्यादा है| हिंदी की लेखिकाओं द्वारा कथा-साहित्य ज्यादा लिखे जाने को किस तरह से देखा जाये?

जैसा कि यह जाहिर है कि औपनिवेशिक भारत में एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में महिला-प्रश्न का जन्म हुआ| हिंदी में 1920 के दशक में आते-आते भारी संख्या में महिलाएं लेखकीय क्षेत्र में आ चुकी थी| 20 के दशक में ही स्वतन्त्रता आन्दोलन के जरिये महिलाओं को सार्वजनिक-क्षेत्र में आने का अवसर मिलता है| जहा तक महिलाओं के लेखकीय कर्म का प्रश्न है तो, लगभग सभी महिलाएं स्वतंत्र रूप से लेखकीय कर्म में नहीं व्यस्त थी| उनके लिए यह सम्भव भी नहीं था| उनको एक साथ दोहरी-तीहरी भूमिकाओं को निभाना पड़ता था| उन्हें घर का काम सुचारू रूप से करना था, तो बच्चों की देखभाल भी विशेषरूप से करने की जिम्मेदारी थी| 'मातृत्व का महिमामंडन ने स्त्रियों को बच्चों की परवरिश को लेकर उन्हें विशेषरूप से चौकन्ना कर दिया था| स्वतंत्रता आन्दोलन में भी उन्हें हिस्सा लेना था तो स्त्रियों की समस्याओं पर भी आवाज उठानी थी| इस तरह से एक साथ कई मोर्चों और भूमिकाओं को स्त्रियों को निभाना पड़ता था| इन सारी भूमिकाओं को निभाने की उन पर नैतिक जिम्मेदारी भी थी| इन सब के साथ ही वह अपने लेखन का कार्य कर सकती थी| ऐसी स्थिति में लेखकीय कर्म को सुचारी रूप से करना और उसके लिए ज्यादा से ज्यादा समय निकल पाना उनके लिए सम्भव नहीं था| शायद इन सारी परिस्थितियों में उनके लिए कथा-साहित्य लिखना ज्यादा आसान था| महादेवी वर्मा जैसी कुछेक महिललाएं ही लेखकीय कर्म के प्रति अपने आप को पूरी तरह से समर्पित कर पाती है| शायद इसी कारण जितनी विविधता महादेवी वर्मा के लेखन में मिलता है, और लेखिकाओं में उसका अभाव है|

5.6 आत्मकथात्मक शैली और स्त्रियाँ :

जिस तरह से स्त्रियों ने ज्यादातर कथा-साहित्य को अपने लेखकीय कर्म के लिए अपनाया उसी तरह से आत्मकथात्मक शैली भी इनकी लेखन की विशेषता मानी जा सकती है| इस दौर की लेखिकाओं ने आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग इतनी प्रमुखता से क्यों किया? आत्मकथात्मक शैली की विशेषता को बताते हुए प्रो. गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास की संरचना' में लिखते हैं कि –

"उपन्यास में निर्वैक्तिक 'कथन' के स्थानपर 'मैं' को प्रतिस्थापित करके कथा को नाटकीय प्रभाव से युक्त करने की प्रविधि का अपना महत्व है, पर पर मैं यदि औपन्यासिक पात्र के स्थान पर उपन्यासकार का ही पर्याय बन जाए तो कथा में नाटकीयता के साथ-साथ आत्मीयता और विश्वसनीयता का एक और आयाम जुड़ जाता है| उपन्यास में 'आत्मकथा' के प्रयोग का प्रथम प्रयोग, हिंदी में, भारतेंदु हरिश्चंद ने 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' (1876) में किया था|"[326]

लेखिकाओं ने 'आत्मकथात्मक शैली' का प्रयोग औपन्यासिक पात्र के रूप में तो किया ही है, लेखिकाएं भी 'मैं' के रूप में वहाँ उपस्थित रहती है| स्त्री-लेखन के सन्दर्भ में 'मैं' प्रविधि के प्रयोग के क्या मायने हो सकता है? स्त्रियों की समस्याओं के सन्दर्भ में आत्मीयता और विश्वसनीयता स्त्री समस्याओं का आधारभूत अंग है| हिंदी में पहली बार महिलाएं स्त्रियों की समस्याओं को, उनकी आकांक्षाओं और भावनाओं को वाणी दे रही थी| स्त्रियों की समस्याएं कोई कल्पना की उपज नहीं था बल्कि वास्तविक और विश्वसनीय था| स्त्रियों की समस्याओं के साथ लेखक ही नहीं बल्कि पाठक भी लगाव महसूस कर सके, इसके लिए आत्मकथात्मक शैली बेहद प्रभावशाली होता| पाठक भी स्त्रियों की समस्याओं के साथ भावनात्मक रूप से आसानी से जुड़ सकता था| इसके अलावा स्त्रियों की समस्याएं लेखिकाओं के लिए सिर्फ

[326] गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकहं, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 214

दूसरी स्त्रियों के लिए ही नहीं था बल्कि इन समस्याओं का सम्बन्ध उनसे भी उतना था जितना की अन्य स्त्रियों की समस्याओं के साथ|

जितनी सम्वेदनात्मक गहराई से स्त्रियों की समस्याओं को 'मैं' प्रविधि के जरिये व्यक्त किया जा सकता था, शायद कोई और प्रविधि उतनी प्रभावशाली नहीं हो सकती थी| स्त्री समस्या के सन्दर्भ में लेखिकाओं के लिए 'मैं' प्रविधि का अपनाया जाना शायद इसलिए भी आसान था, ताकि वो सहज रूप से स्त्रियों की भावनाओं को व्यक्त कर सके|

स्त्री-लेखन में मुख्यत: दोनों ही रूपों में 'मैं' प्रविधि का प्रयोग किया गया है| रचना का पात्र स्वयं 'मैं' के रूप में उपस्थित होकर लेखकीय कर्म को आगे बढ़ता है तो लेखिकाएं भी 'मैं' के रूप में रचना में उपस्थित रहती है|

रचना के पात्रों का 'मैं' प्रविधि के रूप में उपस्थित होने का उदहारण -

"मैं अपनी सहस्त्र बाहे बढ़ा दी| एक बात, केवल एक बार उस राजकुँवर को गोद में लेना चाहती थी, उसे हृदय में लगाकर उन रूपगर्विता तरुणियों को दिखाना चाहती थी- उनका रूप इस शिशु के निकट कितना तुच्छ है|"[327]

-"वह मेरा कौन था? यह तो मैं भी नहीं कह सकती, पर कोई था अवश्य, और ऐसा था, मेरे इतने निकट था कि आज वह समाधि में सोया है और मैं बावली की तरह उसके आस-पास फेरी देती हूँ|"[328]

-"वे अब मेरे पास आते तो मुझे ऐसा मालूम होता मानो भींग रहे है| मैं अनुभव करती मानो वे किसी बहाने से शीघ्र से शीघ्र ही यहाँ से भाग जाना चाहते है| उस समय कभी-कभी मुझे अपने नेत्रों को खो देने का भयंकर पश्चाताप होता| कि मेरे आठ नौ वर्ष की सेवा, त्याग और

[327] उषादेवी मित्रा, नीम-चमेली, प्रकाशक : इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, सरस्वती सीरिज 60, पृष्ठ 15
[328] सुभद्राकुमारी चौहान, (उन्मादिनी) सीधे-सादे चित्र, हंस प्रकाशन बनारस 1983, पृष्ठ 160

तपस्या का यह सुन्दर वरदान है जो मेरे पैरों को सहस्त्र सर्पदंश की भांति बारबार स्पर्श कर रहा है| यह थी मेरे पति की नवीन पत्नी- सुरमा!"[329]

लेखिका का 'मैं के रूप में रचना में उपस्थित होने का उदहारण -

-"मुझे ऐसा लगा कि कोई दुष्ट डाकू किसी यात्री की जीभ काट डाले, वह दूसरे यात्रियों को सहायता के लिये पुकारना चाह कर भी पुकार न सके और वेदना से कराह कर सिर्फ मुँह खोले खड़ा रह जाय|"[330]

-"मैं सोचने लगी कि पराधीनता और बंधन के बाद थोड़ी सी नाम की स्वाधीनता भी कितनी मधुर है| फिर सचमुच वह दिन भारत के इतिहास में कितना उज्ज्वल होगा जिस दिन सदियों की गुलामी के बाद भारत के वायुमंडल में स्वाधीनता का प्रथम-प्रभात चमकेगा"[331]

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' चंद्रवती ऋषभसैन जैन की भाषा शैली के बारे में, जो इस दौर की अधिकांश लेखिकाओं के सन्दर्भ में मुनासिब होगा, लिखते हैं कि –

"उन की शैली की एक विशेषता, जिस ने मुझे प्रभावित किया, यह है कि उस में कहीं कृत्रिमता नहीं है, निर्झर के निर्मल प्रभाव की भांति, वे जो कुछ मन में है, उसे कह देती है, कहती चली जाती हैं| अपनी भावना के लिए, उन्हें भाषा, उपमा, जोर, सुन्दरता या दूसरा कुछ भी 'गढ़ना' नहीं पड़ता, तन्मयता की 'मूड' में उसका उद्गम होता रहता है और वे सिर्फ सँभाल कर उसे कागज़ पर ले लेती है|"[332]

रचनाओं में वास्तविक घटनाक्रमों का लेखन के रूप में आकर देना, सहज-सरल रूप में अपनी भावनाओं और विचारों को लिख देना शायद जीवन की सच्चाइयों से ही आ सकता है, जिसे

---

[329] रामेश्वरी देवी, (आँखों का कौतुक) धुप-छाँव, प्रकाशक : अवध-पब्लिशिं ग हाउस् लखनऊ, संस्करण 1943, पृष्ठ 74-76

[330] चन्द्रवती ऋषभ सैन, (अज्ज्नहारी) जैन, नींव का ईट, जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) संस्करण अगस्त 1942 पृष्ठ 42

[331] उर्मिला शास्त्री, कारागार, (संस्मरण) प्रकाशक : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम साहित्य अकादमी संस्करण 1998, (प्रथम संस्करण 1931) पृष्ठ 65

[332] चन्द्रवती ऋषभ सैन, जैन, नींव का ईट, जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) संस्करण अगस्त 1942 पृष्ठ 24

लेखिकाओं की रचनाओं में देखा जा सकता है| चंद्रवती ऋषभसैन जैन अपनी रचना के बारे में, जो उस दौर की लेखिकाओं की विशेषता मानी जा सकती है, लिखती हैं कि –

"इन कहानियों में कल्पना के करिश्मों का अभाव है| ये सब मेरे या मेरे साथियों के जीवन की घटनाएँ हैं| इसके पात्र मेरी 'सृष्टि' नहीं है, मेरे 'कामरेड' है| वे मेरे साथ हँसे. खेले और रोये और मैं उन में और वे मुझ में बराबर डूबे रहे| लिखते समय मुझे कभी नहीं लगा कि मैं लिख रही हूँ| सदलसिंह से मैंने बाते की, चंचल से चुहल और अंजनहरी , ललिता एवं झींकती के साथ मैं रोई|"[333]

रचनाओं में जो समस्याएं है, वह पाठक को घटनाओं के बारे में विश्वसनीयता का विश्वास दिलाता है| पात्रों के साथ जिस तरह की आत्मीयता है, उनके सुख-दुःख को अनुभव करने का जो लेखिकाओं में एहसास है, यह उस दौर की अधिकांश लेखिकाओं के सन्दर्भ में लागू होता है| लेखिकाएं अपने पात्रों के साथ, उनके सुख-दुःख में समान की साझीदार है- 'लेखिका सम्पूर्ण वातावरण में अपने पात्रों के साथ रही है- झिलमिल झांकी के रूप में नहीं, साक्षात् कहानी–लेखिका के रूप में, दृढ़ पहरेदार–सी'[334]

स्त्रीवादी कथा-लेखन की एक और विशेषता के बारे में सुधा सिंह का कहना हैं कि-

"स्त्रीवादी कथा-लेखन के विश्लेषण के कर्म में जो अन्य चीज ध्यान में आती है वह यह कि स्त्रीवादी कथा-लेखन मुलत: वर्णात्मक है| विशेषत: आरम्भिक स्त्री-लेखन| बार्थ ने वर्णात्मक कथा संरचना के बारे में लिखा है, 'वर्णात्मक कथा की मुख्य परतों को क्रमबध्यता और परिणाम के बीच की संदेहात्मकता में देखा जा सकता है|

[333] वही, पृष्ठ 6

[334] कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' वही, पृष्ठ 14

वर्णात्मकम आख्यानपरक कथानक संरचना हमारे समाज का सबसे बड़ा चिन्ह शास्त्रीय अभ्यास है| संरचनाओं के समुन्द्र में यह अर्थ की तलाश है|"[335]

धीरेन्द्र वर्मा ने रामेश्वरी देवी 'चकोरी' की रचनाओं की शैली की विशेषता बताते हुए लिखा हैं कि-

"शैली की सजीवता तथा प्रवाह इनको और भी अधिक रोचक तथा हृदयग्राही बना देता है| कथोपकथन की शैली में कहानी लिखने में तो लेखिका सिद्धहस्त थी| इस शैली पर ऐसा अधिकार हिंदी के बड़े कहानी लेखकों की रचनाओं में भी बहुत कम देखने को मिलता है|"[336]

'मैं' की उपस्थिति लेखिका की उपस्थिति के साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों का नाटकीय और बिम्बात्मक दृश्य की भूमिका काफी दर्शनीय है| जो तादतम्य भाव, आत्मीयता का एहसास महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक और रेखाचित्र रचनाओं के पात्रों के साथ देखा जा सकता है, शायद ही कोई हिंदी का रचनाकार उस तरह की आत्मीयता और तद्त्म्यता का अनुभव अपने पात्रों के साथ करता हो|'[337]

5.7 जाति और वर्ग के आधार पर भाषा का प्रयोग-

लिंग के आधार पर स्त्री-पुरुष की भाषिक संरचना में अगर भिन्नता होती है तो, जाति और वर्ग के आधार पर भी भाषिक संरचना में भिन्नता पायी जाती है| उच्च वर्ग जिस तरह की भाषा का प्रयोग करता है, उस तरह की भाषा का प्रयोग निम्न वर्ग नहीं करता| रचना के स्तर पर भी यह भेद देखा जा सकता है| एक रचनाकार जब उच्च वर्ग के पात्रों की तरफ से भाषा का प्रयोग करता है और निम्न वर्ग, अशिक्षित पात्रों की तरफ से और उनके प्रति भाषा का प्रयोग करता है तो, उसकी भाषिक संरचना एक समान नहीं होती है| मिसाल के लिए –

[335] सुधा सिंह ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, प्रकाशक: ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृष्ठ 66
[336] रामेश्वरी देवी, धूप-छाँव, प्रकाशक: अवध-पब्लिशिंग्हाउस, लखनऊ, संस्करण 1943 (धीरेन्द्र वर्मा, परिचय)
[337] गोपाल राय, उपन्यास की संरचना,

"क्यों रे, तू उसे मरता क्यों है? तू आदमी है या भेदिया? उठा अपना समान और मेरा कार्टर खाली कर, पाजी कही का!

बहु जी, वह बड़ी सुअर है| रोज मेरे बाप को तंग करती है| दुखी होकर मेरा हाथ उठता है!"[338]

यहाँ नौकर के प्रति जिस की भाषा और लहजे का प्रयोग किया गया है और मालकिन के प्रति जिस भाषा और लहजे का प्रयोग किया गया है, दोनों में अंतर देखा जा सकता है| एक पर तिरस्कार का स्वर है तो दूसरे में सम्मान का|

-"नीला- क्या करूँ, बेटी! दूसरों की नौकरी जो ठहरी! देर-अबेर होती ही रहती है (देहरी के समीप बैठते हुए) सो भी आज अभी छुट्टी थोड़े ही मिली है"[339]

इस तरह भाषा सिर्फ आपस में बात करने का ही जरिया नहीं होता| बल्कि भाषा के लहजे से इन्सान के भावों को भी अच्छी तरह से समझा जा सकता है| किसके प्रति क्या भावना है, इसका अंदाजा भाषा के आधार पर लगाया जा सकता है| रचना के स्तर पर भी रचनाकार की भावना का अंदाजा उसकी भाषिक संरचना के जरिये लगाया जा सकता है| भाषा व्यक्ति के सामाजिक हैसियत के आधार पर भी अपना स्वरूप ग्रहण करती है|

---

[338] चन्द्रवती ऋषभ सैन जैन, (जंगू की बात) नींव की ईट, प्रकाशक : जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर, यू. पी., संस्करण अगस्त 1941, पृष्ठ 162

[339] हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा (एकांकी संग्रह), प्रकाशक : इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्राग संस्करण 1952, पृष्ठ 71-72

उपसंहार

औपनिवेशिक भारत में, समाज सुधार के सन्दर्भ में जब भारतीय बुद्धिजीवियों और समाज सुधारकों के नेतृत्व में स्त्री- को प्रमुखता से उठाया गया, उस समय स्त्री की व्याख्या एक आदर्श के रूप में की गयी| उस दौर में सामाजिक समस्याओं का समाधान आदर्श में ढूंढा जा रहा था| स्त्रियों की यथार्थ समस्याओं का समाधान भी प्रतीकात्मक आदर्शों के द्वारा करने की कोशिश की जा रही थी| लेकिन कुछ समस्याएं ऐसी थी, जिसका समाधान मात्र प्रतीकात्मक आदर्श के द्वारा ही नहीं किया जा सकता था| जैसे-जैसे स्त्री-प्रश्न पर विचार-विमर्श का दायरा बढ़ता गया, स्त्रियों की समस्याओं का कनूनी समाधान भी खोजा जाने लगा| उस दौर में उठाये गये स्त्री-प्रश्नों- सती-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह, बाल विवाह, वेश्या उन्मूलन, स्त्री-शिक्षा इत्यादि के सम्बन्ध में धार्मिक समाधान खोजने की कोशिश जारी रही, साथ ही क़ानून के द्वारा भी इन समस्याओं को रोकने का प्रयास किया जाता रहा| स्त्रियों की समस्याओं के सन्दर्भ में जो भी क़ानून बनाया जा रहा था, उसे विशेष रूप से धार्मिक ग्रंथों के आधार पर प्रमाणित किया जा रहा था|

परम्परावादी सुधारक महिलाओं के संदर्भ में क़ानूनी सुधार के पक्ष में नहीं थे| समाज सुधारक भी कहीं न कहीं धार्मिक परम्पराओं को चुनौती नहीं देना चाहते थे, विशेषरूप से स्त्रियों की समस्याओं के सन्दर्भ में| सती प्रथा को हटाने का सवाल हो, विधवा पुर्विवाह को लागू करने, बाल-विवाह को रोकने या स्त्री को शिक्षित करने का सवाल, स्त्रियों से सम्बन्धित जो भी सवाल उठाये गए थे, उनमें सुधार और समाधान की गुंजाइस उतनी ही रहती थी, जिससे के भारतीय धार्मिक-सामाजिक नियम-कायदे और परम्परागत पितृसत्तात्मक मूल्यों पर उसका असर नहीं पड़ता हो| सुधार के इस स्वरुप ने समाज सुधारकों के विचारों में अंतर्विरोध तो पैदा किया ही, स्त्रियों की समस्याओं के मूलस्वरूप को समझने में रुकावट भी लाया|

समाज सुधारकों ने स्त्रियों की समस्याओं को कभी भी स्त्रियों को केंद्र में रखकर सोचने-समझने और उसमें समाधान करने की कोशिश नहीं की| इस सुधार-आन्दोलन में स्त्रियाँ उनके यहाँ हमेशा 'अन्या' की स्थिति में ही रहीं| ऐसी स्थिति में स्त्रियों की समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित जो भी क़ानूनी उपाय किये गए, सामाजिक और व्यावहारिक रूप से उसकी सफलता संदिग्ध ही रही| सती प्रथा का सवाल हो, विधवा पुनर्विवाह का सवाल हो, बाल विवाह और वेश्योद्धार का सवाल हो, क़ानूनी रूप से इसे संतोषजनक सफलता नहीं मिल पाता है|

सती प्रथा को भारतीय स्त्रियों की महानता को दर्शाने के लिए, विशेष रूप से स्त्रियों को नियंत्रित करने के लिए महिमामंडित किया गया, तो विधवा-पुनर्विवाह को स्त्री की यौनिक शुद्धता के आधार पर लागू करने पर जोर दिया गया| यहां पर विधवा-पुनर्विवाह का मतलब किसी स्त्री के पति के मर जाने के बाद धार्मिक और व्यावहारिक रूप से दूसरी शादी करने से नहीं रह गया था, बल्कि क्षत योनि विधवा और अक्षत योनि विधवा-पुनर्विवाह से, प्रत्यक्ष और अप्रत्क्ष रूप से सम्बन्धित था| ऐसी स्थिति में विधवा विवाह आशातीत रूप से सफल नहीं हो पाया|

स्त्री-प्रश्न की सफलता की स्थिति चाहे जो भी हो, एक बात जो साफ थी वह यह कि सामाजिक-धार्मिक समस्याओं को स्त्रियों की समस्याओं के साथ जोड़ कर देखा जा रहा था, जिससे स्त्रियों की समस्याओं पर विचार-विमर्श की स्थिति बनी रही| जमीनी हकीकत चाहे जो भी हो स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में एक वैचारिक स्त्री विमर्श को शुरुआत हो चुकी थी| समाज सुधारकों ने स्त्री-प्रश्न को यदि इसलिए उठाया कि इससे भारतीय 'सभ्यता' और 'संस्कृति' पर लगे धब्बे को साफ कर दिया जाय, तो स्त्रियों ने स्त्री-प्रश्न को अपनी बेहतरी के सन्दर्भ में परिभाषित किया| पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्री-प्रश्न को राष्ट्र की बेहतरी; स्त्री-शिक्षा को घरेलूकरण करने और बच्चों की अच्छी परवरिश के सन्दर्भ में परिभाषित किया, तो महिला आन्दोलन की नेत्रियों और लेखिकाओं ने स्त्री-प्रश्न; स्त्री-शिक्षा को अपनी बेहतरी के सन्दर्भ में भी परिभाषित किया|

जहाँ तक राष्ट्रवाद के युग में महिला प्रश्न के कम होते हुए महत्व का सवाल है, तो यह सवाल हिंदी-क्षेत्र पर लागू नहीं किया जा सकता है| जैसा कि यह जाहिर है कि समाज सुधार आन्दोलन की शुरुआत बंगाल और महाराष्ट्र में पहले हुआ| संयुक्त-प्रांत में तथाकथित नवजागरण की शुरुआत कुछ बाद में शुरू होती है| उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में हिंदी-क्षेत्र में कुछ साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से स्त्री-प्रश्न पर विचार-विमर्श देखने को मिलता है| इन रचनाओं में विशेष रूप से स्त्रियों की शिक्षा का घरेलूकरण और आदर्शीकरण किया गया है| स्त्रियों के सम्बन्ध में इस दौर का नजरिया विशेष रूप से शुद्धतावादी ही रहा| आधुनिक हिंदी के निर्माता कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चन्द्र का स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में जो भी विचार उनके द्वारा संपादित, हिंदी की पहली स्त्री-पत्रिका मानी जाने वाली 'बालाबोधिनी' (1874) में किया गया है वह विशेषरूप से शुद्धतावादी स्वरूप को लिए हुए है| भारतेंदु मंडल के साहित्यकर प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि भी स्त्री-प्रश्न को स्त्री के बुनियादी अधिकारों के सन्दर्भ में नहीं देखते हैं| भारतेंदु हरिश्चन्द्र स्त्रियों की समस्याओं में सुधार नहीं बल्कि एक आदर्श स्त्री-पात्र की रचना करते हैं जो स्त्रैण भूमिकाओं को बगैर विरोध किये पालन करें| इसी दौर में महाराष्ट्र में पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे और उत्तर भारत में 'सीमन्तनी उपदेश' की बेनाम लेखिका ने स्त्रियों की स्त्रैण भूमिकाओं का न केवल विरोध किया बल्कि पुरुषों की स्वार्थपरता पर विरोध भी जताया| समाज सुधारक जब स्त्रियों की समस्याओं में सुधार करने के लिए धार्मिक ग्रन्थों से उदाहरण खोजकर निकल रहे थे ताकि अपने तर्कों को धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध कर सकें, महिला आन्दोलन की नेत्रियाँ धार्मिक ग्रन्थों में स्थापित स्त्रियों की अधीनता पर विरोध जता रही थी|

हिंदी-क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के पहले दशक से ही स्त्रियाँ सार्वजनिक-क्षेत्र में सक्रिय दिखाई देने लगती है| लेकिन 1920 के दशक में, राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौर में महिलाएं सार्वजनिक-क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रिय होने लगती हैं| यह दौर राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का दौर था और हिंदी क्षेत्र में इसी दौर में भारी संख्या में महिलाएं महिला आन्दोलन और लेखन के क्षेत्र से जुड़ती हुई दिखाई देती है| महिला आन्दोलन को वैचारिक और व्यावहारिक

आधार प्रदान करने के लिए इस दौर में अखिल भारतीय स्तर पर महिला संस्थाओं का निर्माण होता है| क्षेत्रीय स्तर पर भी महिला संस्था स्थापित की जाती है| अखिल भारतीय स्तर पर 'सन 1917 में एनी बेसेंट, डोरोथी जिन राज दास, मालती पटवर्धन, अम्मू स्वामीनाथन, श्रीमती दादाभाई एवं श्रीमत अम्बुजम्मल ने मिलकर 'वीमेंस इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की| जहाँ तक इस एसोसिएशन के नारीवादी होने का सवाल है तो राधा कुमार ने अपनी किताब 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' में राजकुमारी अमृत कौर के हवाले से इस बात पर प्रकाश डाला है कि – 'एसोसिएशन के बारे में टिप्पणी करते हुए राजकुमारी अमृत कौर ने सन 1932 में इसे 'भारत में उदित होनेवाले पहले शुद्ध नारीवादी संगठन' की संज्ञा दी|' 1926 में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की स्थापना की गयी| इसकी स्थापना मुख्य रूप से 'शैक्षिक सुधार' को ध्यान में रखकर किया गया था| इस सम्मेलन के जरिये स्त्री-प्रश्न को राजनैतिक और क़ानूनी स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया गया|

राष्ट्रवाद के युग में अखिल भारतीय स्तर पर महिला संस्थाओं को स्थापना की जा रही थी| इस दृष्टि से देखे तो पूरे भारत में महिला-प्रश्न विशेष रूप से चर्चा का विषय बना रहा| ऐसी स्थिति में न केवल हिंदी-क्षेत्र में राष्ट्रवाद के युग में महिलाएं सक्रिय होती है बल्कि भारत के विभिन्न भागों में महिला–नेत्रियों की भागीदारी खासतौर पर देखी जा सकती है| हिंदी के साहित्यिक-क्षेत्र में राजेन्द्र बाला घोष के के बाद, 1920 के दशक में बड़ी संख्या में महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ती हैं| इस दौर में महिलाओं का साहित्यिक लेखन भी काफी संख्या में प्रकाशित होता है| कुछ दशक पहले जहाँ शिक्षित महिला की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, महिलाएं अपनी समस्याओं पर खुद लिखने लगी थीं| हिंदी में महादेवी वर्मा के अलावा भी बहुत-सी लेखिकाएं साहित्यिक पटल पर सक्रिय थीं- सुभद्राकुमारी चौहान सिर्फ कविताएँ ही नहीं लिख रही थी बल्कि कहानियों के जरिये भारतीय स्त्री की आकांक्षाओं को भी वाणी दे रही थी| इन लेखिकाओं में मुन्नी देवी भार्गव, मनोरमा देवी, उषादेवी मित्रा, कमला कुमारी, कमला देवी चौधरी, कुसुमलता, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, चंद्रप्रभा द्विवेदी,

चंद्रवती ऋषभ सैन जैन, तारा, तेजरानी पाठक, श्रीनिर्मला, निर्मला मित्रा, यशोदा देवी, रामेश्वरी देवी 'चकोरी', शिवरानी देवी सुमित्राकुमारी सिन्हा, सत्यवती मलिक, हीरादेवी चतुर्वेदी, होमवती देवी इत्यादि लेखिकाएं हिंदी के साहित्यिक-क्षेत्र में और कुछ लेखिकाएं राजनैतिक क्षेत्र में भी सक्रिय थी| इस दौर में स्त्रियों की समस्याओं पर विशेषरूप से सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया जा रहा था| स्वयं महिलाएं भी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक का कार्यभार देख रही थीं| पत्रिकाओं की संचालिका के रूप में भी सार्वजनिक-क्षेत्र में सक्रिय थी| गृहलक्ष्मी, (1909) स्त्री-दर्पण, (1909) मनोरमा, माधुरी, स्त्री धर्म शिक्षक, महिला सर्वस्व, सुधा, चाँद (1922) इत्यादि पत्रिकाओं का प्रकाशन इसी दौर में होता है| इन पत्रिकाओं में अन्य विषयों के साथ ही स्त्रियोपयोगी लेखों, साहित्यिक रचनाओं इत्यादि प्रकाशित किया जा रहा था|

1920 के दशक में जब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का आगाज होता है, तब गाँधी जी के आह्वान पर सिर्फ पुरुष ही नहीं महिलाएं भी भारी संख्या में स्वतन्त्रता-संग्राम में हिस्सा लेती हैं| 1921-22 का असहयोग आन्दोलन हो, 1930 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन हो या 1942 का 'भारत छोड़ों' आन्दोलन, महिलाएं बड़ी उत्साह से इसमें भाग लेती है| यहाँ तक कि राष्ट्रवादी गतिविधियों में भाग लेने के कारण जेल जाने से भी नहीं डरती| सुभद्राकुमारी चौहान हो, शिवरानी देवी हो या उर्मिलादेवी शास्त्री स्वतन्त्रता-आन्दोलन में बिना कुछ परवाह किए भाग लेती है और जेल भी जाती है|

जाहिर है कि इतनी बड़ी संख्या में साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की हिस्सेदारी को देखते हुए यह मानना असंगत है कि राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न का महत्व कम हो गया था| हाँ यह जरूर था की राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल अहम बना हुआ था| लेकिन यह भी देखना जरूरी है कि जितनी संख्या में महिलाएं इस दौर में विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय दिखाई देती है, शायद यह और परिस्थितियों में सम्भव नहीं हो पाता| दूसरी बात यह कि भले ही राष्ट्रवाद का प्रश्न बेहद अहम मुद्दा बना हुआ था, लेकिन यह भी ध्यान देने की बात है

कि महिला आन्दोलन की नेत्रियाँ और लेखिकाएं राष्ट्रीयता के सवाल को स्त्रियों के बेहतरी के सन्दर्भ में भी परिभाषित कर रही थीं|

दूसरा, राष्ट्रवाद के दौर में महिला-प्रश्न का महत्व कम होने का जहाँ तक सवाल है, तो उन्नीसवीं शताब्दी के दौर में भी, जब महिला प्रश्न अपने सबसे महत्वपूर्ण दौर से गुजर रहा था, तब भी महिला-प्रश्न को समाज सुधारक और साहित्यकार राष्ट्र की बेहतरी के सन्दर्भ में ही परिभाषित कर रहे थे| अपने सबसे महत्वपूर्ण दिनों में भी महिलाओं की समस्याओं में समाधान की स्थिति को तभी स्वीकार किया जा रहा था; उतना ही स्वीकार किया जा रहा था, जितना कि भारतीय परम्परागत समाज के मूल्यों और मान्यताओं तथा पितृसत्तात्मक वर्चस्व प्रभावित नहीं हो रहा था| यह तो स्त्रियाँ थी, जो 1920 के दशक में, जब साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय होती है, तो अपनी समस्याओं को, अपनी भावनाओं को अपने दृष्टिकोण से अभिव्यक्त करती है| वो अपनी समस्याओं में सुधार करने के लिए बुनियादी परिवर्तन के पक्ष में आवाज उठती है और साथ ही पुरुषों की दोहरी मानसिकता पर भी आक्रोश व्यक्त करती है| अगर देखा जाएँ तो सही मायने में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही महिलाओं के नेतृत्व में स्त्री -चेतना और 'नारीवादी' सैद्धांतिकी का विकास होता हुआ दिखाई देता|

उन्नीसवीं सदी के दौरान स्त्री-प्रश्न के नाम पर विशेष रूप से स्त्रैण भूमिकाओं– नारीत्व, मातृत्व इत्यादि का आदर्शीकरण किया जा रहा था| 1920 के दशक में इन भूमिकाओं का आदर्शीकरण बिल्कुल समाप्त तो नहीं हो जाता है, लेकिन यह जरूर होता है कि अब भूमिका आधारित स्त्रैण भूमिकाओं पर सवाल खड़ा किया जाने लगा था| स्त्रियों के लिए स्त्रैण भूमिकाओं से इतर स्वतंत्र भूमिका और स्वतंत्र चुनाव के पक्ष में आवाज उठाई जाने लगी थी| लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि अब स्त्रियों के स्त्रैण भूमिकाओं- नारीत्व और मातृत्व का महिमामंडन नहीं किया जा रहा था| 1930 के दशक में जब काफी संख्या में महिलाएं सार्वजनिक-क्षेत्र में सक्रिय रहने लगी थीं, तब पुरुष समाज सुधारक और नैतिक दबाव की शिकार कुछ लेखिकाएं भी स्त्रैण भूमिकाओं को महिलाओं के लिए जरूरी बता रही थी|

लेकिन फर्क यह था की ये महिलाएं भूमिका आधारित इन कर्तव्यों को स्वेच्छा पर आधारित होने की बात भी स्वीकार कर रही थी| मातृत्व और स्त्रीत्व के जो मायने पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों के लिए था, महिलाओं के लिए इसका सम्बन्ध उनकी बेहतरी से भी जुड़ा हुआ था| जिस तरह से विधवाओं की दयनीय दशा और उनके कष्टपूर्ण जीवन यापन को पुरुष साहित्यकार महिमामंडित कर रहे थे, लेखिकाएं विधवाओं की दयनीयता को महिममंडित न करके उनकी शोचनीय दशा पर अतिसम्वेदनशीलता से विचार कर रही थीं|

राष्ट्रवाद के युग में महिला-प्रश्न के कम होते हुए महत्व को जिस तरह से पार्थ चटर्जी ने परम्परा के मूल्यांकन के सन्दर्भ में परिभाषित किया है, एक पक्ष के रूप में यह बात सही है लेकिन जब बात स्त्री-प्रश्न का हो तो उसे सिर्फ परम्परा के मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही परिभाषित नहीं किया जा सकता है| स्त्रियों के स्त्रैण भूमिकाओं की स्थापना की कोशिश को; राष्ट्रवाद के युग में स्त्री-प्रश्न के कम होते हुए महत्व का समाधान मात्र पश्चिमी और भारतीय सभ्यता के 'श्रेष्ठता' के सन्दर्भ में या पश्चिमी भौतिकता के बरक्स भारतीय आध्यात्मिकता के 'श्रेष्ठता' के दावे के बरक्स ही स्त्री-प्रश्न के समाधान को नहीं खोजा जा सकता है| नारीवादी मूल्यांकन की दृष्टि से तो और भी| इसे पुरुषों के अन्दर बढ़ती हुई असुरक्षा की भावना के बरक्स भी देखने की जरूरत है| 1920 के दशक में और विशेषरूप से 1930 के दशक में स्त्रियाँ सार्वजनिक और साहित्यिक क्षेत्र में सक्रिय रहने लगी थी| जिस तरह से महिला-प्रश्न के शुरूआती दिनों में पुरुष महिलाओं की उद्धारक के रूप में था; महिलाओं की समस्याओं पर पुरुष समाज सुधारक ही विशेषरूप से जब सुधार और उसके उद्धार की बात उठा रहा था, बढ़ते हुए सार्वजनिक और साहित्यिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी से अब स्त्रियाँ भी अपनी समस्याओं, अपनी भावनाओं और अपनी बेहतरी के लिए आवाज उठाने लगी थी| अब पुरुष मात्र उनकी मसीहा की भूमिका में ही नहीं रह गये थे, बल्कि उनके शोषक की भूमिका में भी आ चुके थे| स्त्रियाँ भी अब मात्र शोषित की भूमिका में ही नहीं रह गयी थी बल्कि अपनी समस्याओं और समाज की रुढ़िवादी शक्तियों से खुद भी संघर्ष कर रही थी| बहुत कम ही संख्या में सही, स्त्रियाँ राजनैतिक गतिविधियों में और कुछ स्त्रियाँ राजनैतिक पदों पर भी

कार्यरत थी| इसके साथ ही बढ़ती हुई सम्प्रदायिक शक्तियों की टकराहट ने हिन्दू-मुश्लिम ध्रुवीकरण की राजनीति को हवा दी, जिससे परम्परावादियों और सुधारवादियों में भी असुरक्षा की भावना का विकास होता है| इन सारी परिस्थितियों में पुरुषों के पारम्परिक अधिकारों में भी हस्तक्षेप हो रहा था|

स्त्री-प्रश्न के आरम्भिक दौर में चूँकि पुरुष ही स्त्रियों की सुधारक की भूमिका था, अत: वह स्त्रियों की समस्याओं में उतना ही सुधार के पक्ष में था जितना की उसकी पारम्परिक अधिकारों और पितृसत्तात्मक मूल्यों में हस्तक्षेप न हो रहा हो| लेकिन इस दौर में स्वयं स्त्रियाँ अपनी समस्याओं पर विचार करने लगी थी; अपनी अच्छाई और बुराई के बारे में स्वयं सोच सकती थी| अत: इन सारी परिस्थितियों ने पुरुष समाज सुधारकों के अन्दर असुरक्षा की भावना को जन्म दिया| इसके कारण भी समाज सुधारकों ने स्त्रियों की स्त्रैण भूमिकाओं को पश्चिमी भौतिक श्रेष्ठता के बरक्स भारतीय अध्यात्मिक श्रेष्ठता के सन्दर्भ में स्त्री-प्रश्न को परिभाषित करने की कोशिश की| इसे पुरुषों के वर्चस्ववादी पितृसत्तात्मकता के सन्दर्भ में भी व्याख्यायित करने की जरूरत थी| इसी के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि समाज सुधारक अब स्त्रियों के उद्धारक की भूमिका में थे न कि शोषक की भूमिका में| वे स्त्रियों को पहले की तरह कठोरता से पारम्परिक मूल्यों और पितृसत्तात्मक अधीनता को स्त्रियों पर लागू नहीं कर सकते थे| अत: यह उनके हित में था कि वे स्त्री-प्रश्न को पश्चिमी भौतिक श्रेष्ठता के बरक्स भारतीय आध्यात्मिक श्रेष्ठता के सन्दर्भ में परिभाषित करें| या यूरोपियन बनाम भारतीय स्त्री के प्रतीकात्मक अलगाव को खड़ा करके स्त्री-चेतना के बढ़ते हुए प्रभाव को कम कर सके| आज भी जब स्त्रियों के सन्दर्भ में पहनावे या स्त्रियों के अधिकारों के सन्दर्भ में बात उठायी जाती है, तो क्या कारण है कि इसे पश्चिमी संस्कृति का नक़ल बता दिया जाता है और स्त्रियों पर नियंत्रण रखने की कोशिश की जाती|

इस तरह, स्त्रियों के अधिकारों को सीमित करने; उन्हें नियंत्रित करने की मंशा का विकास चाहे अनजाने में ही क्यों न हुआ हो लेकिन इसे स्त्रियों को नियंत्रित रखने के लिए एक महत्वपूर्ण हथियार के रूप में आज भी इस्तेमाल किया जाता है| क्या आज भी, जबकि

ब्रितानी यहाँ से चले गए है, यूरोपियन और भारतीय स्त्री के प्रतीकात्मक छवि को नहीं उठाया जाता है? क्या यह सच नहीं है कि इसे भारतीय सभ्यता के झूठे अहं को श्रेष्ठ साबित करने के और इसका प्रयोग स्त्रियों को नियंत्रित रखने के लिए किया जाता है| यहाँ 'एक तीर से दो निशान' वाली कहावत चरितार्थ की जाती है?

स्त्री-प्रश्न के सन्दर्भ में दूसरी बात यह है कि क्या कारण है की महिलाएं स्त्रैण भूमिकाओं को स्वयं ही महिमामंडित करती है? पहली बात तो यह कि स्त्रियाँ भी उसी समाज में गढ़ी जाती है जिस समाज में पुरुष का समाजीकरण किया जाता है| पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों के सहयोग के बिना नहीं चल सकता है| मिसाल के लिए अगर घर में सास अपनी बहू को प्रताड़ित करती है, तो इसे किस तरह से देखा जाए? क्या इसे यह कहकर परिभाषित किया जाएं कि 'स्त्रियाँ ही स्त्रियों की दुश्मन होती हैं'? फिर तो अगर ध्यान से देखा जाएं, तो पुरुष ही पुरुष का सबसे बड़ा दुश्मन है| फिर सिर्फ स्त्रियों के सन्दर्भ में ही इस तरह की कहावत मिलने का क्या औचित्य हो सकता है? व्यक्तिगत रूप से तो कोई भी किसी का दुश्मन हो सकता है|

दूसरी, जातिगत और सम्प्रदायिक भेदभाव की राजनीति स्त्री-विमर्श के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट है| भारतीय सन्दर्भ में जातिगत भिन्नता के आधार पर स्त्री-प्रश्न के मूल्यांकन की गुंजाइस बनी हुई है| इसे इस परिप्रेक्ष्य में भी देखने की जरूरत है|

तीसरी बात यह कि स्त्रियों पर जिस तरह का नैतिक दबाव बनया गया है; उससे भी स्त्रियाँ मानसिक और वैचारिक रूप से बेहद दबाव की स्थिति में रहती है| इस दौर की अधिकांश लेखिकाएं स्त्रैण भूमिकाओं को बगैर विरोध किये स्त्रियों की समस्याओं में सुधार पर बल देती है, जिससे उनके विचारों में विरोधाभाष देखने को मिलता है| लेकिन एक तरह से वो इन सबसे होते हुए अपने लिए भी जगह बनने का प्रयास करती हुई नज़र आती है|

इस दौर की महिला-आन्दोलन और स्त्री-लेखन के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि इस दौर में विशेष रूप से उच्चमध्यवर्ग की महिलाओं की समस्याओं को केंद्र में रखकर ही सुधार की बात

की जा रही थी| यह सच है कि इस दौर का महिला-आन्दोलन और महिला-लेखन में विशेष रूप से उच्च मध्यवर्ग की महिलाओं की समस्याओं को केंद्र में रखकर महिला सुधार आन्दोलन की प्रकृति पर विचार-विमर्श किया जा रहा था| शायद इसलिए कि यह महिलाओं की पहली और दूसरी पीढ़ी थी जो शिक्षा प्राप्त करने में सफल हुई थी| इनमें से अधिकांश महिलाएं उच्चमध्य वर्गीय परिवार और स्वतंत्रता-आन्दोलन में सक्रिय नेताओं की माँ, पत्नी, बहन और बेटियां थी| ऐसी स्थिति में अगर महिला-आन्दोलन और स्त्री-प्रश्न विशेषरूप से उच्च मध्य वर्ग की महिलाओं की समस्याओं की समस्याओं से ही सम्बन्धित था, तो यह विशेष आश्चर्य की बात नहीं है| दुःख की बात जरूर है| लेकिन 1920 के बाद के महिला-लेखन में या महिलाओं से सम्बन्धित रचनाओं में; सामाजिक सुधार से सम्बन्धित सुधार कार्यों में निम्न वर्ग और मजदूर वर्ग से सम्बन्धित समस्याओं पर कम मात्रा में ही सही लिखा जाने लगा था| महादेवी वर्मा स्त्रियों की समस्याओं से सम्बन्धित 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में उच्चमध्य वर्ग की महिलाओं को केंद्र में रखकर ही विचार करती है, लेकिन अपने रेखाचित्र-संस्मरण 'स्मृति की रेखाएँ' में विशेषरूप से समाज के बेहद सामान्य व्यक्तियों को अपने लेखन का विषय बनती है| महादेवी वर्मा जिस आत्मीयता और संवेदनशीलता से 'मुन्नू' की दुबरी बहु, बिबिया, गुंगिया इत्यादि का चित्रण करती है वह अपने आप में अतुलनीय है| कमला देवी चौधरी अपनी कहानी 'श्रमी की अभिलाषा' और 'प्रायश्चित' में जिस सामाजिक यथार्थता के साथ निम्न वर्ग की स्त्रियों के दोहरे शोषण का चित्रण करती है वह आज के दलित नारीवाद के प्रसंग में देखा जा सकता है| इसी तरह हीरादेवी चतुर्वेदी अपनी एकांकी 'माटी की मूरत' में धनी घरों में काम करने वाली गरीब घर की स्त्री का शोषण किस तरह से किया जाता है, तथा 'शंखनाद' में मजदूर आन्दोलन को केंद्र में रखकर मार्क्सवादी विचारधारा के आलोक में उनकी समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास किया गया है| चेतना के स्तर पर भी ये रचनाएँ काफी सराहनीय है| चंद्रवती जैन भी अपनी कहानी 'झींकती भिखारिन' में भीख मांगकर जीवन यापन करने वाली 'झींकती' भिखारिन और सूरदास के सम्बन्धों के आलोक में पितृसत्तात्मक वर्चस्व को रेखांकित करती है| कहने का तात्पर्य यह है कि इस दौर की

रचनाओं में निम्नवर्ग से सम्बन्धित समस्याएं भी देखने को मिलती है| जिसको प्रकाश में लाने और मूल्यांकन करने की जरूरत है|

इस दौर में स्त्रियों की समस्याओं से सम्बन्धित बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकशित की जाती है| उन्नीसवीं शताब्दी के उरातार्द्ध में पुरुष समाज सुधारकों और साहित्यकारों के सम्पादन में निकलने वाली स्त्रियोपयोगी पत्रिकाओं से बहुत कुछ मामलों में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्त्रियों के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिकाओं या कुछ पुरुषों के सम्पादन में भी निकलने वाली पत्रिकाओं का स्वरूप स्त्री-प्रश्न की दृष्टि से कुछ बुनियादी फर्क रखता है| हिंदी-क्षेत्र में विशेषरूप से भारतेंदु हरिश्चंद के सम्पादन में निकलने वाली हिंदी की पहली स्त्रियोपयोगी पत्रिका 'बालाबोधिनी' जिस तरह से स्त्री-शिक्षा का घरेलूकरण और आदर्शीकरण करती है, शायद ही कोई और साहित्यिक पत्रिका इस तरह से स्त्री-शिक्षा का घरेलूकरण करने में सफल हुई हो| वैसे तो स्त्रियों की शिक्षा का अतिआदर्शीकरण उस दौर की खास विशेषता थी| लेकिन 'बालाबिधिनी' ने जिस सफलता के साथ प्रतीकात्मक, मूक और बगैर किसी प्रतिवाद के पितृसत्तात्मक मूल्यों को आत्मसात करने वाली स्त्री का निर्माण किया है, वह अपने आप में एक मिसाल है| हिंदी में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्त्रियों से सम्बन्धित जो भी पत्रिकाएं निकलती है, उसमे भी स्त्रैण भूमिकाओं का आदर्शीकरण किया गया है लेकिन इसके साथ ही स्त्रियाँ भी एक व्यक्ति के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करती हुई नजर आती है| 'गृहलक्ष्मी', 'स्त्री-दर्पण', और विशेषरूप से 'चाँद' में स्त्रियाँ अपने प्रति हो रहे अन्याय का प्रतिकार करने वाली के रूप में देखी जा सकती है| पत्रिकाओं ने स्त्रियों को प्रतीकात्मक छवि से बाहर निकलकर एक व्यक्ति के रूप में उनकी प्रतिष्ठा करने में सहायता की| पत्रिकाओं ने स्त्रियों का राजनीतिकारण करने में भी मुख्य भूमिका का निर्वाह किया है|

1930 के बाद स्त्रियों की चेतना में जो सबसे महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलता है और जिसे 'चाँद' के स्त्रियों की समस्याओं में संतोषजनक परिवर्तन न होने का एक प्रमुख कारण भारतीय समाज की संरचना का पितृसत्तात्मक और जातिवादी होना भी है| अत: पुरुषों की वर्चस्ववादी प्रवृति को ध्यान में रखते हुए स्त्री-प्रश्न पर मूल्यांकन किया गया है|

स्त्री-पुरुष की भाषिक संरचना समाज में स्त्री और पुरुष की हैसियत को रेखांकित करता है| नारीवादी अध्ययन की दृष्टि से किसी रचना में भाषिक संरचना का महत्व उसके बाहरी सौन्दर्यबोध से नहीं बल्कि स्त्री के भावबोध से है| स्त्री-लेखन की भाषिक संरचना रचना के सौन्दर्य को नहीं, स्त्री के जीवन के संघर्षमय पक्ष को उजागर करता है| रचना का प्रवाहमान होना, स्त्री के संघर्ष को दर्शाता है तो लय का टूटना और चलना स्त्री के टूटने और जुड़ने की कहानी को बया करता है|

सबसे अहम सवाल जो इस विषय पर शोध करने के दौरान, मुझे काफी चुनौतीपूर्ण लगा वह यह है कि क्या इस दौर की स्त्रियों को नारीवादी माना जा सकता है? जबकि यह प्रकट है कि इस दौर की स्त्रियों को नारीवादी मानने से इंकार किया जाता रहा है| क्या नारीवादी होने और मानने की कुछ विशेष शर्ते है, जिस आधार पर किसी स्त्री को नारीवादी घोषित किया जा सकता है? या उन विशेष परिस्थितियों और चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए नारीवाद का मूल्यांकन किया जाए और इस आधार पर स्त्री-लेखन का सही मूल्य आंका जाए|

नारीवादी होने की कोई शर्त नहीं होती बल्कि नारीवादी होने के लिए संघर्ष की जरूरत जरूर बनी रहती है| इस दौर की लेखिकाएं संघर्षों से जूझते हुए आगे बढ़ने का साहस करती है| अगर ऐसा नहीं होता तो वह उस कलम को नहीं उठती, जिसे उठाने की इजाज़त उसे नहीं थी| अगर वो नारीवादी नहीं होती तो वह उस घर की चौखट को लांघने का दु:साहस नहीं करती जिसकी किवाड़े उसे बाहर कदम रखने की इजाजत नहीं देती है|| अगर वो नारीवादी नहीं होती तो वह उन झोरोखे से झाँकने का प्रयास नहीं करती, जहाँ खड़ा होना उसके लिए नामुमकिन बना दिया गया था| अगर वो नारीवादी नहीं होती तो आवाज नहीं उठती जिसका तेज हंसना और ऊची आवाज में बोलना भी गुनाह माना जाता हो| नारीवाद कोई ऐसा कपड़ा नहीं है, जिसे पहनकर कोई नारीवादी दिखने लगता हो| नारीवादी तो उन छोटी-छोटी पाबंदियों के खिलाफ लड़ने का नाम है, जिससे उस दौर की लेखिकाएं लड़ रही थी| सुमित्राकुमारी चौहान की नायिकाएं अनिच्छापूर्ण वैवाहिक सम्बन्धों सेएक स्वतंत्र व्यक्ति बनने के लिए लड़ रही थी, तो सुभद्रा कुमारी चौहान की नायिकाएं पुरुषों से

मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए संघर्ष कर रही थी| शिवरानी देवी की नायिकाएं कुलीनता से लड़ते-लड़ते मारी जाती है| कमला देवी चौधरी और चंद्रवती जैन की नायिकाएं समज के दोहरे पितृसत्तात्मक रवैये से खुद को बचाए रहने की जद्दोजहद करती है तथा उच्च और निम्न वर्ग के पुरुषों की पितृसत्तात्मक मानसिकता को उजागर करती है|

अंतर्विरोधों से भरे इस दौर में लेखिकाओं का विभिन्न मोर्चों पर –चाहे वह साहित्यक मोर्चों पर डटे रहने की बात हो, चाहे पारिवारिक घेरेबंदी को तोड़ने की बात, लेखिकाएं सभी जगह अपने लिए जगह बनती है| यह जगह बनाने की जद्दोजहद ही नारीवादी होने की तरफ उतरोतर उन्हेंअग्रसर करता है| उनका संघर्ष आने वाली पीढ़ियों के लिए एक ऐसी विरासत छोड़ जाता है कि उसे अपने लिए लड़ना-संघर्ष करना, सिखने की जरूरत नहीं पड़ी बल्कि वो उन अधिकारों को पाने की कोशिश करती है, जो उनकी पूर्वजों ने उनके लिए लड़कर बनाया था|

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि इस दौर का महिला-लेखन इस दौर में उठाए गए स्त्री-प्रश्न और उसके अंतर्विरोधों से लड़कर अपने लिए जगह बनाने में काफी हद तक कामयाब होता है| आने आने नारीवादी स्वरुप की रुपरेखा को मजबूत आधार प्रदान करने में इस दौर का लेखन का योगदान बेहद उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है|

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत :

कहानी संकलन:

- उषादेवी मित्रा, सांध्य-पूरबी, रामनरायण लाल, प्रयाग, १९४८
- उषादेवी मित्रा, मेघ-मल्लार, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९४६
- उषादेवी मित्रा, नीम-चमेली, इंडियन प्रेस, प्रयाग
- उषादेवी मित्रा, आंधी के छंद, नवलकिशोर प्रेस, प्रयाग , १९३८
- उषादेवी मित्रा, महावर, नेशनल लिटरेचर कम्पनी, कलकत्ता, १९४१
- कमला चौधरी, उन्माद, साहित्य सेवा सदन, मेरठ, १९३४
- कमला चौधरी, पिकनिक, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३९
- चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, जवान मिट्टी, प्रतिभा प्रतिष्ठान प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९०
- तेजरानी पाठक, अंजलि, चाँद प्रेस लिमिटेड, चंद्रलोक, इलाहाबाद
- यशोदा देवी, भ्रम, लीडर प्रेस, प्रयाग, १९३३
- रामेश्वरी देवी, चकोरी, धूप छाँव, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
- शिवरानी देवी, कौमुदी, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३७
- शिवरानी देवी, नारी ह्रदय, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३२
- शारदा कुमारी देवी, गल्प विनोद, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद, १९२६
- सुमित्रा कुमारी सिन्हा, अचल-सुहाग, युग मंदिर, उन्नाव, १९३९
- सुमित्रा कुमारी सिन्हा, वर्षगांठ, युग मंदिर, उन्नाव,१९४२
- सुभद्रा कुमारी चौहान, सीधे-सादे चित्र, हंस प्रकाशन, १९४७
- सत्यवती मलिक, दिन-रात, अतरचंद कपूर एंड संस, दिल्ली,१९५५
- सत्यवती मलिक, दो- फूल, नालंदा प्रकाशन, बम्बई, १९४८
- सत्यवती मलिक, नारी ह्रदय की साध, राजपाल एंड संस, दिल्ली, १९६१
- सत्यवती मालिक, बैसाख की रात, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

- हीरादेवी चतुर्वेदी, उलझी-लड़ियाँ, वेलविडीअर प्रेस, इलाहाबाद, १९४९
- होमवती देवी, धरोहर, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, १९४६
- होमवती देवी, निःसर्ग, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, १९३९
- होमवती देवी, स्वप्न भंग, निष्काम प्रकाशन, मेरठ, १९४८
- होमवती देवी, अपना घर, गौतन बुक डिपो, मेरठ, १९५०
- श्रीमती चन्द्रवती ऋषभजैन, नीव की ईंट, जीवन कला मंदिर (साहित्य विभाग) सहारनपुर,१९४२

उपन्यास :

- उषादेवी मित्रा, नष्ट नीड़, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,१९८०
- उषादेवी मित्रा, जीवन की मुस्कान, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३९
- उषादेवी मित्रा, पिया, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३७
- उषादेवी मित्रा, पथचारी, नेशनल लिट्रेचर कंपनी, कलकत्ता, १९४०
- उषादेवी मित्रा, रागिनी, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन, इलाहाबाद, १९४९
- उषादेवी मित्रा, वचन का मोल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,१९३६
- तेजरानी पाठक, हृदय का कांटा
- ताराबाई भाग्यचक्र अथवा निराशप्रेमी, रघुवीरसिंह, इलाहाबाद, १९३१
- शैलकुमारी, उमा सुंदरी, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद, १९२६

जीवनी:

- शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, आत्मराम एंड संस, दिल्ली,२००६

एकांकी संग्रह :

- हीरादेवी चतुर्वेदी, रंगीन पर्दा, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

निबंध संग्रह :

- श्रृंखला की कड़ियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली, १९९५

संस्मरण / रेखाचित्र :

- उर्मिला देवी शास्त्री, कारगार (संस्मरण), रवि फाइन आर्ट प्रिंटिग वर्क्स, मोहन लाल रोड, लाहौर,१९३१
- महादेवी वर्मा, अतीत के चलचित्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, महादेवी साहित्य खण्ड ३(संपा. निर्मला जैन),१९६९

पत्र/पत्रिकाएं :

- चाँद : (१९२२-१९३८), मासिक, इलाहाबाद, संपा. रामरख सिंह सहगल
- गृहलक्ष्मी : (१९०९-२९), मासिक, इलाहाबाद, संपा. गोपालदेवी प्रभाकर (ठाकुर श्रीनाथ सिंह)
- माधुरी : १९२२-५०), मासिक, लखनऊ, संपा. दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पाण्डेय,
- मनोरमा : संपा. हीरादेवी चतुर्वेदी
- सुधा : (१९२७-)मासिक, लखनऊ, संपा. दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पाण्डेय, निराला, इलाचंद्र जोशी
- कल्याण : (१९२६-५०), मासिक, संपा. हनुमान प्रसाद पोद्दार
- दीदी : प्रधान संपा. श्रीमती चंद्रवती ऋषभजैन

सहायक ग्रन्थ सूची :

- अनुपमा रॉय (अनु. कमल नयन चौबे) नागरिकता का स्त्री-पक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,२०१७
- अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, १९९९
- अभय प्रसाद सिंह, संपा. भारत में राष्ट्रवाद, ओरियंट ब्लैकस्वान, प्रथम संस्करण, २०१४

- अभय कुमार दुबे (संपा), हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार, भाग,1 वाणी प्रकाशन, २०१४
- उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ता (अनुवादक विजय कुमार झा) ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, २०११
- एक अज्ञात हिन्दू औरत (संपा. डॉ. धर्मवीर), सिमंतनी उपदेश, वाणी प्रकाशन, २००६
- ए. आर. देसाई, भारतीय की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, १९७६
- एरिक हाब्सबाम, साम्राज्य का युग, संवाद प्रकाशन, २००९
- ऍम. एन. श्रीनिवास आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११
- ऍम. एन. श्रीनिवास (अनुवादक मधु वी. जोशी), भारत के गावं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
- एलीन मार्गन, (अनु. प्रकाश दीक्षित) नारी का अवतरण, संवाद प्रकाशन, मेरठ, २००९
- कांचा इल्लैया, (अनु. ओमप्रकाश वाल्मीकि), मैं हिन्दू क्यों नहीं, सदर्न अवेन्यु, कोलकाता, २००६
- गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता : एक विमर्श, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, २००६
- गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास : १९०० से १९५०, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
- चारु गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१२
- जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्युटर्स, २०११

- जाहिदा हिना, (अनु. शकील सिद्दीकी) : पाकिस्तानी स्त्री : यातना और संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
- जान स्टुअर्ट मिल, (अनु. युगांक धीर), स्त्री और पराधीनता, संवाद प्रकाशन, मेरठ, २००८
- जर्मेन ग्रीअर, मधु वी. जोशी, बधिया स्त्री, संवाद प्रकाशन, मुंबई, २००९
- जैनेन्द्र कुमार, नारी, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली,
- टी. वी. वाटमोर (अनु. गोपाल प्रधान), समाजशास्त्र : समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, २००४
- डॉ. बी. आर. अम्बेडकर (अनु. अनिल कुमार) हिन्दू नारी का उत्थान, गौतम बुक सेंटर, २००९
- डॉ. बी. भवदेव पाण्डेय, बंग महिला : नारी मुक्ति का संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००८
- डॉ. प्रणय कृष्ण, उत्तर-औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, लोकभारती प्रकाशन, २००६
- डॉ. सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००४
- डॉ. सुमन राजे, इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २०१२
- डॉ. वीरभारत तलवार, रस्साकशी : १९वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, २००१
- डॉ. वीरभारत तलवार, हिन्दू नवजागरण की विचारधारा सत्यार्थ प्रकाश : भारतीय उच्च अध्ययन संस्था, शिमला, २००१
- ताराबाई शिंदे (अनु. जुई पालेकर) : स्त्री पुरुष तुलना, संवाद प्रकाशन, मुंबई, २००२
- देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नई सोच, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, १९९६

- नीरा देसाई एवं उषा थककर, (अनु. सुभी धुसिया), भारतीय समाज में महिलाएं, नेशनल बुक ट्रस्ट , २०११
- पंडित गौरीदत्त (संपा. डॉ. पुष्प लाल सिंह) देवरानी जेठानी की कहानी (१८७०), रेमाधव पब्लिकेशन, ग़ाज़ियाबाद, २००६
- पंडिता रमाबाई (अनु. शम्भुनाथ जोशी), हिन्दू स्त्री का जीवन, संवाद प्रकाशन, २००६
- फ्रंचेस्का आर्सिनी (अनु. नीलाभ), हिंदी का लोकवृत्त (१९२०-१९४०) : राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११
- भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपा), बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया, संजीव कुमार (संकलन-संपादक)राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, २००९
- म. क. गाँधी, (अनु. काशीनाथ त्रिवेदी) : सत्य के प्रयोग, नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद, २०११
- मुकुट बिहारी वर्मा, स्त्री समस्या : हिंदी नवजागरण और स्त्री, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, २०१८
- मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट (अनु. मीनाक्षी), स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६
- मेरी ई. जॉन और जानकी नायर (संपा.) (अनु. अभय कुमार दुबे), कामसूत्र से कामसूत्र तक : आधुनिक भारत में सेक्सुअलिटी के सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- मैत्रेयी पुष्पा, खुली खिड़कियाँ, समसामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६
- राधा कुमार (अनु. एवं संपा.) रमाशंकर सिंह दिव्यदृष्टि, स्त्री संघर्ष का इतिहास (१८००-१९९०), वाणी प्रकाशन, २०११
- राधामोहन गोकुल जी, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, संवाद प्रकाशन, मुंबई, २००९
- रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद, २०११

- राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान, अभय कुमार दुबे (संपा.), पितृसत्ता के नए रूप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
- रणजीत अभिज्ञान और पूर्वा भरद्वाज (संपा.), जेंडर और शिक्षा रीडर भाग १ एवं २, निरंतर प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११
- रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००९
- रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, २००९
- रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा.) आज का स्त्री आन्दोलन, शब्द्संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११
- लेविस हेनरी मॉर्गन (अनु. और संपा. नरेश नदीम), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, २०१०
- विनोबा (संकलन त्रयी : मीरा भट्ट), नारी की महिमा, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी,
- विनोबा, स्त्री शक्ति, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी
- शहीद अमीन, ज्ञानेंद्र पाण्डेय (संपा.), निम्नवर्गीय प्रसंग, भाग १,२,३ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
- शेखर बंद्योपाध्याय, पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, २००९
- सच्चिदानंद सिन्हा (अरविन्द मोहन), जाति व्यवस्था मिथक, वास्तविकता और चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, २००६
- संजय गर्ग (संपा.), स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, समसामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१२
- साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा.), नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे

- सिमोन द बोउवार (अनु. प्रभा खेतान), स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, २००२
- सिमोन दी बोउवार (अनु. मनीषा पाण्डेय), स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है, संवाद, प्रकाशन, २००४
- सुजाता, बापू और स्त्री, सेवा संघ , वाराणसी, २०१२
- सुमित सरकार (अनु. सुशीला डोभाल), आधुनिक भारत (१८८५-१९४७), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१३
- सुमित सरकार (एन. ए. खान शाहिद), सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौतियां, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नईदिल्ली, २००१
- सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, २००८
- सुधा सिंह, मिला तेज से तेज, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, २००४
- सुधाकर पाण्डेय (संपा.), बंग महिला ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी